हिन्दी निबंधावली

(बी० ए० कक्षाओं के लिए)

बिहार विश्वविद्यालय-प्रकाशन

इंडियन प्रेस (पब्लिकेशंस), लिमिटेड,
इलाहाबाद

१९५५

विज्ञप्ति

१––इस संग्रह की विषय-सूची में जिन पाठों के सामने स्टार चिह्न (*) लगे हुए हैं, उन पर बिहार विश्वविद्यालय का सर्वाधिकार है। अतः विश्वविद्यालय की अनुमति के बिना उन्हें किसी संग्रह-ग्रंथ में छापने का अधिकार किसी को नहीं है।

२––बिहार विश्वविद्यालय निम्नलिखित लेखकों तथा प्रकाशकों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता है जिन्होंने अपनी रचनाओं को प्रस्तुत संग्रह में समावेश करने की अनुमति दी है:––

इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, बाबू गुलाब राय, श्री लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु', डा० नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र, डा० रामकुमार वर्मा, डा० रामखेलावन पाण्डेय, डा० ईश्वरदत्त, डा० देवराज, श्री नलिनविलोचन शर्मा, श्री विश्वमोहनकुमार सिंह, श्री कपिलदेव नारायण सिंह 'कपिल', श्री नवलकिशोर गौड़, श्री वीरेन्द्र श्रीवास्तव, श्री जैनेन्द्रकुमार, श्री जगन्नाथ प्रसाद मिश्र, श्री केशरीकुमार, श्री शिवबालक राय और श्री कृष्णनन्दन सहाय।

३––विश्वविद्यालय उन सज्जनों को भी अनेकानेक धन्यवाद देता है, जिन्होंने प्रस्तुत संग्रह के संकलन में सहयोग देने की कृपा की है।

———

विषय-सूची

(छ) **विविधवाद——**

———

नाटक

नाटक

संस्कृत में एक धातु 'नट्' है। 'नट्' धातु में अच् प्रत्यय लगाने से नट शब्द बना है, उसका अर्थ नाचनेवाला है। अर्थात् नटों का व्यवसाय नाचना है। नाट्य और नाटक शब्द भी 'नट्' धातु ही से बने हैं। ये दोनों शब्द नटों के कर्म-व्यवसाय के बोधक हैं। अर्थात् नटों का कर्म नाट्य अथवा नाटक कहलाता है। इससे यह सूचित हुआ कि नाट्य-शास्त्र में नटों से सम्बन्ध रखनेवाले कार्यों अथवा भावों का वर्णन होना चाहिए। यह यथार्थ है। इस शास्त्र में नट, नटी और उनके सहयोगियों के कार्य-कलाप से सम्बन्ध रखनेवाली बातों ही का वर्णन है।

नाटक का दूसरा नाम रूपक भी है। नाट्य-शास्त्र के आचार्यों ने इस दूसरे ही नाम का अपने ग्रन्थों में विशेष प्रयोग किया है। नाटक में प्रत्येक पात्र किसी दूसरे का रूप धारण करके उसी के अनुसार बर्ताव करता है। अर्थात् यदि दुष्यन्त का वर्णन आता है तो उस पर दुष्यन्त के रूप का आरोप होता है और दुष्यन्त का रूप धारण करके जैसे हाव-भाव दुष्यन्त ने किये होंगे वैसे ही हाव-भाव वह भी, अपने को दुष्यन्त ही मानकर, सबको दिखलाता है। ऐसा करने में एक व्यक्ति पर दूसरे व्यक्ति का आरोप होता है। इसीलिए, नाट्य का दूसरा नाम रूपक रखा गया है। रूपक का लक्षण 'रुपारोपात्तु रूपकम्' है अर्थात् जिसमें रूप का आरोप किया जाता है वह रूपक है।

काव्य दो प्रकार के हैं एक श्रव्य, दूसरे दृश्य। जिसमें कवि किसी वस्तु का स्वयं वर्णन करता है वह श्रव्य काव्य है। अर्थात्, जिसे सुनने से आनन्द मिलता है उसे श्रव्य काव्य कहते हैं। रघुवंश, किरात, नैषध,

रामायण, सतसई आदि श्रव्य काव्य हैं। जिसमें कवि स्वयं कुछ नहीं

कहता, जो कुछ उसे कहना होता है उसे वह उन बातों से सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्तियों से कहलाता है उसे दृश्य काव्य कहते हैं। अर्थात् जिसे देखकर आनन्द मिलता है वह दृश्य काव्य है। शाकुन्तल, रत्नावली, विक्रमोर्वशीय, सत्य हरिश्चन्द्र और नील देवी आदि दृश्य काव्य हैं।

किसी वस्तु का वर्णन सुनने से जितना आनन्द मिलता है उससे बहुत ही अधिक उसे प्रत्यक्ष देखने से मिलता है। देखने और सुनने में बड़ा अन्तर है। अतएव जिस काव्य के द्वारा किसी कवि की कविता का रस नेत्र द्वारा साक्षात् पान करने को मिले वही काव्य श्रेष्ठ है। इसीलिए श्रव्य काव्यों की अपेक्षा दृश्य काव्यों की महिमा अधिक है। कालिदास की जो इतनी कीर्त्ति देश-देशान्तरों में फैली है वह उनके दृश्य काव्य ही की कृपा का फल है। यदि सर विलियम जोन्स अभिज्ञान-शाकुन्तल का अँगरेजी में अनुवाद न करते तो रघुवंश और मेघदूत आदि के द्वारा कालिदास का यश ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और जर्मनी आदि विदेशी देशों में अब तक उतना न फैलता जितना इस समय फैला हुआ है। कविकुल-गुरु के नाटकों ही ने उनकी महिमा को विशेष बढ़ाया है।

रूपक अर्थात् नाटक में नट दूसरे का रूप धारण करके उसके आचरण का अनुकरण करता है। इस अनुकरण का नाम अभिनय है। अभिनय, संस्कृत में, 'नी' धातु के पहले 'अभि' उपसर्ग और पीछे, 'अच्' प्रत्यय लगाने से बना है। 'नी' का अर्थ 'ले जाना' और 'अभि' का अर्थ 'चारों ओर' है। अर्थात् जिससे किसी कार्य का अनुकरण अंग से, बाणी से, वेश-भूषा से अथवा मनोवृत्ति-सूचक शारीरिक चिह्नों से सब ओर दिखलाया जाय उसे अभिनय कहते हैं। नाटक में हर्ष, शोक आदि मानसिक विकार और हँसना, रोना, चलना, फिरना, कहना, सुनना आदि शारीरिक विकार किंवा कार्य, सब, अभिनय द्वारा तद्वत् दिखलाये जाते हैं। अभिनय में मनुष्य की सब अवस्थाओं और उसके सब विकारों का अनुकरण करके देखनेवालों को उनका प्रत्यक्ष अनुभव कराया

जाता है। ये अभिनय इस प्रकार किये जाते हैं कि दर्शकों को यह नहीं प्रतीत होता कि वे खेल देख रहे हैं। यदि ऐसा न हो तो यह समझना चाहिए कि अभिनय ठीक नहीं हुआ।

नट शब्द के धात्वर्थ का विचार करने से जान पड़ता है कि पहले-पहल इसमें जब नटों ने खेल आरम्भ किया तब वे केवल नाचते ही थे। 'अभिनय' में जिन-जिन क्रियाओं का समावेश होता है वे सब क्रियाएँ उस समय प्रचलित न थीं। यदि होतीं तो शायद नट के लिए कोई दूसरा ही नाम दिया जाता। और यही ठीक भी जान पड़ता है, क्योंकि आदि में सभी कलाएँ अपूर्ण रहती हैं, उनकी उन्नति धीरे-धीरे होती है।

इसका पता लगाना कठिन है कि किस समय से अभिनय ने अपना पूर्ण रूप धारण किया। नाट्य-शास्त्र के आचार्य भरत मुनि हैं। वे बहुत प्राचीन हैं; परन्तु यह नहीं निश्चित कि वे कब हुए। उनके भी पहले नाटक लिखे जा चुके थे। यदि ऐसा न होता तो भरत को नाट्य-शास्त्र-सम्बन्धी सूत्र न बनाने पड़ते। उन्होंने एक बड़ा ग्रन्थ लिखा है। उसमें उन्होंने नाट्यशास्त्र के लक्षण विस्तारपूर्वक दिये हैं। जिस प्रकार भाषा के अनन्तर व्याकरण बनता है, उसी प्रकार लक्ष्य-ग्रन्थों के अनन्तर लक्षण ग्रन्थ बनते हैं। इसीलिए यह कहना निर्मूलक नहीं कि भरत के पहले अनेक नाटक बन चुके होंगे। उन नाटकों में नाट्य-कला के दोष देखकर उस शास्त्र के लक्षण लिखने की इच्छा भरत को हुई होगी। अर्थात् भरत के बहुत पहले ही भरतखण्ड में नाटक ग्रन्थ बन चुके थे और उनका प्रयोग भी होता था। व्याकरण के आचार्य पाणिनि भरत से भी पुराने हैं। भाषा उत्पन्न होने पर पहले व्याकरण की आवश्यकता होती है, नाटक इत्यादि पीछे बनते हैं। अतएव यह अनुमान अनुचित नहीं कि पाणिनि मुनि भरत से पहले हुए हैं। यदि न भी पहले हुए हों तो वे कुछ आज के तो हुई नहीं, प्राचीन अवश्य हैं। उन्होंने अपने व्याकरण में नाट्यशास्त्र के दो आचार्यों के नाम लिखे हैं। शिलालिन् और

कृशाश्व। इससे यह सिद्ध है कि पाणिनि और भरत के पहले भी नाट्य-

कला का प्रचार इस देश में था। प्रचार ही नहीं, किन्तु उसके लक्षण-ग्रन्थ तक बन गये थे। नाट्य-कला की आदिम अवस्था में नट केवल नाचते ही थे, ठीक अभिनय नहीं करते थे। परन्तु शिलालिन् और कृशाश्व के समय में नाट्य-कला की उन्नति हो चुकी थी। उस समय अंग से, वाणी से और वेश इत्यादि से पूरा अभिनय होने लगा था। इसका प्रमाण पतञ्जलि मुनि का व्याकरण महाभाष्य है। पाणिनि के सूत्रों की व्याख्या करते समय पतञ्जलि कहते हैं कि नट गाते थे और दर्शक उनका गाना सुनते जाते थे। यही नहीं, वे और भी कुछ कहते हैं। वे लिखते हैं कि कृष्ण के द्वारा कंस का वध किया जाना और विष्णु के द्वारा बलि का छला जाना भी रंगभूमि में दिखलाया जाता था। इन प्रमाणों से सिद्ध है कि ईसा के बहुत पहले नाट्य-कला का पूरा-पूरा प्रचार इस देश में था। अतएव जो लोग यह कहते हैं कि भारतवर्ष ने और देशों की सहायता से अपनी नाट्य-कला की उन्नति की वे भूलते हैं। डेढ़ दो हजार वर्ष के लगभग तो कालिदास ही को हुए हुआ। उसके समय में नाट्य-कला परिपक्व दशा को पहुँच चुकी थी।

नाट्यकला का उल्लेख पुराणों में भी है। हरिवंश पुराण के ९३वें अध्याय में लिखा है कि व्रज नाम के नगर में प्रद्युम्न आदि ने 'कौवेर-रम्भाभिसार" नाटक खेला था। उस नाटक में जिसने जिसका रूप लिया था उसका भी वर्णन है। जो लोग पुराणों को वेदव्यास-कृत मानते हैं और उनको अत्यन्त प्राचीन समझते हैं उनके लिए तो कुछ कहने की आवश्यक्ता ही नहीं। परन्तु जो ऐसा नहीं समझते उनको हरिवंश के प्राचीनत्व का प्रमाण दरकार होगा। अतएव उनको बंकिम बाबू के कृष्ण-चरित्र का प्रमाण देते हैं। यहाँ उन्होंने सिद्ध किया है कि हरिवंश पुराण महाभारत से थोड़े ही दिन पीछे बना है। अतएव पुराणों में नाटकों के खेले जाने का पता लगाने से यही मानना पड़ता है कि यह कला हम लोगों ने बहुत प्राचीन समय से सीखी थीं।

भरत ने अपने ग्रन्थ में शिलालिन् और कृशाश्व आदि आचार्यों

का नाम तो नहीं दिया; परन्तु उनके लिखने के ढंग से यह सूचित होता है कि उनके पहले नाट्य-शास्त्र-सम्बन्धी और कई ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। यदि ऐसा न होता तो भरत मुनि अपने सूत्रों को इतना सर्वांग-सुन्दर शायद न बना सकते और सूक्ष्म बातों का विवेचन भी उसमें न कर सकते। सुना जाता है कि नाट्य-कला को भरत ने ब्रह्मा से सीखा था। यदि ब्रह्मा ने पहले-पहल यह कला भरत को सिखलाई तो कृशाश्व आदि ने उसे किससे सीखा? वे तो भरत से भी पहले हुए जान पड़ते हैं। परन्तु इन प्राचीन बातों पर तर्क-वितर्क करते बैठना व्यर्थ कालक्षेप करना है। अतएव हमारे लिए इतना ही जानना बस है कि नाट्य-कला बहुत ही प्राचीन कला है और उसके कई आचार्य हो गये हैं, जिनमें से केवल भरत मुनि का सूत्र-बद्ध ग्रन्थ इस समय उपलब्ध है। भरत के ग्रन्थ के अनन्तर चाहे जितने ग्रन्थ नाट्य-शास्त्र-सम्बन्धी बने हों, परन्तु इस समय एक ही और प्रामाणिक ग्रन्थ इस विषय का पाया जाता है। इसका नाम दशरूपक है। इसे धनञ्जय नाम के कवि ने ग्यारहवें शतक में लिखा था। इसमें नाट्यशास्त्र का बहुत ही अच्छा विवरण है। यह ग्रन्थ सर्वमान्य है। संस्कृतज्ञ विद्वान् इसे विशेष प्रामाणिक मानते हैं। इसके अतिरिक्त काव्य-प्रकाश, काव्यादर्श, सरस्वतीकण्ठाभरण और साहित्यदर्पण आदि में भी नाट्य-शास्त्र का संक्षिप्त वर्णन है।

आरम्भ में अप्सराएँ और गन्धर्व आदि नाटकों का अभिनय देवताओं के सम्मुख करते थे। उन्हीं का अनुकरण मनुष्य करने लगे और देवालयों में अभिनय होने लगा। पहले केवल नाच था, फिर नाच के साथ गाना भी होने लगा, और अन्त में क्रम-क्रम से अभिनय ने अपना रूप धारण किया। प्राचीन समय में देवताओं के उत्सवों पर नाटकों का प्रयोग होता था। वंगदेश की 'यात्रा' और इन प्रान्तों की 'रामलीला' पुराने नाटकों का चिह्न जान पड़ती है। धीरे-धीरे राजाओं की रंगशालाओं में, मनोरंजन और उपदेश के लिए, नाटकों का खेल होने लगा। इस प्रकार क्रम-क्रम से

नाट्य-कला ने उन्नत रूप धारण किया और उसका देशव्यापी प्रचार

हुआ। परन्तु बम्बई, कलकत्ता आदि नगरों में बने हुए, थियेटर (नाट्य-शाला) के समान सर्वसाधारण के लिए कोई नाट्य-मन्दिर, इस देश में, पहले कभी न था।

जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, नाटक का व्यापक अर्थ नकल (अनुकरण) करना है। किसी के इशारों को, किसी की बातों को और किसी के कार्यों को तद्वत् करके अथवा कह के बतलाना नाटक कहलाता है। मनुष्य में स्वभाव ही से अपने मन के विचारों को वाणी से अथवा अंग-भंगी से प्रकट करने की इच्छा उत्पन्न होती है। उनके प्रकट करने की रीति को वह औरों के सहवास से सीख लेता है। यह बात सभ्य और असभ्य सभी देशों में पाई जाती है। नकल, अर्थात् अनुकरण करने में आनन्द भी मिलता है। इसीलिए छोटे-छोटे लड़के दूसरों का अनुकरण करके हँसते और आनन्दित होते हैं। अफ्रीका के असभ्य हब्शी और अमेरिका के असभ्य इंडियन लोगों को भी अनुकरण करना आता है। अनुकरण करना मनुष्यों में स्वाभाविक है। इस अनुकरण का बीज मनुष्य की इच्छा में रहता है। उस इच्छा को हम चाहे मानुषिक कहें, चाहे ईश्वरोत्पादित कहें—इच्छा अथवा मन से ही अनुकरण करने की भावना उत्पन्न होती है; और अनुकरण ही नाटक है। मनुष्य जाति में अनुकरण सर्वत्र प्रचलित है। परन्तु इस अनुकरण की गणना नाटक में होने के लिए अनुकरण से उत्पन्न हुए कार्यों को भाषा के साहित्य में कोई रूप प्राप्त होना चाहिए। अनुकरण को कोई रूप मिले बिना उसे साहित्य में स्थान नहीं मिल सकता, अतएव वह साहित्य की शाखा भी तब तक नहीं हो सकता। ऐसी अनेक मनुष्य-जातियाँ पृथ्वी पर हैं जिनमें अनुकरण बराबर होता है; परन्तु वह अनुकरण नाटक के रूप में नहीं होता। इसीलिए उनमें नाट्य-साहित्य का अभाव है।

अनुकरण को नाटक का नाम प्राप्त होने के लिए नियमों की आवश्यकता होती है। जिन नियमों के अनुसार अनुकरण किया जाता है उन नियमों के समुदाय ही को नाट्य-शास्त्र कहते हैं। इस अनुकरण का

पर्यायवाचक शब्द अभिनय बहुत व्यापक शब्द है। नाटक के कार्यों के सूचक सब भाव इस शब्द में बँधे हुए हैं। इसके उच्चारण करते ही रंगभूमि में अनुकरण करने की सब रीतियों का उदय मन में तत्काल हो जाता है। अतएव अनुकरण के स्थल में अभिनय शब्द का ही उपयोग उचित है। भरत और धनञ्जय ने अपने-अपने ग्रंथों में अभिनय के नियमों का विस्तृत वर्णन किया है। इन नियमों में से भी कोई-कोई नियम बहुत ही सूक्ष्म हैं। वे ऐसे हैं कि नाटककार कवियों ने उनका बहुधा उल्लंघन किया है। स्थूल नियमों में से भी, देश-दशा और समय के परिवर्तन के कारण, बहुतेरे नियम यदि आजकल काम में न लाये जायँ तो कोई हानि नहीं। सच तो यह है, नियम पीछे बनाये गये हैं, नाट्य-कला का जन्म पहले ही हुआ है। अनुकरण करने की रीतियाँ अनन्त हैं। कोई यह नहीं कह सकता है कि अमुक ही रीति से अनुकरण हो सकता है। अतएव मानसिक विकारों के परम ज्ञाता प्रतिष्ठित कवि अपनी अनन्त अनुकरण-शीलता के बल से यदि नाट्यशास्त्र के नियमों का उल्लंघन भी कर जायँ तो कोई आश्चर्य अथवा दोष की बात नहीं। नाट्यशास्त्र के नियमों को पढ़कर ही कोई अच्छा नाटककार नहीं हो सकता। अच्छा नाटककार वही हो सकता है जो अच्छा कवि अथवा अच्छा लेखक है और अपनी लिपिबद्ध वाणी में मानसिक विकारों का सजीव चित्र खींच सकता है। यदि ऐसे कवि अथवा लेखक ने नाट्यशास्त्र पढ़ा है तो और भी अच्छा है, परन्तु यदि नहीं भी पढ़ा है--नाटक की स्थूल ही प्रणाली वह जानता तो भी उसके रचित नाटक से मनुष्यों का अवश्य मनोरंजन होगा। अनुकरण करने की शक्ति का होना उसमें प्रधान है। इस शक्ति के बिना भरत और धनञ्जय, अरिस्टाटल और ल्यसिंग, कार्नील और ड्राइडन बहुत कम काम दे सकते हैं।

अनुकरण को उत्पन्न करनेवाली इच्छा अथवा शक्ति से ही नाटककार का कार्य आरम्भ होता है। इस शक्ति के बल से नाटककार के मन में पहले एक भाव उत्पन्न होता है। भाव के अनन्तर विषय की उत्पत्ति

होती है। अतएव भाव ही नाटक का बीज है। भाव ही पर विषय अवलम्बित रहता है। शाकुन्तल की कथा उसकी सामग्री-मात्र है। उसके अनुकरण द्वारा प्रत्यक्ष दिखलाने का भावोदय ही अभिज्ञान-शाकुन्तल का प्रधान कारण है । भावोदय होने पर सामग्री, अर्थात् विषय कवि के इच्छानुकुल घट-बढ़ सकता है। यदि कवि चाहे तो सारे संसार को वह अपने नाटक का विषय कर सकता है। नाटक की सामग्री को नाटककार आचार-व्यवहार के अनुसार, रूढ़ि के अनुसार, मनुष्य की रुचि के अनुसार और स्वयं अपने आग्रह अथवा अनुभव के अनुसार न्यूनाधिक किंवा परिवर्तित अवस्था में दिखला सकता है। परन्तु विषय अर्थात् सामग्री का कार्य में परिणत होना अर्थात् अनुकरण द्वारा भली भाँति दिखलाया जाना, नाटककार के लिए सबसे अधिक आवश्यक काम है। अपूर्ण और अनुचित अनुकरण अभिनय-दर्शकों को कदापि अच्छा नहीं लगता । यथार्थ अभिनय होने के लिए नाटककार को मनुष्यमात्र की चित्तवृत्ति से परिचित होना चाहिए--सब प्रकार के व्यवहार, सब प्रकार की मानसिक चेष्टाएँ सब प्रकार की बातचीत और सब प्रकार की रसज्ञता का ज्ञान उसे होना चाहिए। जो रूप जो व्यक्ति धारण करे उसे उसी का वेश, उसी की चाल, उसी की वाणी, उसी की चेष्टा और उसी की मनोवृत्ति का यथार्थ, यथातथ्य, जैसे का तैसा, अभिनय करके दिखलाना चाहिए। यह अनुकरण ऐसा उत्तम होना चाहिए कि देखनेवाले के मन में यह भाव न उदित हो कि वे नाटक देख रहे हैं। उन्हें यही भासित होना चाहिए कि वे अभिनय की नई घटना का प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं। इसकी सिद्धता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि देखनेवाले अभिनय करनेवाले ही के से विचार प्रकट करने लगें। अर्थात् अभिनयकार को कारुणिक अभिनय करते हुए देखनेवाले की आँखों से आँसू गिरने लगें। उसे भयभीत हुआ देख वे भी भयभीत हो जायँ और उसके हास्यरस-पूरित अभिनय को देख दर्शक भी हँसने लगें। इन बातों का होना तभी सम्भव है जब कवि मनुष्य जाति के मानसिक विकारों से पूरा पूरा परिचित होकर उनका अनुभव स्वयं अपने मन में

कर सकता है और उसके साथ ही सब प्रकार के व्यवहारों में दक्ष भी होता है। क्योंकि, इन्हीं बातों को कवि व्यक्ति-विशेषों के द्वारा अभिनय-पूर्वक दिखलाता है। अतएव नाटककार होना बहुत कठिन काम है।

मनोरंजकता का प्रधान कारण रस है। रस की सिद्धि अभिनय पर अवलम्बित रहती है। यदि अभिनय अच्छा न हुआ तो रस-हानि हो जाती है, और रसहानि होने से नाटक ही सत्यानाश हो जाता है। रस-हानि न होने के लिए अभिनय द्वारा दिखलाई गई वस्तु का यथार्थ अनुकरण होना चाहिए। जीवन की घटनाएँ, इतिहास में वर्णन की गई बातें, नाटक के विषय से सम्बन्ध रखनेवाली कथाएँ, ये सब, एक प्रकार की प्रचण्ड लहरें हैं। इन सबको अस्त-व्यस्त न बहने देना चाहिए। इन्हें एक श्रृंखला से बाँधकर यथास्थान रखना और अपेक्षानुसार, जिसका जब समय आवे, उठने देना चाहिए। अर्थात् अनेक बातों को एक श्रृंखला से बाँधकर यथाक्रम, यथासमय और यथोचित रीति पर उनका अभिनय करना चाहिए। जिस वस्तु का अभिनय होता है उसके सब अवयव जब यथास्थान रखकर उचित शब्द, उचित वेश-भूषा और उचित अंग-भंगी-द्वारा दिखाये जाते हैं तभी देखनेवालों को आनन्द आता है।

अभिनय पूर्ण होना चाहिए। उसका अपूर्ण रह जाना दोष है। इतिहास-लेखक किसी बात को अपूर्ण भी रख सकता है, क्योंकि वह सर्वज्ञ नहीं है, परन्तु नाटककार एक प्रकार से सर्वज्ञ है। जो बात उसके मन में आती है और जिसे वह अभिनय-द्वारा दिखलाना चाहता है उसका कारण, उसका कार्य और उसके सब अंग उसे विदित रहते हैं। अतएव उसका यह काम है कि अभिनीय वस्तु वह यथाक्रम सम्पूर्ण रूप में दिखलावे, उसका कोई अंग रह न जाने पावे। अर्थात् जिस वस्तु का अभि-नय हो उसके विषय की कोई बात दर्शकों से छिपी न रहे। सब बातों के गुण-दोष और उनके द्वारा प्राप्त हुए भले-बुरे फल, सब प्रत्यक्ष हो जायँ। इस प्रत्यक्षीकरण का नाम अनुकूलता अथवा कार्य-क्षमता है।

—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

हिन्दी नाटक

अभिनय की प्रेरणा मनुष्यों में ईश्वरप्रदत्त है। अपनी बातचीत में भी बहुधा हम अंगज अनुकरण की चेष्टा करते हैं। लड़के अपने गुरुजनों की नकल करते हैं। नाटक का बीज तो उसी दिन बोया गया, जिस दिन आदि-पुरुष ने अपनी प्रेयसी से अपने शिकार का सांगोपांग वर्णन जोरदार शब्दों और अंगों की भावभंगिमा से किया।

भरत ने नाटक की उत्पत्ति दैवी बताई है। उनके अनुसार ब्रह्मा ने ऋग्वेद से कथोपकथन, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय-कला और अथर्ववेद से रस लेकर देवताओं के मनोरंजन के लिए इसे निर्मित किया। विश्वकर्मा ने रंगमंच का निर्माण किया; शंकर ने ताण्डव, पार्वती ने लास्य नृत्य बतलाये और विष्णु ने चार नाट्य-शैलियाँ बताईं। वास्तब में इसका अर्थ यही है, कि बीजरूप में नाटक के उपकरण वेदों में वर्त्तमान हैं। कई यज्ञ ऐसे हैं, जिनमें कुछ न कुछ, अभिनय हो जाता है। यम-यमी तथा पुरुर्वा-उर्वशी आदि के संवाद नाटक के आदि-रूप हैं।

पौराणिक काल में भी नाटक लिखे और खेले जाते थे; इसके कई प्रमाण हैं। रामायण और महाभारत दोनों में नाटक शब्द का उल्लेख है*। हरिवंश में रामजन्म और कौवेररम्भाभिसार के अभिनय का वर्णन है। अग्निपुराण में दृश्य काव्य की विवेचना की गई है।

नाटकों की उत्पत्ति में धार्मिक कृत्य, समारोह से किये गये यज्ञ, भिन्न-भिन्न उत्सव, पुत्तलिका-नृत्य, छाया-प्रदर्शन तथा नृत्य के भिन्न-भिन्न भेद, सभी ने सहायता की है।

---

* वादयन्ति तथा शान्ति लास्यन्त्य चापरे।
नाटकान्यपरे प्राहुर्हास्यानि विविधानि च। वा० रामायण २, ६९, ४।
नाटका विविधाः काव्याः कथाख्यायिकाकारकाः। महाभारत २, ११, ३६।

संस्कृत का नाट्य-साहित्य बहुत ही सम्पन्न है। पाणिनि के पूर्व ही शिलालिन् तथा कृशाश्व जैसे नट सूत्रों के रचयिता हो चुके थे। बाद में भरत ने अपना प्रसिद्ध नाट्यशास्त्र लिखा। तदनंतर धनंजय, विद्यानाथ, विश्वनाथ आदि प्रसिद्ध आचार्य हो गये हैं।

नाटककारों में सबसे पहले तो स्रष्टा के ही संबंध में कहा जाता है, कि उन्होंने समुद्रमंथन और त्रिपुरदाह नामक नाटक रचे और सरस्वती ने लक्ष्मीस्वयंवर। भरत मुनि ने 'यामदग्नयज्ञ', 'कुसुमशेखर-विजय' तथा 'शर्मिष्ठा-ययाति' की रचना की।

भास के नाटक बहुत प्राचीन हैं। उनके नाटकों के नाम हैं—स्वप्नवासवदत्ता, प्रतिज्ञायौगन्धरायण, चारुदत्त, प्रतिमा, बालचरित, उरुभंग, पंचरात्र, रामदत्त, दूतवाक्यम्, मध्यम व्यायोग, कर्णाभरण, दूतघटोत्कचम्, अभिषेकनाटकम् तथा अविमार्कम्। संस्कृत नाटकों में दुःखान्त नाटक इने-गिने हैं। उनमें उरुभंग एक है। दूतवाक्यम् एकांकी नाटक है। भास को कविताकामिनी का हास कहा गया है। कविवर कालिदास ने स्वयम् विनयपूर्वक इनका उल्लेख किया है। शूद्रक का मृच्छकटिक दस अंकों का नाटक है। इसमें भिन्न-भिन्न प्राकृतों के प्रचुर उदाहरण हैं। यह भास के चारुदत्त के आधार पर है। अश्वघोष ने सारिपुत्र प्रकरण की रचना कीं थी। इसमें सारिपुत्र और मौद्गल्यायन की कथा वर्णित है। इनके दो अन्य नाटकों के नाम नहीं ज्ञात हैं। कालिदास पर इनका प्रभाव प्रत्यक्ष दीख पड़ता है। संस्कृत नाटककारों के मुकुट-मणि कालिदास की काव्य-प्रतिभा की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। संस्कृत साहित्य के इतिहास में कई कालिदास हैं। इससे कौन किनकी रचना है, यह कहना कठिन है। कालिदास के निम्नलिखित नाटक हैं—अभिज्ञानशाकुन्तलम्, मालविकाग्निमित्रम् तथा विक्रमोर्वशी। कालिदास के बहुत से पद्य भिन्न-भिन्न संग्रहों में मिलते हैं, जिनका पता नहीं चलता। ऐसा ज्ञात होता है कि उनकी कई रचनाएँ लुप्त हो गई हैं। मुद्राराक्षस जैसे राजनीतिक

नाटक के रचयिता विशाखदत्त के दो अन्य नाटकों के भी कुछ अंश

मिलते हैं। ये हैं देवीचन्द्रगुप्तम् और अभिसारिकावञ्चितका। नारायण-कृत वेणीसंहार भी संस्कृत का एक प्रसिद्ध नाटक है। रत्नावली, नागानन्द और प्रियदर्शिका के लेखक सम्राट् हर्ष हैं। भवभूतिकृत मालतीमाधव, महावीरचरित तथा उत्तररामचरित विख्यात नाटक हैं। संस्कृत के नाटककारों में कालिदास के बाद इन्हीं का नाम आता है। बालरामायण, बालभारत, विद्धशालभञ्जिकम् तथा कर्पूरमञ्जरी के लेखक राजशेखर को ऐतिहासिक ईसा की दशवीं शताब्दी में मानते हैं। इनके अतिरिक्त मुरारि, जयदेव आदि संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककार हैं।

यों तो संस्कृत में नाटकों का लिखा जाना आज भी बन्द नहीं हुआ है, फिर भी ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के बाद इसकी चर्चा दाक्षिणात्य में ही अधिक रही। उत्तर भारत में संस्कृत नाटकों का लिखा जाना करीब-करीब बन्द हो गया और आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं में नाटकों की रचना अभी शुरू नहीं हुई थी।

भाषा-विज्ञान का यह नियम है, कि जब किसी भाषा को परिमार्जित कर उसे साहित्यिक बनाया जाता है, तब धीरे-धीरे वह लोकभाषा से दूर हो जाती है और कुछ दिनों के बाद साधारण जनता के लिए उसका समझना कठिन हो जाता है। तब तत्कालीन लोकभाषा ही साहित्यिक भाषा बन जाती है। संस्कृत के नाटकों में प्राकृत के प्रचुर प्रयोग इसे सिद्ध करते हैं, कि उनके प्रणयन-काल में जनता की भाषा भारत के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न प्रकार की प्राकृत थी। तभी तो जनता के लिए कर्पूरमञ्जरी जैसे नाटकों की रचना हुई।

धीरे-धीरे संस्कृत और प्राकृत के नाटकों में भारत की आधुनिक भाषाओं के पूर्व रूप गान के रूप में स्थान पाने लगे। राजपुताने में तो अपभ्रंश में काफी 'रासक' लिखे गये। तेरहवीं शताब्दी में इनका अच्छा प्रचार था। जैन मुनियों ने धर्म्मप्रचारार्थ इस साधन को अपनाया और इस प्रकार 'जयकुमार रास', 'नेमिरास' आदि रासकों की रचना हुई। जैन ग्रंथागारों में संगृहीत रासकों की संख्या एक हजार से अधिक है।

इन धार्मिक रासकों के अतिरिक्त लौकिक कथाओं के श्रृंगार और वीररस-पूर्ण रासक भी रचे गये। सोलहवीं शताब्दी में वल्लभ सम्प्रदाय के आचार्यों ने इसी आधार पर कृष्णकथा के रासक लिखे। नन्ददास और ध्रुवदास इस श्रेणी में अग्रगण्य हैं। रासलीलाओं के लिए लिखित पुस्तकों में पद्य की प्रधानता है। उनमें आगमन, प्रस्थान आदि का निर्देश नहीं है। रोज ये लीलाएँ विशेष मण्डलियों द्वारा अभिनीत होती थीं। कब आना है, कब जाना है, गद्य में कब क्या बोलना है, ये सारी बातें अभिनेताओं को कण्ठस्थ रहती थीं। कुछ यही हाल रामलीला का भी रहा।

हिन्दी नाटकों के विकास में रासकों का बहुत बड़ा हाथ है। नौटंकी और स्वाँग नाटक रास के ही दूसरे रूप हैं। भारतेन्दु के पूर्व जो पद्यमय नाटक लिखे गये उन पर अथवा भारतेन्दु काल में भी चन्द्रावली पर रास की छाप स्पष्ट है। यही नहीं, पारसी नाटक कम्पनियों के नाटकों पर भी रास की मुहर है। तेरहवीं शताब्दी के लगभग मिथिला में भी संस्कृत नाटकों में मैथिल गेय पद्यों का समावेश होने लगा और फिर धीरे-धीरे मैथिली में भी नाटकों की रचना होने लगी। उमापति ने पारिजात-हरण और रुक्मिणी-परिणय नाटक लिखे। ईसा की चौदहवीं शताब्दी में जब नेपाल में मैथिल राज्य की स्थापना हुई तब वहाँ नाटकों के प्रणयन का अच्छा क्रम चला। इस वंश के नरेश स्वयं नाटककार तथा नाटककारों के आश्रय-दाता थे। इनके दरबार में प्रत्येक उत्सव पर नाटक खेले जाते थे। ये नाटक पद्य-प्रधान हैं, गद्य का नाम-मात्र को कहीं प्रयोग हुआ है। भाषा की दृष्टि से गान अधिकतर मैथिली में हैं; संस्कृत के भी श्लोक दिये गये हैं, पर गद्य में प्राकृत, संस्कृत का ही अधिक प्रयोग है।" * इस श्रेणी के प्रसिद्ध नाटककार और उनके नाटक क्रमशः ये हैं :—

मणिक—भैरवानन्द नाटक, धर्मगुप्त—रामायण नाटक, जगज्ज्योति-मल्ल—मुदितकुवलयाश्व नाटक, हरगौरीविवाह और कुंजविहार, वंश-

---

* हिन्दी का नाट्य साहित्य : [illegible]—पृष्ठ ७४ ।

मणि झा—गीत दिगंबर, प्रकाश मल्ल——मलयगंधिनी और मदनचरित्र, जितविक्रममल्ल——मदालसा-हरण और गोपीचन्द्र, भूपतीन्द्र मल्ल——माधवानल, रुक्मिणी-परिणय, विद्याविलाप, महाभारत तथा रणजीतमल्ल——रामचरित्र, उषाहरण आदि आठ नाटक। इनके अतिरिक्त मैथिल नाटककारों में निम्नलिखित के नाम उल्लेखनीय हैं :——हर्षनाथ झा—उषाहरण और माधवानन्द, भानुनाथ झा——प्रभावती-हरण तथा लाल झा——गौरी-परिणय।

इधर मध्यदेश में १६९३ में बनारसीदास ने समयसार नाटक लिखा जो वास्तव में कुंदकुंदाचार्य के ग्रंथ का भाषांतर है। प्राणचन्द चौहान ने कथोपकथन के रूप में रामायण महानाटक लिखा। व्यासशिष्य देव ने देवमायाप्रपंच की रचना की। हृदयराम ने हनुमन्नाटक का सं० १६८० में अनुवाद किया। जोधपुर नरेश यशवंतसिंह ने कृष्णमिश्र कृत प्रबोधचंद्रोदय को अनूदित किया। इस अनुवाद में पात्रों के प्रवेश और गमन का भी निर्देश है। महाराज विश्वनाथसिंह कृत आनंद-रघुनंदन को भारतेन्दु हिन्दी का पहला नाटक मानते थे। वास्तव में हिन्दी नाटकों के इतिहास में इस पुस्तक को युग-प्रवर्त्तक का स्थान प्राप्त है। शताब्दियों से चली आती हुई लोकप्रिय रासपद्धति को न अपनाकर इन्होंने इस नाटक की रचना संस्कृत नाटयशास्त्रसम्मत पद्धति में की। इस समय तक संस्कृत के नाटकों की प्रशंसा यूरोप में गूँज चुकी थी तथा भारतीय अपने पूर्वजों की धरोहर की महत्ता समझने लगे थे। आनन्द-रघुनन्दन में ब्रजभाषा के अतिरिक्त कई अन्य भाषाओं का पात्रानुसार उपयोग किया गया है। इनमें मैथिली भी है। मिथिला के विद्वान् पण्डितों का समादर सदैव हिन्दू दरबारों में होता रहा था। संभवतः महाराजा विश्वनाथसिंह को मैथिली नाट्य-परम्परा का परिचय था और उन्हें यह भी ज्ञात था कि संस्कृत-रचना-पद्धति में रचे ये नाटक मिथिला नरेशों के यहाँ सफलतापूर्वक अभिनीत हो चुके थे।

भारतेन्दु युग में जो संस्कृत नाट्यपद्धति को अपनाने का प्रयत्न

हुआ उसका सूत्रपात आनन्द-रघुनन्दन से ही हुआ। महाराज विश्वनाथ-सिंह ने अपने नाटक में सवैया, कवित्त आदि की जगह गेय पद्यों को रखा। अतः यह कहा जा सकता है कि प्रसाद के नाटकों के मधुर गान की परम्परा उनकी ऋणी है। इनके अतिरिक्त ईश्वरीप्रसाद ने भी रामायण की कथा को नाटकीय रूप दिया था। भारतेंदु के पिता गिरिधरदास ने सं० १८९८ में नहुष नाटक लिखा था। इसकी पूर्ण प्रति प्राप्त नहीं है। राजा लक्ष्मणसिंहकृत शकुंतला का अनुवाद १८६३ में छपा। इस अनुवाद में मूल के पद्य भी गद्य में थे। पर २५ साल बाद जब फिर यह प्रकाशित हुआ तब मूल पद्य के स्थान पर पद्य ही रखे गये। इसमें गद्यांश खड़ी बोली में और पद्यांश ब्रजभाषा में हैं।

अँगरेजी ड्रामा और स्टेज के प्रभाव से बंगाल में नाटकों का प्रणयन सम्यक् रीति से आरंभ हुआ। पुरी-यात्रा के सिलसिले में भारतेन्दु जब बँगला साहित्य के इस अंग से परिचित हुए तब उन्होंने हिन्दी में नाटक लिखना आरंभ कर दिया। कालांतर में इस साहित्य-सूर्य के चारों ओर बहुत से नाटककार हो गये। दूसरी ओर भारतेंदु की मण्डली पारसी स्टेज के नाटकों के विरुद्ध थी क्योंकि उन नाटकों में अँगरेजी और फारसी प्रभाव अधिक थे।

भारतेंदु तथा उनके समकालीन नाटककारों के नाटक या तो पौराणिक अथवा ऐतिहासिक कथाओं पर निर्मित हैं। पर कवि-कल्पित कथावस्तुओं की सृष्टि भी आरंभ हो गई थी। भारतेंदु ने किंवदंती की कहानियों का भी उपयोग किया। पात्रों के चरित्रों को कलात्मक रीति से चित्रित करने का प्रयास अभी आरंभ नहीं हुआ था और मनोवैज्ञानिक अध्ययन का इस काल में अभाव है। भारतेन्दु का युग प्रयोग का युग था। यह अभी तक ठीक न हो पाया था कि हिन्दी नाटक किस पद्धति के अनुसार लिखे जायँगे। विद्वानों का ध्यान संस्कृत की सम्पन्न नाट्य-परम्परा की ओर आकृष्ट हो चुका था। भारतेन्दु ने मुद्राराक्षस, कर्पूरमञ्जरी आदि का अनुवाद किया तथा सत्य हरिश्चन्द्र को उसी पद्धति पर लिखने की चेष्टा की।

रास की पद्धति पर चन्द्रावली की रचना हुई। दूसरी ओर नीलदेवी और रणधीर प्रेममोहिनी (लाला श्रीनिवासदास) जैसे दुःखान्त नाटक पाश्चात्य पद्धति पर लिखे गये। भारतेन्दु ने पारसी नाटक-कम्पनियों के नाटकों की खिल्ली उड़ाई पर वास्तव में वे स्वयं भी कई बातों में उनसे प्रभावित हो गये थे। नाटककारों ने अपने देश की दुर्दशा देखी और भारत-दुर्दशा (भारतेंदु), काल-प्रभाव (प्रतापनारायण मिश्र) आदि में हम उनकी आहें पाते हैं। अपने-अपने विचारों के अनुसार उन्होंने दुर्दशा के कारण बताये।

ऐसी अवस्था में जनता के सम्मुख पूर्व के गौरव को रखना साहित्यिकों का कर्त्तव्य हो जाता है। नीलदेवी (भारतेंदु) तथा महारानी पद्मावती और महाराणा प्रतापसिंह (राधाकृष्णदास) की रचना इसी सिलसिले में हुई। यह धारा प्रसाद काल में पुष्ट होकर आज भी प्रबल रूप में बह रही है।

हम आज के समस्या नाटकों को आधुनिक युग की विशेषता के रूप में प्रदर्शित करते हैं। पर समस्याएँ सभी युगों में रही हैं और भारतेन्दु के युग ने भी अपनी समस्याओं पर नाटक लिखे। इनमें कुछ तो धार्म्मिक थीं जो वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (भारतेन्दु) जैसे नाटकों में दिखाई गईं और कुछ सामाजिक थीं और उन्हें वृद्धविलाप (प्रेमघन), वारांगना-रहस्य (प्रेमघन), जुआरी-खुआरी (प्रतापनारायण मिश्र) तथा बाल-विवाह (बालकृष्ण भट्ट) जैसे नाटकों में स्पष्ट किया गया।

जिस प्रकार नाट्य-पद्धति के लिए यह प्रयोग-काल था उसी प्रकार भाषा के लिए भी। यद्यपि गद्यांश में खड़ी बोली स्थापित हो गई थी फिर भी पद्यों में अभी तक ब्रजभाषा की प्रधानता थी। पात्रों के अनुसार भाषा बरतने के कारण नाटकों में कई प्रकार की बोलियों के दर्शन होते हैं। रणधीर-प्रेममोहिनी तथा सज्जाद सम्बुल (केशवराम भट्ट) में तो इनकी अति असहनीय हो गई है।

देश-काल के सम्बन्ध में लोग अभी सतर्क नहीं हो पाये थे। भारतेंदु

ने हरिश्चन्द्र के द्वारा गंगा का वर्णन कराया है। भारतीय संस्कृति की परम्परा के अनुसार अपना साहित्यिक रंगमच हो, इसके लिए विद्वान् सचेष्ट थे। भारतेंदु स्वयं भी रंगमच पर उतरे थे। रचना-पद्धति पर संस्कृत के नाट्य-शास्त्र का प्रभाव अवश्य था पर उसके सभी नियम बरते नहीं जाते थे।

हिन्दी नाटकों के आधुनिक युग का आरम्भ जयशंकर प्रसाद से होता है। इनके प्रारम्भिक नाटकों पर भारतेंदु की छाप प्रत्यक्ष है पर धीरे-धीरे उससे मुक्त होकर इन्होंने अपने व्यक्तित्व का विकास किया।

भारतेंदु युग में जिस देशभक्ति की जाग्रति हम देखते हैं वह धीरे-धीरे बलवती होने लगी और १९२१, १९३० और १९४१ के आन्दोलनों ने उसे उत्तरोत्तर प्रदीप्त किया। अतीत मेरा स्वर्णिम था; यह भावना स्वतन्त्रता के सैनिक के लिए रणभेरी होती है। चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त आदि इसी उद्देश्य से रचित हुए। उनकी महत्ता केवल तत्कालीन घटनाओं के प्रदर्शन में ही नहीं वरन् उत्कट देश-प्रेम और उसके लिए सर्वस्व निछावर कर देने की वृत्ति में है। यही परम्परा चन्द्रगुप्त के अशोक, सेठ गोविन्ददास के हर्ष और उदयशंकर भट्ट के दाहर में है।

प्रसाद ने ऐतिहासिक नाटकों में प्रान्तीयता और धार्म्मिक झगड़ों से ऊपर उठकर दृढ़ राष्ट्रीयता के संगठन का उपदेश दिया। इसी प्रकार रक्षाबन्धन और स्वप्नभंग में 'प्रेमी' ने बताया कि सच्चे धर्म्म में—मनुष्यता पर अवलम्बित धर्म्म में—धार्म्मिक संकीर्णता का कोई स्थान नहीं।

प्रसाद अपने नाटकों में हिन्दू काल के शौर्य्य, देशप्रेम, संस्कृति-गरिमा और बौद्धिक प्रौढ़ता दिखाते हैं। तड़क-भड़क के मामले में अपने हर्ष में सेठ गोविन्ददास उनसे भी आगे बढ़ गये हैं। चतुरसेन शास्त्री के अमर राठौर में काफी ओज है। प्रेमी के ऐतिहासिक नाटकों के पढ़ने से ऐसा ज्ञात होता है कि उनका उद्देश्य उस काल के चित्रों का प्रदर्शन नहीं बल्कि देशभक्ति, राजभक्ति, धार्म्मिक उदारता आदि उदात्त गुणों को दिखाना है।

कुछ ऐतिहासिक नाटक आध्यात्मिक महत्ता के चित्र और दार्शनिक मतों की गरिमा प्रदर्शन के लिए लिखे गये। इस कोटि में प्रसादकृत अजातशत्रु और बेनीपुरी रचित अम्बपाली प्रमुख हैं। अब ऐतिहासिक नाटक अपेक्षाकृत कम लिखे जाते हैं। प्रसाद के युग में श्री काशीप्रसाद जायसवाल जैसे विद्वानों ने अपनी खोजों से सिद्ध कर दिया कि विन्सेण्ट स्मिथ जैसे अँगरेजी के ऐतिहासिकों का हिन्दू-काल का ज्ञान अपूर्ण, अपर्य्याप्त और कई अंशों में भ्रमपूर्ण था। इन खोजों ने राष्ट्र को जो नई स्फूर्ति दी उसे हम उस काल के महाकाव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी सभी में पाते हैं। इन खोजों की नवीनता अब कमती जाती है और यही कारण है कि अब ऐतिहासिक नाटक कम लिखे जाते हैं।

समस्या नाटक इस युग की खास देन है। इब्सेन और शा के प्रभाव काफी पड़े। यों तो कुछ समस्याओं पर भारतेंदु युग में भी नाटक लिखे गये पर वे आज की आँखों में प्रारम्भिक प्रयत्न से हैं। प्रसाद जी ने अपने कई ऐतिहासिक नाटकों में नारी-समस्या पर प्रकाश डाला है। ध्रुवस्वामिनी में तो मोक्ष (Divorce) का प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है। 'एक घूंट' यह दिखाता है कि मानव-जीवन, सम पर रहने के लिए—गतिशील रहने के लिए, एक सम्बल चाहता है; और उसके लिए विवाह आवश्यक है।

अंगूर की बेटी (गोविन्दवल्लभ पंत) और कुलीनता (सेठ गोविन्ददास) में तो सामाजिक समस्याएँ हैं पर लक्ष्मीनारायण मिश्र ने संन्यासी, राक्षस का मन्दिर, मुक्ति-रहस्य, सिन्दूर की होली में वैयक्तिक समस्याओं, बिशेष कर प्रेम, आकर्षण आदि पर विचार किया है। फ्रायड ने काम-समस्या को ही मानव-समस्याओं में सर्वप्रथम माना है और इसका प्रभाव हमारे नाटकों पर भी पड़ा। आज के उलझे हुए जीवन में समस्याएँ भी बहुत पेचीदा होती हैं और उनके सुलझाने के लिए बौद्धिक प्रयोग भी प्रचुर होते हैं। मिश्रजी के नाटकों में भिन्न-भिन्न प्रकार की स्त्रियाँ दिखाई गई हैं। ललिता, [illegible] और [illegible] के विभिन्न प्रकार के प्रेम

नारियों के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हैं। नारी की आर्थिक समस्या पर भी उन्होंने प्रकाश डाला है। सेठ गोविन्ददास ने मंगलसूत्र में आधुनिक वातावरण में उस समस्या का समाधान किया है जो ध्रुवस्वामिनी का मूल विषय है।

सेठ गोविन्ददास जी की बहुमुखी प्रतिभा ने "धीरे-धीरे" और "सेवा-पथ" में राजनीतिक समस्याओं पर विचार किया है। प्रथम का संबंध कांग्रेस शासकों के धीरे-धीरे परिवर्त्तन की नीति से है और दूसरे में यह दिखलाया गया है कि विरोधी राजनीतिक मत व्यक्ति-विशेष के जीवन को किस प्रकार प्रभावित करते हैं।

नाना प्रकार के राजनीतिक और सामाजिक वादों तथा प्रभावों की बहुलता के कारण हमारी उलझनें बहुत बढ़ गई हैं। साहित्य तो जीवन का दर्शन है; अतः, आधुनिक नाटकों में इनका प्रमुख स्थान पाना स्वाभाविक ही है।

रचना-कौशल की दृष्टि से आज का नाटक काफी आगे बढ़ गया है। अधिकतर नाटक तीन अंकों के होते हैं और अभिनय में तीन घण्टे से अधिक समय न लगे, इसका लोग ख्याल रखते हैं। धीरे-धीरे स्वगत को हिन्दी नाटकों से निकाल डाला गया। प्रसाद ने हिन्दी को एक नये प्रकार के दुःखान्त नाटक दिये, जिनको लोग प्रसादान्त कहते हैं। ऐतिहासिक नाटकों में तो दृश्यों में तड़क-भड़क रहती है पर सामाजिक नाटक से उन्हें हटा दिया गया है। प्रसाद और उनके एक-दो अनुगामियों को छोड़कर नाटककार अब सरल भाषा का प्रयोग करते हैं। अधिकतर नाटकों में काफी द्वन्द्व रहता है और दृश्यों में नाटकीयता लाने की पूरी कोशिश होती है।

प्रबोधचन्द्रोदय और देवमायाप्रपञ्च की परम्परा में कामना तथा ज्योत्स्ना आदि रूपकात्मक नाटकों की रचना हुई। रासों और उस श्रेणी के नाटकों में गीति की ही प्रधानता रहती है। भारतेन्दु की चन्द्रावली

में भी यही परम्परा है, पर प्रसाद ने करुणालय रचकर वास्तविक गीति-नाटक की परम्परा चलाई। गुप्त का 'अनघ' और उदयशंकर भट्टकृत मत्स्यगंधा इसी श्रेणी के नाटक हैं।

सभ्यता के विकास के साथ मनुष्यों के जीवन में कार्याधिक्य हो जाता है और उसी के अनुपात में उसे समय की तंगी हो जाती है। उपन्यास के स्थान पर वह लघुकथा ही पढ़कर अपना मनोरंजन कर लेता है। इसी प्रकार उसे छोटे नाटकों की आवश्यकता हुई। भारत में एकांकी नाटकों की परम्परा बहुत प्राचीन है। संस्कृत में भाण, नीथी, गोष्ठी, नाटचरासक आदि कई रूपक और उपरूपक ऐसे हैं जिनमें एक ही अंक होता है। रास की लीलाएँ भी एकांकी हैं। भारतेन्दुकृत वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति भी वस्तुतः एकांकी की ही श्रेणी में आता है। पर हिन्दी में आज जो एकांकी लिखे जाते हैं, उनका आदर्श यूरोपीय है। प्रसाद ने एक घूंट की रचना की और तब से कई अच्छे एकांकी लिखे जा चुके हैं। सप्तरश्मि (सेठ गोविन्ददास), रेशमी टाई (डा० रामकुमार वर्मा), नेत्रदान (बेनीपुरी), अंजो दीदी (उपेन्द्रनाथ अश्क) और गिरती दीवारें (उदय-शंकर भट्ट) हिन्दी के प्रसिद्ध एकांकी हैं।

अल्प ही समय में समाप्त हो जानेवाले नाटकों की आवश्यकता रेडियो को हुई। उसमें नाटकीय कथोपकथन तो पात्र बोलते हैं और रंग-निर्देश एनाउन्सर बोलता है। बहुत सी ऐसी बातें रेडियो नाटक में आ सकती हैं जिन्हें रंगमंच पर नहीं दिखाया जा सकता। जैसे स्टेशन पर रेल का आना, मोटर से एक आदमी का दब जाना—आम के पेड़ से कोयल का कू-कू करना।

इसके अतिरिक्त सिनेमा के लिए जो सिनेरियो लिखे जाते हैं वे भी एक विशेष प्रकार के नाटक हैं। इस युग ने उस ओर भी प्रचुर प्रगति की है।

——कृष्णनन्दन सहाय

रस और छन्द

रस का व्यावहारिक अर्थ

प्राचीन भारत के कलात्मक विलास की कहानी सुनाने के लिए आपने जब मुझे निमंत्रण दिया है तो निश्चय ही आपने आशा की होगी कि मैं ऐसी मनोरंजक बातें बताऊँगा जिनसे आप इस युग के कर्मक्लान्त जीवन में उस युग की अमीरी की सुगन्ध पा सकेंगे। शायद आपने मन की आशा की होगी कि मैं पाटलिपुत्र के नागरों की रंगशाला के किसी मनोहर अभिनय की कहानी सुनाऊँगा जब नर्तकियों के नूपुर क्वणन के साथ वीणा, वेणु और मुरज बज उठते थे, या उज्जयिनी के पौर जनों की किसी सरस जल-क्रीड़ा की कहानो सुनाऊँगा जिसमें होनेवाले मृदंग-घोष को मेघ-गर्जन समझकर तीरस्थित क्रीडामयूर अकारण उत्कंठित होकर रंगीन पुच्छों को आकाशमण्डल की ओर फैलाकर थिरक उठते थे, या वाराणसी के किसी शिल्पी की मरकत मणियों की उस मूर्ति की चर्चा करूँगा जो दिन और रात के भिन्न-भिन्न समयों में भिन्न-भिन्न रंग की विचित्रता से समृद्ध हो उठती थी, या कान्यकुब्ज की किसी नगर-सभा में आयोजित उस मयूर या कमलनृत्य की बात करूँगा जिसमें कुंकुम और अबीर बिछा दिये जाते थे और नृत्य के तालों के साथ उठते, पड़ते पद-संचार मयूर या कमल की प्रतिकृति बना देते थे। आपकी आशा उचित है और वस्तुतः ऐसा ही संकल्प लेकर चला हूँ परन्तु आप जानते हैं कि हमारा युग संदेह और अविश्वास का है और बड़े से बड़े पण्डित के वक्तव्य को सुनते समय भी लोग मन ही मन पूछते रहते हैं कि तुम्हारी बात का प्रमाण क्या है। मेरे जैसे साधारण विद्यार्थी की बातों का तो प्रत्येक वाक्य प्रमाण-सापेक्ष माना जायगा। जब तक मैं अपने प्रत्येक वाक्य को, पुस्तकी शास्त्रार्थों के कवच से सुरक्षित न कर लूं तब तक उसके बाण-बिद्ध होने की आशंका मुझे बराबर रहेगी और आप भी उसको स्वीकार करने में

संशयालु बने रहेंगे। इसलिए इच्छा न रहते हुए भी मुझे अपनी बात को पुस्तक-शास्त्रार्थ से पोषित करना पड़ेगा, फिर भी मैं यथासंभव इस शास्त्रार्थ को कम करने की कोशिश करूँगा। एक अन्य कारण भी है जिससे मैं पुस्तकों का आसरा नहीं छोड़ सकता। अपने वक्तव्य के लिए मैंने काव्य, नाटक, कथा, आख्यायिका आदि को ही उपजीव्य माना है इसलिए उनकी चर्चा से मैं बच नहीं सकता, चाहूँ भी तो यह संभव नहीं है। इसलिए जब कभी आगे चलकर आप मुझे पुस्तकी शास्त्रार्थ में उलझा देखें वहाँ लाचारी को ही प्रधान कारण समझें, पांडित्य-प्रदर्शन के लिए पुस्तकों के जंगल में घसीटना मेरा उद्देश्य नहीं है।

कला-विलास किसी जाति के भाग्य में सदा सर्वदा नहीं जुटता। उसके लिए ऐश्वर्य और समृद्धि चाहिए, त्याग और भोग का सामर्थ्य चाहिए, सौन्दर्य और सुकुमारता की रक्षा करने योग्य पौरुष चाहिए। परन्तु इतना ही काफी नहीं है। उस जाति में जीवन के प्रति एक ऐसी दृष्टि सुप्रतिष्ठित होनी चाहिए, जिससे वह पशु-सुलभ इन्द्रियवृत्ति को और वाह्यार्थों को ही समस्त सुखों का कारण न मानती हो, उस जाति की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परंपरा बड़ी और उदार होनी चाहिए और उसमें एक ऐसा कौलीन्य-गर्व होना चाहिए जो दुनियावी सिद्धियों से बढ़कर आत्म-मर्यादा को बहुमान देता हो और जीवन के किसी क्षेत्र में असुन्दर को बर्दाश्त न कर सकता हो। जो जाति सुन्दर की रक्षा, सम्मान और पूजा करना नहीं जानती वह विलासी हो सकती है पर कलात्मक विलास उसके भाग्य में नहीं होता। भारतवर्ष में एक ऐसा युग बीता है जब इसके निवासियों के प्रत्येक कण में जीवन था, पौरुष था, कौलीन्य-गर्व था और सुंदर के रक्षण, पोषण और सम्मान का सामर्थ्य था। उस समय उन्होंने बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित किये थे, संधि और विग्रह के द्वारा समूचे ज्ञात जगत् की सभ्यता का नियंत्रण किया था और वाणिज्य तथा यात्राओं के द्वारा वे समूचे संसार के साथ आदान-प्रदान की व्यवस्था कर

सकते थे। इन्हीं दिनों वे कला-विलासी थे।

मैं आशा करूँगा कि आप उस युग की कहानी सुनने के लिए जब तैयार हैं तो इस युग के सन्देहों और संघर्षों से अपने को अलग कर लेंगे। जब उस युग के साम्राज्यों और वाणिज्यों की बात हम करते हैं तो इस युग के साम्राज्यों और वाणिज्यों से उनको भुला नहीं देना चाहिए। आज के साम्राज्य विशुद्ध रूप में कमजोर जातियों के शोषण पर आधारित हैं। इस युग का वाणिज्य शोषण का ही नामान्तर है। प्राचीन काल में शोषण था ही नहीं यह तो मैं नहीं कहता पर इस प्रकार जोंक जैसा साम्राज्यवाद उस समय नहीं था, यह बात जोर देकर ही कही जा सकती है। इसीलिए मैं जब उस युग की समृद्ध सभ्यता और मनोरम कला-विलास की बात करूँ तो आप आज ही घिनौनी समृद्धिवाली सभ्यता की बात भूल जायँ, आप मेरा यह अनुरोध पालन करेंगे तभी उस अपूर्व रसलोक की सुगंधि पा सकेंगे जिसका आभास हमें संस्कृत के काव्य-नाटकों में मिलता है।

परन्तु मैं उस रसलोक की चर्चा करने के पहले कुछ नीरस बातों की चर्चा कर लेना आवश्यक समझता हूँ। भारतीय आचार्य और कवि कुछ ऐसे आदर्शवादी थे कि उनकी पोथियों में से काम लायक व्यावहारिक बातें खोज निकालना काफी कठिन काम है। हमेशा एक शास्त्रार्थ की आँधी के भीतर से गुजरना कुछ लोगों की ही रुचि की बात हो सकती है। साधारण मनुष्य काम की चीज चाहता है। परन्तु जैसा कि मैंने आपसे शुरू में ही निवेदन कर दिया है, सन्देह और अविश्वास के इस युग में शास्त्रार्थों की आँधी का सामना अनिवार्य हो गया है। विरोधाभास यह है कि जिस नीरस विषय की चर्चा से मैं इस समय शंकित हो रहा हूँ वह विषय स्वयं रस ही है।

यह तो भारतीय साहित्य का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि 'रस' काव्य का सर्वोत्तम उपादान है। आप किसी भारतीय विद्यार्थी से इसकी व्याख्या पूछ सकते हैं। वह छूटते ही नौ रसों का नाम गिना देगा और

यदि थोड़ा भी गहराई में उतरा होगा तो अनुभाव, विभाव, संचारी भावों

की व्याख्या करके आपके धैर्य को आसानी से हिला देगा। परन्तु आप अगर उससे इन स्थायी, संचारी भावों के उदाहरण पूछें तो आश्चर्य के साथ लक्ष्य करेंगे कि यद्यपि उसने रस नौ गिनाये हैं तथापि उदाहरण बराबर श्रृंगार रस के देता जायगा। जिन पोथियों को उसने पढ़ा है उनमें भी आपको यही बात मिलेगी। वीर या शान्त रस के एकाध उदाहरण भूले-भटके ही दिख जायँगे। निस्सन्देह इन ग्रंथों और ग्रंथाभ्यासियों के उद्धृत उदाहरणों को देखकर आप इस नतीजे पर पहुँचेंगे कि यद्यपि सिद्धांत रूप में नौ रस माने जाते हैं पर सही बात यह है कि व्यवहार में अधिकांश लोगों ने श्रृंगार रस को ही 'रस' माना है। यह बात सुनने में आपको शायद अच्छी न लगे पर है सच्ची। हमारे लिए यह बड़े काम की है, क्योंकि हम तो शास्त्रों के सिद्धान्त की बात करने नहीं चले हैं, हम तो लोक-जीवन के व्यवहार को ही समझने के प्रयासी हैं। परन्तु थोड़ा-सा पुरानी पोथियों को ढूंढ़िए तो बड़ी आसानी से समझ में आ जायगा कि नौ रसोंवाली बात एक क्षेपक ही है और असल में दीर्घ-काल से रस का अर्थ श्रृंगार ही समझा जाता रहा है। क्षेपक का भी अपना महत्त्व है और उसी का प्रधान हो उठना तो निश्चित रूप से एक विशेष मनोवृत्ति का सूचक है।

किसी कवि ने जब कहा था कि काव्य-शास्त्र के विनोद से बुद्धिमानों का काल कटता है 'काव्यशास्त्र-विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्' तो उसने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात बताई थी। भारतवर्ष का एक जमाना ऐसा गया है जब बहुत से काव्य विनोद के लिए लिखे गये थे। पुरानी पोथियों में काव्य के अनेक उद्देश्य गिनाये गये हैं—वे यश के लिए, धन के लिए, व्यवहार-ज्ञान के लिए, अनिष्ट-निवारण के लिए, मोक्ष के लिए और कांता-सम्मिति उपदेश के लिए लिखे जाते हैं। पर यह नहीं कहा गया है कि वे विनोद के लिए या विलास के लिए भी लिखे गये हैं। परन्तु अगर ध्यान से विचार कर देखिए तो कवि को यश और धन

काव्य से मिलते थे, निश्चय ही धनी लोगों से धन मिला करता

होगा और साधारण जनता से यश। दोनों के ही व्यवहार में आने लायक चीज जब तक न हो तब तक दोनों की ओर से सम्मानित होने का कोई हेतु नहीं है। वस्तुतः आलंकारिकों ने जो काव्य के उद्देश्य बताये हैं वह कवि को दृष्टि में रखकर, पाठक को नहीं। पाठकों की ओर से भी यदि उन्हें काव्य के उद्देश्य की बात कहनी होती तो वे निश्चय ही बताते कि काव्य दिल बहलाने के लिए, चतुर होने के लिए और नैतिक बल के दृढ़ीकरण के लिए बनते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में हमें केवल इतने तक ही अपने को सीमित रखना है कि उस युग में मनुष्य-जीवन में काव्य-विनोद का बड़ा प्रभाव था। धनी और संभ्रान्त लोगों के अतिरिक्त अन्य बुद्धिमान् लोग भी काव्य-रस का आस्वाद करते थे और वह 'रस' मुख्य रूप से शृंगार हुआ करता था। मैंने यह बात एक बार पंडितों की एक मंडली में कही थी, उस समय थोड़ी नाराजगो भी प्रकट की गई थी। मुझे ऐसा लगा कि शृंगार रस को भारतीय काव्य का सर्वश्रेष्ठ प्रतिपाद्य मानने को कुछ विद्वान् इसलिए अनुचित समझते थे कि उनकी दृष्टि में शृंगार रस निचली कोटि की स्त्रैण वृत्ति है। मैं आशा करता हूँ कि आप लोग इस प्रकार नहीं मानते। रस वस्तु लौकिक घटनाओं का नाम नहीं है। परन्तु मैं अपनी बात और भी विशद रूप से समझाने का मौका आगे खोज निकालूंगा। यहाँ मैं 'रस' शब्द की प्राचीन परंपरा का विवेचन कर लेना चाहता हूँ। बिना ऐसा किये हम अपने अभिलषित रसलोक का ठीक-ठीक अन्दाजा नहीं लगा सकेंगे।

आप राजशेखर का नाम तो जानते ही हैं। ये कान्यकुब्ज के राजा महेन्द्रपाल (९०३-९०७ ई०) के उपाध्याय थे और इस बात का भी सबूत है कि उक्त राजा के पुत्र और उत्तराधिकारी महीपाल के भी सभा-पंडित रहे। इनकी पत्नी अवन्तिसुन्दरी चौहान वंश की राजकन्या थीं। वे पति के ही समान तीक्ष्णबुद्धि और प्रतिभाशालिनी थीं। राजशेखर को कवि और नाटककार के रूप में बहुत पहले से ही लोग जानते थे। कुछ दिन पहले उनकी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पुस्तक काव्य-मीमांसा का

एक अध्याय मिला है। बड़ौदा से निकलनेवाली संस्कृत पुस्तकमाला में यह छप चुकी है। छप ही नहीं चुकी है, उसके तीन संस्करण भी हो चुके हैं। काव्य-मीमांसा नाना दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। उसमें बहुत ज्ञातव्य बातें संगृहीत हैं जो केवल काव्य के कल्पनालोक के सिद्धान्त की ही खबर नहीं देतीं बल्कि व्यावहारिक जगत् के समाचार भी देती हैं। रस की नीरस चर्चा का आरम्भ इस सरस रचना का नाम लेकर ही हम शुरू कर रहे हैं।

राजशेखर ने काव्य-मीमांसा के आरंभ में ही काव्यविद्या के अठारह अंगों और उनके प्रवर्तक आचार्यों के नाम गिनाये हैं। ये अठारह अंग और उनके प्रवर्तक आचार्य इस प्रकार हैं:—

१. कविरहस्य के सहस्राक्ष २. औक्तिक के उक्तिगर्भ ३. रीति-निर्णय के सुवर्णनाभ ४. आनुप्रासिक के प्रचेतायन ५. यमक के चित्रांगद ६. चित्रकाव्य के चित्रांगद ७. शब्दश्लेष के शेष ८. वास्तव के पुलस्त्य ९. औपम्य के औपकायन १०. अतिशय के पराशर ११. अर्थश्लेष के उतथ्य १२. उभयालंकारिक के कुबेर १३. वैनोदिक के कामदेव १४. रूपकनिरूपणीय के भारत १५. रसाधिकारिक के नंदिकेश्वर १६. दोषाधिकरण के धिषण १७. गुणोपादानिक के उपमन्यु. १८ औपनिषदिक के कुचमार।

इस प्रकार अठारह अंगों और आचार्यों की बात प्रायः सभी शास्त्र करते हैं। अठारह की संख्या भारतीय साहित्य में बहुत लोकप्रिय है। पुराण अठारह हैं, स्मृतियाँ अठारह हैं, महाभारत में अठारह पर्व हैं, और गीता में अठारह अध्याय हैं। ज्योतिष के प्रवर्तक अठारह आचार्यों और इसी प्रकार अन्य विषयों के भी अठारह आचार्यों का उल्लेख मिल जाया करता है। जब राजशेखर की काव्य-मीमांसा का उद्धार हुआ तो देखा गया कि काव्यविद्या के भी अठारह ही आचार्य हैं। राजशेखर ने अपने इस बृहद् ग्रन्थ को अठारह ही खण्डों में पूरा किया था। दुर्भाग्यवश इसका पहला खण्ड कविरहस्य ही अब तक उपलब्ध हो

सका है। इसमें भी उन्होंने अठारह ही अध्याय रखे थे। बहुत दिनों तक पंडितों में यह जल्पना-कल्पना पलती रही है कि राजशेखर की सूची कल्पना-प्रसूत है या किसी अब तक अज्ञात खोई हुई काव्यपरंपरा के आधार पर लिखी गई है। जल्पना-कल्पना अब भी जारी है। ऐसा जान पड़ता है कि उक्त सूची का किसी परम्परा पर आधारित होना ही अधिक युक्तिसंगत है। इसे कल्पना-प्रसूत सिद्ध करने के लिए जो युक्तियाँ दी जाती हैं उनमें मुख्य यह है कि इसके नाम अधिकांश में अश्रुतपूर्व और पौराणिक हैं। फिर इसमें राजशेखर ने अनुप्रास भिड़ाने की कोशिश की है यह भी उसके काल्पनिक होने का सबूत है। वस्तुतः ये दोनों दलीलें लचर हैं। इनमें कितने ही नाम तो निश्चयपूर्वक पहले के जाने हुए और ऐतिहासिक हैं। जो अभी तक नहीं जाने हुए हैं, उनके लिए अनुसंधान की जरूरत है। वात्स्यायन के काम-सूत्र में नंदिकेश्वर, सुवर्णनाभ और कुचुमार का नाम पाया जाता है। इस ग्रंथ के आरंभ में ही बताया गया है कि प्रजापति ने प्रजाओं की सृष्टि करके उनकी स्थिति के लिए धर्म, अर्थ और काम, इन त्रिवर्गों के साधन के लिए एक लाख अध्यायों का ग्रन्थ रचा। उसके एक वर्ग को अलग-अलग करके क्रमशः मनु, बृहस्पति और महादेवानुचर नंदी ने धर्म, अर्थ और काम के ग्रन्थों की रचना की। नंदी का ग्रन्थ हजार अध्यायों का था। उसे औद्दालकि श्वेतकेतु ने पाँच सौ अध्यायों में संक्षिप्त किया। उसे भी बाभ्रव्य पांचाल ने डेढ़ सौ अध्यायों में संक्षिप्त किया। इसमें सात अधिकरण थे—साधारण, सांप्रयोगिक, कन्यासम्प्रयुक्तक, भार्याधिकारिक, पारदारिक, वैशिक और औपनिषदिक। इस सातों को निम्नलिखित आचार्यों ने अलग-अलग संपादित किया। वैशिक का सम्पादन दत्तक ने पाटलिपुत्र की वेश्याओं के अनुरोध पर किया था :

आचार्य अधिकरण :—

१—चारायण—साधारण

२—सुवर्णनाभ—सांप्रयोगिक

३—घोटकमुख—कन्यासंप्रयुक्तक
४—गोनर्दीय—भार्याधिकारिक।
५—गौणिकापुत्र—पारदारिक
६—दत्तक—वैशिक
७—कुचुमार—औपनिषदिक

इस सूची को देखने से जान पड़ता है कि कामशास्त्र के प्रवर्तक कई आचार्य काव्यविद्या के भी प्रवर्तक हैं। साम्प्रयोगिक के आचार्य सुवर्णनाभ रीतिनिर्णय के भी प्रवर्तक हैं और कुचमार या कुचुमार दोनों विद्याओं के औपनिषदिक अधिकरणों के प्रवर्तक हैं। सम्पूर्ण कामशास्त्र के आदि-संक्षेपक नंदिकेश्वर (महेश्वरानुचर नंदी) काव्यविद्या के रसाधिकारिक के प्रवर्तक हैं। हाल ही में नंदिकेश्वर नामक एक आचार्य का अभिनय-दर्पण भी उपलब्ध हुआ है। राजशेखर का मतलब किस नंदिकेश्वर से है, इसका विवेचन आगे किया जायगा।

भरत का रूपक-निरूपण तो प्रसिद्ध ही है। यह सब देखते हुए यह तो कहना अनुचित ही जान पड़ता है कि राजशेखर की सूची काल्पनिक है। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने किसी प्राचीन परम्परा को ही अपना आधार माना है। ध्यान देने की बात यह है कि राजशेखर के काव्य-विद्यांगों में ध्वनि का नाम नहीं है। पुरानी अलंकारशास्त्रीय पोथियों में ध्वनि या व्यंग्यार्थ की कोई चर्चा नहीं है। नवीं शताब्दी के आरम्भ में आनंदवर्धन नामक एक शक्तिशाली पंडित ने ध्वन्यालोक नामक पुस्तक लिखी और यह स्थापित किया कि ध्वनि ही काव्य की आत्मा है। बिना ध्वनि के काव्य निर्जीव हो जाता है। अलंकार या रीति उसे प्राणवान् नहीं बना सकते। हम इसे भी आगे समझने का प्रयास करेंगे। अब यदि यह सूची काल्पनिक होती तो ध्वनि का नाम इसमें जरूर आता क्योंकि राजशेखर के काल में यह सम्प्रदाय काफी प्रबल हो चुका था। यह कहना ठीक नहीं कि या तो राजशेखर को ध्वनि का पता नहीं होगा या वे उसके विरोधी होंगे क्योंकि काव्य-मीमांसा (पृ० १६) में किसी आनंद

नामक आचार्य का नाम आया है जो वस्तुतः आनंदवर्धन ही हैं। इस बात को काव्यमीमांसा (तृतीय संस्करण पृ० १५६) के विद्वान् सम्पादकों ने सिद्ध कर दिया है। राजशेखर ध्वनि मत के विरोधी होंगे, इस कथन का आसानी से खण्डन किया जा सकता है। हेमचन्द्र के काव्यानुशासन में एक श्लोक राजशेखर के नाम का है जिसमें कहा गया है कि काव्यशास्त्राभिनिवेशमूलक अति गंभीर ध्वनि से आनंदवर्धन ने किसका आनंद-वर्द्धन नहीं किया। श्री राजस्वामी शास्त्री शिरोमणि का अनुमान है कि औक्तिक नामक अंग में राजशेखर ने वाच्य, लक्ष्य, गौण और व्यंजक शब्दों की चर्चा की होगी। इसी अंग में उन्होंने ध्वनि का विचार किया होगा परन्तु जब तक भारतीय काव्य-शास्त्र के सौभाग्य से उक्त अंग नहीं मिल जाता तब तक शास्त्रीजी के अनुमान के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। किन्तु राजशेखर ने काव्यमीमांसा (पृ० १८) में जिस 'उक्ति-कवि' का उदाहरण दिया है उस पर से 'उक्ति' शब्द का ऐसा अर्थ नहीं किया जा सकता जैसा कि शास्त्रीजी ने किया है। स्वयं शास्त्रीजी ने उक्त उदाहरण पर टिप्पणी करते हुए बताया है कि यहाँ उक्ति से सौंदर्यपूर्ण उपस्थापन का तात्पर्य है। इसके लिए कवि को समाधि नामक गुण का आश्रय ग्रहण करना चाहिए (पृ० १८९)। ऐसा जान पड़ता है कि ऊपर की सूची किसी अति प्राचीन काल से चली आती हुई परम्परा से ली गई है। यह परम्परा ध्वनि-सम्प्रदाय के जन्म से पहले की है।

इस प्रसंग में और भी एक ध्यान देने की बात है। राजशेखर के काव्याधिकरणों के साथ रुद्रट के काव्यांगों का बहुत कुछ मेल दिखाया जा सकता है। कविरहस्य, औक्तिक और रीतिनिर्णय के बाद राजशेखर चार शब्दालंकारों और चार ही अर्थालंकारों की चर्चा करते हैं। ये अलंकार इस प्रकार हैं--(१) अनुप्रास, यमक, यमक चित्र और शब्दश्लेष--शब्दालंकार तथा (२) वास्तव, औपम्य, अतिशय और अर्थश्लेष चार अर्थालंकार। नवाँ उभयालंकार भी इसी प्रसंग में याद कर

लिया जा सकता है। अब रुद्रट के शब्दालंकार पाँच हैं। पहला वक्रोक्ति और बाकी हू-ब-हू वे ही जो राजशेखर के हैं (पृ० १३)। इसी प्रकार अर्थालंकार भी रुद्रट के हू-ब-हू वही हैं जो राजशेखर के। उन्हीं नौ अलंकारों के अनेकानेक भेद कल्पित करके रुद्रट ने अपने ग्रन्थ का विस्तार किया है। शब्दालंकारों की चर्चा करने के पहले रुद्रट ने अपने ग्रन्थ में कविरहस्य (प्रथमाध्याय), वाक्य और शब्दभेद तथा रीतियों (२।१-४) का यथाक्रम वर्णन किया है। अब अगर शुरू से ही मान लिया जाय कि राजशेखर और रुद्रट का क्रम एक ही है, जो निःसन्देह है, तो औक्तिक नामक अधिकरण वही हो सकता है जिसे रुद्रट ने वाक्य-शब्द-भेद कहा है। इस प्रकार भी औक्तिक में ध्वनि का अन्तर्भाव कष्ट-कल्पित ही जान पड़ता है। पर एक और भी संभावना है। शायद वक्रोक्ति नामक अलंकार को राजशेखर ने औक्तिक कहा हो। क्योंकि जब आठ अलंकारों की चर्चा हू-ब-हू मिल जाती है तो कोई कारण नहीं कि वक्रोक्ति को त्याज्य समझा गया हो। अब इन ग्यारह-बारह अंगों का रुद्रट के साथ मिल जाना ही इस बात का पक्का प्रमाण है कि राजशेखर की सूची निराधार और काल्पनिक नहीं है। रुद्रट के ग्रन्थों में रस, गुण और दोषों की भी चर्चा है। राजशेखर ने रुद्रट का अनुकरण किया होगा, ऐसा अनुमान करने की अपेक्षा यह अनुमान करना अधिक उचित जान पड़ता है कि दोनों ने एक सामान्य परम्परा से ही अपने ढंग पर काव्यांगों को ग्रहण किया था।

काव्य-विद्याओं के सिलसिले में उक्ति, रीति, शब्दालंकार, अर्थालंकार, उभयालंकार, गुण और दोष आदि बातें अलंकार-शास्त्र के प्रत्येक विद्यार्थी की जानी हुई हैं। यहाँ हमें उनके विषय में कुछ कहने की इच्छा नहीं है। चार बातें राजशेखर ने जो अधिक बताई हैं वे भी नई-सी दिखने पर भी वस्तुतः इस शास्त्र के विद्यार्थियों की अपरिचित नहीं हैं। ये चार बातें हैं— वैनोदिक, रूपकनिरूपणीय, रसाधिकारिक और औपनिषदिक। जो

बात इसमें नई है वह यह कि राजशेखर ने इन अठारहों को बराबर का

दर्जा दे दिया है जब कि आलंकारिकों ने कभी इस अंग को और कभी उस अंग को प्रधान और अन्यान्य को गौण बताया है। इन समस्त अंगों को—जिनमें कई-कई को एक ही अंग में अन्तर्भुक्त किया जा सकता था—अलग-अलग स्वतंत्र अंग मान लेना ही इस परम्परा की प्राचीनता का प्रमाण है। इसीलिए जब हम अपनी चर्चा इस सूची के साथ शुरू करते हैं तो ऐतिहासिक दृष्टि से गलत रास्ते पर नहीं हैं। अपनी चर्चा आरम्भ करने के पहले राजशेखर की गिनाई हुई नई-सी लगनेवाली बातों से हमारा परिचय हो जाना आवश्यक है।

वैनोदिक नाम ही विनोदों से सम्बन्ध रखता है। कामशास्त्रीय ग्रन्थों में मदपान की विधियाँ, उद्यान और जलाशय आदि की क्रीड़ाएँ, मुर्गे और बटेरों (लाब) आदि की लड़ाइयाँ, द्यूत-क्रीड़ाएँ, यक्षरात्रियाँ अर्थात् सुखरात्रियाँ, कौमुदी-जागरण अर्थात् चाँदनी रात में जागकर क्रीड़ा करना आदि को वैनोदिक कहा है (कामसूत्र १—४)। इस अंग के प्रवर्त्तक कामदेव हैं, इस पर पंडितों ने अनुमान लगाया है कि कामशास्त्रीय विनोद और काव्यशास्त्रीय विनोद एक ही वस्तु होंगे। परन्तु कामदेव नामक पौराणिक देवता और वैनोदिक शास्त्र-प्रवर्त्तक कामदेव नामक आचार्य एक ही होंगे, ऐसा अनुमान करना ठीक नहीं भी हो सकता। राजा भोज के सरस्वती-कंठाभरण नामक बृहत् अलंकार ग्रंथ (५।९३-९६) से यह अनुमान और भी पुष्ट होता है कि कामोद्दीपक क्रियाकलाप वस्तुतः ही वैनोदिक समझे जाते होंगे। शारदातनय के भावप्रकाश में दोनों ऋतुओं के लिए जो विलास-सामग्री बताई गई है वह परम्परा बहुत दूर तक, ग्वाल और पद्माकर तक, आकर अपने चरम विकास पर पहुँचकर समाप्त हो गई है। यहाँ यह कह रखना आवश्यक है कि काव्यों को केवल काव्यशास्त्र ने ही नहीं प्रभावित किया है, कामसूत्र ने भी किया है, अतः इन वैनोदिक सामग्रियों का कामशास्त्र से मिलना न तो आश्चर्य का कारण है और न कामशास्त्रीय वैनोदिक प्रकरण और काव्यशास्त्रीय

वैनोदिक प्रकरण की एकता की ही निशानी है। कादम्बरी (कथामुख)

में बाणभट्ट ने, शूद्रकवर्णना के प्रसंग में, कुछ ऐसे काव्य-विनोदों की चर्चा की है जिनके अभ्यास से राजा कामशास्त्रीय विनोदों के प्रति वितृष्ण हो गया था। हमारा अनुमान है कि ऐसे ही विनोद काव्यशास्त्र के विनोद कहे जा सकते हैं। वे इस प्रकार हैं---वीणा-मृदंग आदि का बजाना, मृगया (शिकार), विद्वत्सेवा, विदग्धों या रसिकों की मण्डली में काव्य-प्रबन्धादि की रचना करना, आख्यायिका आदि का सुनना, आलेख्य कर्म या चित्रकारी, अक्षर-च्युतक, मात्रा-च्युतक, विदुमती, गूढ़-चतुर्थ-पद-प्रहेलिका आदि। शूद्रक इन्हीं विनोदों से काल-यापन करता हुआ 'वनिता-संभोग-पराङ्मुख' हो सका था। इनके लक्षण तो चित्र-काव्य के प्रकरण में दिये गये होंगे पर इनके व्यवहार के लिए देश-काल-पात्र आदि की योग्यता का वर्णन इस वैनोदिक प्रकरण में किया गया होगा। उन दिनों इस बात का बड़ा महत्त्व था। दण्डी ने (काव्यादर्श १-१०५) कीर्त्ति प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले कवियों को श्रमपूर्वक सरस्वती की उपासना करने की व्यवस्था दी है, क्योंकि कवित्वशक्ति के दुर्बल होने पर भी परिश्रमी आदमी विदग्ध गोष्ठियों को जानकर विहार कर सकता था।

रूपक-निरूपण के आचार्य भरत हैं, इस विषय में कोई सन्देह नहीं क्योंकि इनका लिखा हुआ 'भारतीय नाट्य-शास्त्र' अपने विषय की पहली पुस्तक है। रूपकों के निरूपण के लिए इससे अधिक बता सकनेवाली पुस्तक दूसरी नहीं है। परन्तु रूपक-निर्णय के सिलसिले में भरत ही सबसे प्रथम जाने हुए आचार्य हैं जिन्होंने 'रस' की इतनी विस्तृत और सुन्दर विवेचना की है। बाद के आचार्यों ने रस पर विचार करते समय एक स्वर से भारतीय नाट्यशास्त्र की आर्या को ही प्रमाण मानकर विवेचना को आगे बढ़ाया है। भरत मुनि ने (ना० शा० ६, १०) रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति और प्रवृत्तियाँ, सिद्धि, स्वर, आतोद्य, गान और रंग को लेकर ही अपना बृहत् शास्त्र रचा है। ऐसी हालत में भरत को ही रस का आदि-प्रवर्तक मानना उचित था। फिर भी राजशेखर ने भरत को रूपक-निरूपण

का आचार्य मानकर भी उन्हीं को जो रस का आदि-प्रवर्त्तक नहीं माना, इसका कोई-न-कोई कारण होना चाहिए। भरत ने (ना० शा० ६, १५-१६) आठ नाट्य रसों का उल्लेख करते हुए कहा है कि इन आठ नाट्य रसों (शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत) को महात्मा द्रुहिण ने कहा है। द्रुहिण ब्रह्मा भी हो सकते हैं और कोई अन्य आचार्य भी। ऐसा जान पड़ता है कि यहाँ ग्रंथकार का मतलब ब्रह्मा से ही है। फिर भी इस विषय में कोई सन्देह नहीं कि भरत को अपने पूर्ववर्ती किसी 'रस' सम्बन्धी ग्रंथ के आचार्य की जानकारी थी। बल्कि यों कहना चाहिए कि 'रस' की कोई परम्परा थी जिसे अपने ग्रंथ में भरत ने अन्तर्भुक्त कर लिया। भारतोय नाट्यशास्त्र के षष्ठ और सप्तम अध्याय में रसों और भावों की व्याख्या हैं। इन दो अध्यायों में जितने आनुवश्य या परम्पराप्राप्त श्लोकों का संग्रह ग्रन्थकार ने किया है उतने सारे ग्रन्थ में भी नहीं हैं। इसी से स्पष्ट है कि इन अध्यायों की सामग्री उन्होंने किसी अन्य मूल से ग्रहण की थी।

अब प्रश्न हैं कि इस परम्परा के प्रवर्त्तक आचार्य कौन थे? राजशेखर से पता चलता है कि ये नंदिकेश्वर थे। नंदिकेश्वर का नाम नाना भाँति से हमारे सामने आया है। भिन्न-भिन्न ग्रंथों में कभी उन्हें संगीत का, कभी कामशास्त्र का, कभी तंत्र का और कभी अभिनय का आचार्य माना गया हैं। 'पञ्चसायक' नामक कामशास्त्रीय ग्रंथ में नन्दीश्वर नामक एक आचार्य का उल्लेख है और 'रतिरहस्य' में तो नंदिकेश्वर नाम ही आता है। इस अध्याय के शुरू में ही बताया गया है कि कामसूत्र में लिखा है कि प्रजापति के कामशास्त्रीय अध्याय का संकलन महादेवानुचर नंदी ने किया था। कामसूत्र की जयमंगला टीका में कहा गया है कि महादेव उमा के साथ देवताओं के एक हज़ार नर्ष तक काम-सुख का अनुभव करते रहे। वासगृह के द्वार पर स्थित नंदी ने इसी लिए कामसूत्र का प्रवचन किया। यदि उक्त टीका की बात को प्रमाण समझें तो

नंदी पौराणिक देवता हैं; जिस अर्थ में हम साधारणतः शास्त्रकार

आचार्य' को ग्रहण करते हैं, वह वे नहीं थे। परन्तु बहुत से ऐतिहासिक आचार्यों को पौराणिक कल्पनाओं में ग्रथित किया गया है, इसलिए हम ऐसा समझ सकते हैं कि नंदीश्वर या नंदिकेश्वर नाम के कोई शास्त्रकार जरूर थे जिन्हें नाम-साम्य के कारण पौराणिक देवता मान लिया गया। नंदिकेश्वर की लिखी एक अभिनय-पुस्तक भी मिली है। यह पुस्तक सन् १८७४ में पूना से सम्पादित हुई थी और अब नये सिरे से अनेक उपयोगी टिप्पणियों के साथ श्री डा० मनोमोहन घोष ने कलकत्ते से प्रकाशित की है। अभिनय-दर्पण, जैसा कि उसके नाम से ही प्रकट है, अभिनय की पुस्तक है। इसमें हाथ, पैर, मुख, दृष्टि आदि की विविध मुद्राओं का वर्णन और विनियोग (अर्थात् किस रस के अभिनय के समय कौन-सी मुद्रा का व्यवहार करना चाहिए) बताया गया है। वेबर के इतिहास से एक गान-सम्बन्धी पुस्तक "नंदिकेश्वरमततालाध्याय" का भी पता चलता है। इस प्रकार नंदिकेश्वर का नाम तीन विषयों के साथ प्रधान रूप से जड़ित है—गान, नाच और काम-शास्त्र। कुछ पंडितों का विश्वास है कि काम-शास्त्रीय आचार्य नंदिकेश्वर ही प्रधान हैं। अभिनय और गान काम-शास्त्रीय विनोद के ही अंग हैं। इन पंडितों ने कहा है कि राजशेखर द्वारा निर्दिष्ट रसाधिकरण के आचार्य नंदिकेश्वर वस्तुतः काम-शास्त्र के ही आचार्य हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि नाट्य-शास्त्र में जब तक 'रसाधिकरण' निपुण भाव से गूंथ नहीं दिया गया था तब तक 'रस' शब्द का अर्थ श्रृंगार-रस ही था। भरत जब कहते हैं कि नाट्य में आठ रस होते हैं तो इसका अर्थ यह लगाया जाता है कि काव्य में नौ या दस रस होते हैं। परन्तु ऊपर की व्याख्या को ध्यान में रखकर अगर इस कथन का अर्थ किया जाय तो इसका अर्थ यह होता है कि अन्यत्र रस एक या दो हो सकते हैं पर नाट्यशास्त्र में आठ होते हैं। ऐसा अर्थ समझने के पक्ष में प्रबल युक्ति यह है कि काव्य में बहुत बाद में चलकर रसों को अन्तर्भुक्त किया गया है। प्राचीन आचार्यों में दण्डी और भामह रस की चर्चा करते ही न हों ऐसा तो नहीं है, पर वे उसे वक्रोक्ति या

स्वभावोक्ति आदि अलंकारों से अधिक महत्त्व नहीं देते। फिर ऐसा एक भी काव्य का विवेचन आलंकारिक नहीं है जो भरत के पहले हुआ हो। सब पर भरत का प्रभाव है। ऐसी हालत में यह कैसे मान लिया जा सकता है कि भरत ने काव्य के रसों को दृष्टि में रखकर ही लिखा था कि "अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः"। जब काव्य के नौ या दस रस उनके सामने थे ही नहीं तो निश्चय ही किसी और शास्त्र के 'रस' से नाट्य रस को अलग करने के लिए उपर्युक्त बात लिखी थी। यह रस क्या था? सम्भवतः यही नंदिकेश्वर का रसराज शृंगार रस था। बड़ी विचित्र बात यह है कि शृंगार रस को ही 'आदिरस' कहा जाता है। बाण भट्ट ने कादम्बरी में 'रसेन शय्यां स्वयमभ्युपागता' श्लोक में 'रस' शब्द का एक अर्थ शृंगार रस ही समझा है।

यह ध्यान देने की बात है कि यद्यपि भारतीय नाट्यशास्त्र के प्रभाववश काव्य-नाट्यशास्त्रीय आठ रसों के साथ एकाध अन्य रस को मिलाकर रसों की संख्या बढ़ा ली गई, परन्तु समूचे काव्य-साहित्य में शृंगार रस का ही प्राधान्य बना रहा। ऐसे अनेक आचार्य हुए जो एकमात्र शृंगार-रस को ही रस समझते रहे। रुद्र भट्ट का शृंगारतिलक ऐसा ही ग्रन्थ है। भोजराज ने अपने सरस्वती-कंठाभरण में यद्यपि दस रस माने हैं, पर अधिक जोर शृंगार पर ही दिया है। विद्याधर (एकावली पृ० ९८) और कुमारस्वामी की गवाही से हम जान सकते हैं कि अपने शृंगार-प्रकाश में राजा भोज ने शृंगार को ही एकमात्र रस माना था। शारदातनय का भावप्रकाश, शिंगभूपाल का रसार्णव और भानुदत्त की रस-मंजरी और रस-तरंगिणी ऐसे ही ग्रन्थ हैं। यह परम्परा बड़ी दूर तक चलती रही। हिन्दी के रीतिकाल में यह अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँची। केशवदास की रसिकप्रिया, तोष की सुधानिधि, चिन्तामणि का कविकुल-कल्पतरु, मतिराम का रसराज, रसलीन के रसप्रबोध और अंगदर्पण, देव की प्रेमचन्द्रिका और रसविलास, भिखारीदास का रसशृंगार और शृंगार-निर्णय और पद्माकर का जगद्विनोद आदि [illegible]

महिमा प्रतिष्ठित करने में अतुलनीय हैं। उत्तरकालीन व्रजभाषा का साहित्य श्रृंगार रस का साहित्य है।

इस विवेचना से सिद्ध होता है कि भरत के पूर्ववर्ती काल में 'रस' शब्द का अर्थ श्रृंगार ही समझा जाता था और यद्यपि परवर्ती आचार्यों के शक्तिशाली ग्रन्थों ने इस अर्थ को बहुत-कुछ दबा दिया था, पर वह बिल्कुल लुप्त कभी नहीं हुआ। कवियों का एक समूह बराबर इस रस को ही एकमात्र या प्रधान रस मानता रहा। हजारों वर्षों की सुदीर्घ परम्परा में इस समूह के कवियों की कभी भी कमी नहीं हुई।

इस प्रकार राजशेखर ने जिस अठारह अंगवाली काव्य-विद्या का उल्लेख किया है उसकी विवेचना से हम इस नतीजे पर पहुँचे कि काव्य के भिन्न-भिन्न अंग किसी युग में यद्यपि समान भाव से महत्त्वपूर्ण माने जाते थे फिर भी आदिरस या श्रृंगार का स्थान उसमें अतुलनीय था। किस प्रकार काव्य में 'रस' प्रधान पद अधिकार पा सका और यह विश्वास किया जाने लगा कि रस ही काव्य की आत्मा है और जहाँ रस है वहीं काव्य है और जहाँ रस नहीं है, वहाँ सब होते हुए भी काव्यत्व नहीं है, यह एक लम्बी कहानी है। हमारी यह इच्छा नहीं है कि 'रस' के सम्बन्ध में जो अति सूक्ष्म विचार किये गये हैं उन्हें यहाँ उपस्थित करें। हमने इस उद्देश्य से इस अध्याय का आरम्भ नहीं किया था। हमारा उद्देश्य प्राचीन आचार्यों की विशेष दृष्टि को समझना था। इस उद्देश्य को सामने रखकर ही हम अब तक की बातें करते रहे हैं। कुछ थोड़ी सी और अवान्तर बातों का उल्लेख किये बिना हमारा उद्देश्य ठीक-ठीक स्पष्ट नहीं होगा, इसीलिए काव्यशास्त्रियों के सबसे प्रसिद्ध और प्रिय विषय 'ध्वनि' की चर्चा अत्यन्त संक्षेप में करके हम आगे बढ़ेंगे। बिना इस सिद्धान्त के समझे 'रस' का वास्तविक महत्त्व समझना कठिन है। यह तो ऊपर ही बताया जा चुका है कि जिन दिनों राजशेखर अपनी काव्यमीमांसा लिख रहे थे उन दिनों आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिष्ठित इस सिद्धान्त की महिमा स्वीकार भी कर चुके थे।

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

साधारणीकरण

साधारणीकरण का अर्थ है काव्य के भावन-द्वारा पाठक या श्रोता का ज्ञान की 'सामान्य भूमि पर पहुँच जाना'--दुष्यंत की शकुन्तला के प्रति रति का भावन करते हुए भाव की उस अवस्था पर पहुँच जाना जहाँ यह रति शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त की रति न रहकर पुरुष की स्त्री के प्रति साधारण रति-मात्र रह जाती है। जो कोई भी शाकुन्तलम् के इस दृश्य को देखता है या पढ़ता है वही उसमें अपने हृदय में स्थित रति का अनुभव करता है। यह किस प्रकार संभव होता है ? इसका विवेचन करते हुए आचार्य शुक्लजी लिखते हैं—"जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। (विषय का) इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है। (चितामणि, साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्य वाद)।" इसी प्रकार साधारणीकरण से शुक्लजी का आशय आलम्बन का साधारणीकरण है।

"तात्पर्य यह है कि आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाव-वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण, सबके भावों का आलम्बन हो जाता है।" इसका अनुवर्ती परिणाम स्वभावतः यह होता है कि पाठक का अपना तादात्म्य आश्रय के साथ हो जाता है। "साधारणीकरण के प्रतिपादन में पुराने आचार्यों ने श्रोता (या पाठक) और आश्रय (भाव व्यञ्जना करने-वाले पात्र) के तादात्म्य को अवस्था का ही विचार किया है।"

इसका संकेत विश्वनाथ में मिलता है। परन्तु यह भट्टनायक और अभिनव का मत नहीं है। उन दोनों ने शब्द-भेद से स्थायी-भाव तथा

विभावादि सभी का साधारणीकरण माना है। केवल विभाव का साधारणीकरण और तदनुसार आश्रय के साथ तादात्म्य उनको मान्य नहीं है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि शकुन्तला, सीता आदि पूज्य व्यक्तियों में सहृदय के लिए रति-भावना करना अनुचित होगा। इसीलिए सहृदय न आलम्बन से प्रेम करता है और न आश्रय से तादात्म्य, क्योंकि उसका यह प्रेम अपना व्यक्तिगत प्रेम नहीं होता। 'न ममेति न परस्येति।' आगे चलकर शुक्लजी कहते हैं कि "कभी-कभी ऐसा होता है कि पाठक या श्रोता की मनोवृत्ति या संस्कार के कारण वर्णित व्यक्ति-विशेष के स्थान पर कल्पना में उसी के समान धर्मवाली कोई मूर्ति-विशेष आ जाती है। जैसे यदि किसी पाठक या श्रोता का किसी सुन्दरी से प्रेम है तो शृंगार रस की फुटकल उक्तियाँ सुनने के समय रह-रहकर आलम्बन रूप में उसकी प्रेयसी की मूर्त्ति ही उसके सामने आयगी।" भट्टनायक और अभिनव गुप्त इसका भी निषेध करते हैं कि हम दुष्यन्त के स्थान पर अपने को और शकुन्तला के स्थान पर अपनी प्रेयसी को देखने लगते हैं। क्योंकि एक तो अपनी रति का प्रकाशन लज्जास्पद है, दूसरे यह भी सम्भव है कि हमारा किसी व्यक्ति-विशेष से प्रेम ही न हो। उस समय शुक्लजी कहते हैं कि हमारे सामने किसी कल्पित सुन्दरी का चित्र आ गया; परन्तु किसी कल्पित सुन्दरी का चित्र आना व्यक्तिगत रति का नहीं, साधारण रति का रूप है। दूसरे यदि भाव मधुर न होकर कटु हैं, जैसे राम का रावण पर क्रोध देखकर मेरा भी अपने शत्रु के प्रति क्रोध जागृत हो जाता है, तो मेरा यह अनुभव प्रत्यक्ष होने के कारण कटु भी होगा। रस इसे नहीं कह सकते। वास्तव में यह सब-कुछ होता तो साधारणीकरण की आवश्यकता ही क्या होती।

अब प्रश्न यह उठता है कि साधारणीकरण किसका होता है? 'मानस' में पुष्प-वाटिका के प्रसंग को पढ़ते हुए मुझे तीन व्यक्तियों की चेतना है—अपने (सहृदय) की, राम (आश्रय) की, और सीता (आलम्बन) की। इनके अतिरिक्त एक अव्यक्त व्यक्तित्व और है—

कवि का। मेरे (सहृदय के) व्यक्तिगत आलम्बन का भी एक अव्यक्त व्यक्तित्व हो सकता है। परन्तु यह चूँकि सभी दशाओं में सम्भव नहीं है, इसलिए इसे छोड़ देते हैं। साधारणीकरण की संभावना दो की ही हो सकती है (क्योंकि मैं तो साधारणीकृत रूप का भोक्ता हूँ) १. आश्रय की और २. आलम्बन की। क्या साधारणीकरण आश्रय का होता है? अर्थात् क्या राम का व्यक्तित्व सभी सहृदयों का व्यक्तित्व हो जाता है—और स्पष्ट शब्दों में क्या सभी सहृदय अपने को राम समझकर रति का अनुभव करते हैं? नहीं। यहाँ शायद आश्रय का व्यक्तित्व प्रेम होने के कारण और भाव मधुर होने के कारण आपको 'हाँ' कहने का लोभ हो जाय। परन्तु जहाँ आश्रय अप्रिय है और भाव कटु है वहाँ उसकी संभावना कैसे हो सकती है? उदाहरण के लिए आश्रय रावण है और वह सीता के प्रति क्रोध प्रदर्शित कर रहा है। वास्तव में आश्रय तो घृणित, क्रूर, नीच, आपके व्यक्तित्व के ठीक विपरीत भी हो सकता है—आप उसके साथ कहाँ तक तादात्म्य करते फिरेंगे? अच्छा आश्रय को छोड़िए, साधारणीकरण नायक का होता है "नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽभवस्ततः" (भट्टतौत)। इसमें क्या आपत्ति है? आपत्ति स्पष्ट है। संस्कृत काव्य का नायक, ऐसे गुणों से विभूषित होता था कि उसके साथ तादात्म्य करना प्रत्येक सहृदय को सहज और स्पृहणीय था, परन्तु आज तो काव्य पर यह प्रतिबन्ध नहीं है। आज अनेक प्रथम श्रेणी के उपन्यासों में नायक का रूप उक्त आदर्श के बिल्कुल विपरीत मिलता है जिसके साथ तादात्म्य आपके लिए न सहज होगा, न स्पृहणीय। उदाहरण के लिए, एक साम्यवादी उपन्यासकार किसी हृदयहीन पूंजीपति को नायक के रूप में हमारे सामने लाकर पूँजीवाद के प्रति अपनी सम्पूर्ण घृणा को उसके व्यक्तित्व में पुंजीभूत कर देता है। उपन्यास व्यक्ति-प्रधान है। क्योंकि उसका उद्देश्य पूँजीवाद की मूल चेतना व्यक्तिवाद के प्रति घृणा जगाना है: नायक असन्दिग्ध रूप में वही घृणित व्यक्ति है परन्तु

क्या आप उससे तादात्म्य कर सकेंगे? यदि ऐसा कर सकेंगे तो यह

उपन्यासकार की घोर विफलता होगी। इस प्रकार मूलतः नायक का भी साधारणीकरण नहीं होता। अब रह जाता है आलम्बन का प्रश्न। क्या आलम्बन का साधारणीकरण होता है? अर्थात् पुष्पवाटिका के प्रसंग में जिस सीता के प्रति राम की रति का अंकुर प्रस्फुटित हुआ, उसके प्रति क्या प्रत्येक सहृदय की भी रति जागृत हो जाती है? क्या राम की प्रिया विश्व-प्रिया बन जाती है? हमारा आस्तिक आचार्य (भट्टनायक आदि) "शान्तं पापं, शान्तं पापं" कह उठता। और उसने स्पष्ट शब्दों में उसका तिरस्कार भी किया है परन्तु क्या ऐसा होता नहीं? क्या पुष्पवाटिका की भी सीता हमारी माता ही बनी रहती है? अगर माता ही बनी रहती है तो यह कहना मिथ्या है कि हम अमिश्रित शृंगार रस का अनुभव कर रहे हैं। हम उसे जब तक प्रेयसी के रूप में नहीं देखेंगे, शृंगार रस की दशा से दूर रहेंगे और इसमें कोई अनौचित्य नहीं है, क्योंकि वह सीता उस वास्तविक सीता से, जिसमें हम मातृ-बुद्धि रखते हैं, सर्वथा स्वतन्त्र है, जब तक कि कवि की प्रेरक अनुभूति में ही मातृ-भावना का मिश्रण न रहा हो। पर ऐसी दशा में जैसा कि तुलसी के शृंगार-चित्रों से स्पष्ट है, हमें अमिश्रित-शृंगार नहीं मिलता : हम काव्य की सीता से प्रेम करते हैं और काव्य की यह आलम्बन रूप सीता कोई व्यक्ति नहीं है जिससे हमको किसी प्रकार का संकोच करने की आवश्यकता हो, वह कवि की मानसी सृष्टि है। अर्थात् कवि की अपनी अनुभूति का प्रतीक है। उसके द्वारा कवि ने अपनी अनुभूति को हमारे प्रति संवेद्य बनाया है। बस। इसलिए जिसे हम आलम्बन कहते हैं वह वास्तव में कवि की अपनी अनुभूति का संवेद्य रूप है। उसके साधारणीकरण का अर्थ है कवि की अनुभूति का साधारणीकरण, जो भट्टनायक और अभिनव गुप्त का प्रतिपाद्य है। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है, अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति की इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सकता है कि वह सभी के हृदय में समान अनुभूति जगा सके तो

पारिभाषिक शब्दावली में हम कहते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति वर्तमान है। अनुभूति सभी में होती है, सभी व्यक्ति उसे यत्किंचित् व्यक्त भी कर लेते हैं, परन्तु उसका साधारणीकरण करने की शक्ति सब में नहीं होती। इसीलिए तो अनुभूति और अभिव्यक्ति के होते हुए भी सब कवि नहीं होते। कवि वह होता है जो अपनी अनुभूति का साधारणीकरण कर सके, दूसरे शब्दों में "जिसे लोक-हृदय की पहचान हो।" यहाँ आकर ये सभी बाधाएँ आप दूर हो जाती हैं कि किसी आश्रय का व्यक्तित्व हमारे विपरीत है, या कोई नायक हमारे घृणा और क्रोध का विषय है, अथवा किसी आलम्बन के प्रति हमारा भाव-विशेष अनुचित है। आश्रय-रूप रावण यदि कहीं राम की भर्त्सना करता है तो क्या हुआ? हमारी रसानुभूति में कोई बाधा नहीं आती क्योंकि हमारे अन्तर में तो वही अनुभूति जागेगी जो कवि ने इस प्रतीक-द्वारा व्यक्त की है। माईकेल को रावण से सहानुभूति है इसीलिए मेघनाद-वध का यह प्रसंग हमारे हृदय में रावण के लिए सहानुभूति और राम के प्रति तुच्छ भाव जागृत करेगा। तुलसी को यदि राम के प्रति भक्ति और रावण के प्रति घृणा है तो यह प्रसंग उसी के अनुकूल हमारे लिए रावण को उपहास या तुच्छ भाव या घृणा का विषय बनाकर राम के प्रति हमारी भक्ति जागृत करेगा। हमको रस दोनों ही अवस्थाओं में आयगा। इसी प्रकार यदि साम्य-वादी लेखक के उपन्यास का पूँजीपति नायक अपनी कुत्साओं में जघन्य है, तो हुआ करे, हम उससे तादात्म्य थोड़ा ही स्थापित करते हैं। हम (हमारी अनुभूति) लेखक (की अनुभूति) से तादात्म्य स्थापित करते हैं, अतएव हम लेखक की तरह ही उसकी जघन्यता के प्रति अपनी घृणा और क्रोध जागृत कर उपन्यास का रस लेंगे। ठीक इसी तरह यदि सीता में हमारी परम्परागत पूज्य बुद्धि है तो हो। यह सीता नहीं है, यह तो कवि की अनुभूति की ही प्रतीक है। तुलसी को यदि उसके प्रति अमिश्रित रति की अनुभूति न होकर श्रद्धा-मिश्रित रति की अनुभूति होती है तो हमको भी वैसी ही होगी। हम राम से तादात्म्य न कर तुलसी से ही

तादात्म्य कर पायेंगे। ऐसी दशा में हमको रसानुभूति तो होगी पर अमिश्रित श्रृंगार की नहीं। इसके विपरीत कुमार-संभव या रीति-कालीन राधाकृष्ण-प्रेम-प्रसंगों को पढ़कर यदि हमें अमिश्रित श्रृंगार की अनुभूति होती है तो उसका कारण यही है कि तुलसी के विपरीत कालिदास या रीति युग के कवि की तद्विषयक अनुभूति रति की ही अनु-भूति थी! उसमें कोई मानसिक ग्रन्थि नहीं थी। यह सीधा सत्य है जिसे एक ओर साधारणीकरण के आविष्कारक भट्टनायक और अभिनव गुप्त भारत की अव्यक्तिगत काव्य-परम्परा के कारण, दूसरी ओर आधुनिक आलोचना में उसके सबसे प्रबल पृष्ठपोषक शुक्लजी अपनी वस्तु-सीमित दृष्टि के कारण स्पष्ट रूप में व्यक्त नहीं कर पाये।

अगर आप ऊब न गये हों तो आइए एक और आवश्यक प्रश्न का समाधान कर लिया जाय। साधारणीकरण कवि के लिए किस प्रकार संभव होता है? वह किस प्रकार अपनी अनुभूति का साधारणीकरण करता है? स्वदेश-विदेश के पण्डितों ने इसके दो उत्तर दिये हैं—१. साधारणी-करण भाषा का धर्म है। २. साधारणीकरण का मूलाधार मानव-सुलभ सहानुभूति है जो सभी मनुष्यों के हृदय में एक-तार अनुस्यूत है।

पहले उत्तर में भट्टनायक और अभिनव गुप्त की ध्वनि है। भट्ट-नायक काव्य को (काव्यमय शब्द में) ही एक ऐसी 'भावकत्व' शक्ति मानते हैं जिससे कि भाव का आपसे आप साधारणीकरण हो जाता है। अभिनव गुप्त शब्द में भावकत्व की कल्पना को निराधार मानते हुए शब्द की सर्व-प्रधान शक्ति, व्यंजना में साधारणीकरण की सामर्थ्य मानते हैं। विदेश के पण्डित भी भाषा को ऐसे ज्ञान और भाव-प्रतीकों का समूह मानते हैं, जो उन विशेष ज्ञान-खण्डों और भावों को समान रूप से सबकी चेतना में जगा सके। ज्ञान और भाव वास्तव में एक दूसरे के विपरीत न होकर चेतना के दो स्थान हैं: ज्ञान पहला स्थान है, भाव दूसरा। कभी तो ऐसा होता है कि कोई प्रतीक-विशेष, हमारी चेतना में किसी वस्तु का ज्ञान-मात्र ही जगाकर रह जाता है और कभी ज्ञान के आगे

उसका 'भावन' भी करा देता है। भाषा के ये ही दो प्रयोग हैं। एक वह जिसमें प्रतीक केवल ज्ञान जगाते हैं, दूसरा वह जिसमें भाव भी जगाते हैं। पहला प्रयोग हम सभी साधारणत: व्यवहार में लाते हैं, दूसरा केवल भाव-दीप्त क्षणों में—जब हमारे अपने भाव प्रतीकों पर आरूढ़ होकर उन्हें इतना भावमय बना देते हैं कि उनमें सुननेवालों के हृदयों में भी समान भाव उद्‌बुद्ध करने की शक्ति आ जाती है। तात्पर्य यह है कि शब्दों को भावोद्दीपन करने की शक्ति मूलत: हमारे भावों से ही प्राप्त होती है। अब यदि आप पूछें कि एक व्यक्ति का भाव दूसरों के हृदयों में समान भाव कैसे उत्पन्न कर देता है तो इसका उत्तर यही है कि मूलत: सम्पूर्ण मानवता एक चेतना से चैतन्य है। मानव मानव के हृदय में—भारतीय दर्शन तो चराचर को भी अपनी परिधि में समेट लेता है—चेतना का एक ऐसा तार अनुस्यूत है जो एक स्थान पर भी स्पर्श पाकर समग्रत: झंकृत हो जाता है। आपको चाहे उस कथन में रहस्य-वाद की गन्ध आये, परन्तु मनोविज्ञान, शरीर-शास्त्र और अध्यात्म अभी इससे आगे नहीं बढ़ पाये हैं।

अतएव साधारणीकरण का कारण है भाषा का भावमय प्रयोग। भाषा का भावमय प्रयोग प्रयोक्ता की अपनी भावशक्ति पर निर्भर रहता है और प्रयोक्ता के भावों की संवेदन-शक्ति का आधार है, मानव-सुलभ सहानुभूति।

भाव-शक्ति थोड़ी-बहुत सभी में होती है। इसलिए साधारणी-करण की भी शक्ति थोड़ी-बहुत सभी में होती है; अन्यथा जीवन की स्थिति ही संभव नहीं। परन्तु साधारणीकरण की विशेष शक्ति उसी व्यक्ति में होगी जिसकी भाव-शक्ति विशेष रूप से समृद्ध हो, जिसकी अनुभूतियाँ विशेष रूप से सजग हों। ऐसा ही व्यक्ति भाषा का भावमय प्रयोग कर सकता है, अर्थात् अपने समृद्ध भावों के बल पर उनके प्रतीकों को सहज ही ऐसी शक्ति प्रदान कर सकता है कि वे दूसरों के हृदयों में भी समान भाव जगा सकें। ऐसा ही व्यक्ति कवि है। —डॉ० नगेन्द्र

हिन्दी-कविता और छन्द

नये छन्दों का जन्म तथा पुराने छन्दों का ग्रहण कवि के हृदय में चलनेवाले भाव-संकटों के अनुसार होता है। भावनाएँ अपनी ऐंठन के अनुरूप यति तथा प्रवाह खोजती हैं। उमड़ते हुए पुष्ट एवं सुस्पष्ट भाव पुष्ट एवं सुस्पष्ट छन्दों में व्यक्त होते हैं तथा रुक-रुककर या सिसक-सिसककर चलनेवाले मनोवेग अभिव्यक्ति के क्रम में अधिक यतियों की अपेक्षा करते हैं। गर्जमान विचारों की सुष्ठु अभिव्यक्ति प्रवाहपूर्ण तथा बलशाली छन्दों में एवं करुणा की अभिव्यक्ति पग-पग पर रुकते हुए मन्दगामी छन्दों में सुन्दर होती है। छन्दों के भीतर से कवि की मनोदशा भी व्यंजित होती है। प्रबन्ध-काव्यों का रचयिता, जिसे कई पृष्ठों तक एक ही मनःस्थिति में रहकर चरित्र-चित्रण अथवा रस-विशेष की निष्पत्ति के लिए प्रयास करना पड़ता है, बार-बार छन्द नहीं बदल सकता। उसी प्रकार विभिन्न भावों पर रीझनेवाला गीतिकार एक ही छन्द में अधिक काल तक ठहर नहीं सकता। अपने मनोवेगों के अनुसार उसे बार-बार विभिन्न छन्दों का चुनाव करना पड़ता है। जहाँ पूर्व-प्रयुक्त छन्द उसकी मनोदशा के अनुरूप नहीं पड़ते वहाँ वह पुराने छन्दों में कतर-व्योंत करके अपने योग्य नये छन्दों की सृष्टि कर लेता है। इसी सिलसिले में जब स्वच्छन्द-विहारी भाव अपने पंखों को समेटकर छन्दों के नियम-बन्ध के भीतर नहीं समा सकते तब छन्दोबन्ध टूट जाते हैं और मनोवेग निर्बन्ध होकर अपने स्वाभाविक प्रवाह और यतियों के साथ नृत्य करते हुए बाहर निकलने लगते हैं।

कहते हैं, प्रत्येक कवि जीवन भर में एक ही कविता लिखता है; अर्थात् प्रत्येक कवि की सारी रचनाओं के भीतरं कोई एक ही सूत्र व्याप्त रहता है तथा उसकी सभी कविताओं के पीछे एक ही तरह का

मनोदशा बराबर उपस्थित रहती है। यही कारण है कि दो प्रमुख कवि छन्दों के चुनाव के कार्य में प्रायः भिन्न हुआ करते हैं। अपनी भाषा की विशेषता, समय-समय पर उठनेवाले अपने विचारों के समधिक साम्य तथा मन में बस जानेवाली लय के अनुसार वे प्रायः कुछ विशिष्ट प्रकार के छन्दों की अनिवार्यता का अनुभव करते हैं और रचना के समय लाचार होकर उन्हें इन्हीं कुछ विशिष्ट जातियों में से अपने मनोवेग के लिए वाहन चुनना पड़ता है अथवा उन्हीं में से किसी एक के वजन पर नये छन्द का निर्माण करना पड़ता है। जैसे दो कवि मनोदशाओं की भिन्नता के कारण दो भिन्न जातियों के छन्दों को अधिक पसन्द करते हैं उसी प्रकार दो भिन्न युग भी अपनी-अपनी समकालीन मनोदशाओं के अनुरूप भिन्न-भिन्न वर्गों के छन्दों को प्रश्रय देते हैं। हिन्दी-साहित्य में रोला, छप्पय, दोहा और कवित्त कुछ ऐसे छन्द हैं, जो समधिक रूप से सभी कालों में प्रयुक्त हुए हैं; किन्तु इसके विपरीत बहुत-से ऐसे छन्द भी हैं, जो एक काल में प्रमुखता प्राप्त करके फिर सदैव के लिए पीछे छूट गये। पंचचामर और अमृतध्वनि, ये दो छन्द उस समय बहुत अधिक प्रचलित थे जब देश-भाषाएँ अपभ्रंश से निकल रही थीं। स्वयं छप्पय भी वीर-रस के कवियों के हाथों में जितना समादृत हुआ उतना अन्यत्र नहीं। नन्ददास के "भ्रमरगीत" में प्रयुक्त रोला तथा चान्द्रायण-मिश्रित छन्द का प्रयोग उसी काल में रुक गया तथा तब से लेकर आज तक के इतिहास में वह केवल दो बार और प्रयोग में आया है। एक बार तो स्व० बाबू राधाकृष्णदास की 'प्रताप-विसर्जन'-नाम्नी कविता में तथा दूसरी बार कविरत्न सत्यनारायण-विरचित 'भ्रमर-दूत' में। विचित्रता की बात तो यह है कि इन तीनों रचनाओं के भीतर एक ही प्रकार की मनोदशा विद्यमान है। कवित्त और सवैयों का व्यापक प्रयोग भक्ति-काल में आरम्भ हुआ तथा रीतिकाल आते-आते वह कवियों के सामने अभिव्यक्ति का

प्रायः एकमात्र माध्यम बन गया। कवित्त और सवैया, विशेषतः आशा, उत्साह और आनन्द के छन्द हैं तथा इनमें उन भावों की पुष्ट अभिव्यक्ति होती है जो साधारणतः विषाद से सम्बन्ध नहीं रखते। इसके सिवा, इनके अन्त्यानुप्रास अन्य छन्दों की अपेक्षा अधिक जमते हैं तथा प्रत्येक बन्द में चमत्कारपूर्ण यति और प्रवाह के कारण इनका पाठ भी अत्यन्त प्रभावोत्पादक होता है। ये छन्द किसी न किसी रूप में सभी युगों में प्रचलित रहे हैं और महाकवियों से लेकर भाटों तक ने इनका सफलतापूर्वक उपयोग किया है। सच पूछिए तो यह छन्द हिन्दी का कल्पवृक्ष रहा है तथा इसने कभी भी किसी याचक को निराश नहीं किया। जिसने भी इस छन्द में अपनी कोई बात कही, अच्छी तरह कही। कभी ऐसा न हुआ कि इस छन्द के चुनाव के कारण किसी को पश्चात्ताप करना पड़ा हो।

कवित्त और सवैये का प्रभुत्व प्रायः भारतेन्दु-युग तक बना रहा। भारतेन्दुजी तथा उनके समकालीन सहकर्मियों ने इन छन्दों का खूब ही उपयोग किया। किन्तु जब खड़ी बोली का आन्दोलन उठ खड़ा हुआ तब कवित्त और सवैये के भी पाँव डगमगाने लगे और हिन्दी-कविता के क्षेत्र में कई ऐसे छन्दों का प्रवेश हुआ जो अब तक प्रायः त्यक्त अथवा उपेक्षित-से थे।

खड़ी बोली के काव्य-भाषा के रूप में स्वीकृत होने का केवल यही कारण नहीं था कि लोग गद्य और पद्य की भाषा को एक कर देना चाहते थे, प्रत्युत, यह भी कि परिस्थितियों में घोर परिवर्तन हो जाने के कारण कवियों की मनोदशा भी बदल गई थी। उनके सोचने का ढंग परिवर्तित हो गया था और वह अवस्था भी बदल गई थी जब कवि दरबारों का भली भाँति मनोरंजन करके ही अपनी कला को सफल मान लेते थे। अब दरबार उजड़ गये थे और कवियों को धीरे-धीरे ज्ञात हो रहा था कि उनका एकमात्र सच्चा श्रोता विशाल जन-समुदाय ही है। उनकी वृत्तियाँ रीति-कालीन कवियों की अपेक्षा

अधिक वास्तविक तथा गम्भीर हो रही थीं और वे कविता के सामाजिक उद्देश्य की ओर उन्मुख होने को विवश हो रहे थे। रीतिकाल में कविता को सदैव प्रसन्न रहने की जो आदत पड़ गई थी उसका निर्वाह अब असम्भव था; क्योंकि उसका लीला-क्षेत्र अब जिस जनता के विशाल प्रांगण में उतर आया था उसके सुख-दुःख का प्रभाव कविता पर पड़ना स्वाभाविक था। प्रसन्न रहने की मुद्रा गम्भीर अथवा विषण्ण होने की मुद्रा से भिन्न होती है तथा एक ही छन्द दोनों मुद्राओं को व्यक्त करने में समान रूप से सफल नहीं हो सकता।

खड़ी बोली के आरम्भिक काल में छन्दों के क्षेत्र में हम एक प्रकार का कोलाहल-सा पाते हैं। मालूम होता है कि पहले खड़ी बोली की कविता को भी पुराने वाहनों पर ही ले चलने की चेष्टा हुई; किन्तु दीर्घकालीन संगति के कारण ये छन्द व्रजभाषा के मोह को एकदम नहीं छोड़ सकते थे तथा इनकी संगति से कभी-कभी खड़ी बोली के तन में व्रज के दधि और मधु के छींटे लग ही जाते थे। फिर वे नई-नई भावनाएँ और नये-नये दृष्टिकोण भी अपना काम, अज्ञात रूप से, कर रहे थे जिनकी अभिव्यक्ति के लिए व्रजभाषा का त्याग और खड़ी बोली का ग्रहण आवश्यक हो गया था। अतएव अभिव्यक्ति का नया माध्यम ढूंढ़ने की चिन्ता तत्कालीन प्रत्येक कवि की रचना में आभासित मिलती है। कवित्त, जो निरालाजी के शब्दों में हिन्दी का जातीय छन्द है, यहाँ भी कवियों के साथ रहा; किन्तु और भी कितने ही उपेक्षित छन्द प्रयोग में आने लगे। वीर छन्द का प्रयोग पहले आल्हा और कजली के अनुकरण पर आरम्भ हुआ; किन्तु शीघ्र ही यह खड़ी बोली के स्वभाव के अनुकूल पाया गया और इसमें शुद्ध साहित्यिक रचना भी होने लगी। भारतेन्दु-युग की यह भी एक प्रमुख विशेषता थी कि हिन्दी-कवियों ने, पहले-पहल इसी युग में, जन-सम्पर्क में आने की आवश्यकता का अनुभव किया और स्वयं

भारतेन्दुजी ने इस सम्बन्ध में एक छोटा-मोटा आन्दोलन भी चलाया

था। इसी आन्दोलन का यह परिणाम था कि लोक-गीतों में प्रयुक्त होनेवाले कुछ छन्द साहित्य में गृहीत हुए और धीरे-धीरे उनका ग्राम्य रूप परिष्कृत होकर साहित्यिक बन गया। वीर, ताटंक और ककुभ छन्द, जो हिन्दी में आज इतनी सफलता और व्यापकता के साथ चल रहे हैं, पहले-पहल भारतेन्दु-युग में ही आदर के साथ साहित्य में लाये गये और द्विवेदी-युग में आते-आते उनका रूप बहुत ही परिष्कृत हो गया। दूसरा छन्द लावनी है जिसका साहित्यिक रूप राधिका नाम से पिंगल-ग्रन्थों में मिलता है। यह छन्द भी भारतेन्दु और द्विवेदी-युग में बहुलता के साथ प्रयुक्त हुआ तथा खड़ी बोली के भावों को वहन करने के सर्वथा उपयुक्त प्रमाणित हुआ। इसके सिवा रामचरित-मानस की हरिगीतिका तथा उसका दूसरा रूप गीतिका, ये दोनों छन्द भी बहुत जोर से चलने लगे। उर्दू में खड़ी बोली का उपयोग काव्य-भाषा के रूप में बहुत दिनों से चला आ रहा था। अतएव यह उचित ही था कि भारतेन्दु से लेकर द्विवेदी-युग तक के कवि प्रयोग के निमित्त उर्दू बहरों पर भी हाथ आजमाते। दीनजी ने अपने वीर-पंचरत्न में तथा अन्यत्र भी कई प्रकार के उर्दू छन्दों का प्रयोग किया। उर्दू छन्दों का मोह उनमें बहुत अधिक मात्रा में था; यहाँ तक कि हरिगीतिका और विधाता छन्दों में तत्सम-संवलित भाषा लिखते हुए भी वे हिन्दी की अपेक्षा उर्दू छन्दों की आत्मा के ही अधिक समीप रहते थे तथा अंत्यानुप्रास चुनते हुए, प्रायः उनका ध्यान काफिया और रदीफ (अन्त्यानुप्रास एवं उपान्त्यानुप्रास) पर भी रहता था। इस काल के प्रायः सभी कवियों में यह चिन्ता परिलक्षित होती है कि खड़ी बोली की आत्मा किस प्रकार के छन्दों में अपना पूरा चमत्कार दिखला सकेगी। लेकिन आश्चर्य की बात है कि अठारहवीं सदी में शीतल कवि ने शुद्ध ध्वनि के वजन पर जिस चमत्कारी छन्द का अद्‌भुत प्रयोग किया था उसकी ओर किसी कवि का ध्यान पूर्ण रूप से आकृष्ट नहीं हुआ। अलबत्ता, बहुत बाद में,

दुर्भाग्यवश, इस छन्द की शक्ति का पता कथावाचक राधेश्यामजी को चल गया और उन्होंने इसकी दुर्गति कर डाली।

द्विवेदीजी हिन्दी में उतरने के पहले मराठी से परिचित हो चुके थे जिस भाषा में संस्कृत के वर्णिक छन्दों का खुलकर उपयोग हो रहा था। इधर खड़ी बोली में तत्सम शब्दों के प्रचार से, स्वभावतः ही, कवियों को संस्कृत वृत्तों का ध्यान आया तथा ऐसे वृत्त बड़े जोर से लिखे जाने लगे। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की अधिकांश कविताएँ गण अथवा वर्ण-वृत्तों में हैं। संस्कृत श्लोकों के विपरीत उन्होंने इन वृत्तों को हिन्दी में अन्त्यानुप्रास से युक्त कर दिया था। कदाचित् उनका यह विचार रहा हो कि इस प्रकार ये वृत्त हिन्दी में खप जायँगे। अन्त्यानुप्रास-युक्त वृत्तों की रचना का उदाहरण मैथिली-शरणजी गुप्त, कन्हैयालाल पोद्दार तथा राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' की कृतियों में भी मिलता है। लेकिन तुक पर सिर मारने के इस प्रयास से भी इन वृत्तों का अजनबीपन नहीं मिटा, न इनमें अपेक्षित चमत्कार ही उत्पन्न हो सका। गण तथा वर्णिक वृत्तों का सफल प्रयोग सबसे पहले प्रियप्रवास काव्य में आ तथा उसके बाद अब तक भी किसी कवि को वह सफलता नहीं मिल सकी है जो हरिऔधजी को मिली थी।

संस्कृत-छन्दों का प्रयोग हिन्दी में अब भी चल रहा है तथा साकेत में संस्कृत के कई मात्रिक छन्द अद्भुत सफलता के साथ प्रयुक्त हुए हैं। इस काव्य में मैथिलीशरणजी ने वियोगिनी को तो ऐसा आत्मसात् किया है कि यह शंका ही नहीं उठती कि यह छन्द हिन्दी का अपना छन्द नहीं है। साकेत में आर्या का भी बहुत ही सुन्दर प्रयोग हुआ है तथा भाषा के चमत्कार-प्रदर्शन में उससे कोई विशेष रुकावट नहीं हुई है। एक-आध बार 'मनोरमा' पत्रिका के अंकों में पं० गिरधर शर्मा-जी नवरत्न की 'अश्वधाटी' में देखी गई थी, लेकिन उसका प्रयोग खड़ी बोली में और कहीं नहीं मिलता। हाँ, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी

की 'विहार-वाटिका' के पहले वृत्त में अश्वधाटी में चरणान्तर्गत

तीन अनुप्रासों के उदाहरण मिलते हैं, यद्यपि यह वृत्त अश्वधाटी न होकर स्रग्धरा का है। उक्त वृत्त की एक पंक्ति यह है जो अश्वधाटी से मिलती-जुलती है :—

"माता अंभोज-गाता सकल फल-दाता श्रीस्वरूपा भवानी।"

स्वर्गीय जायसवालजी को भी संस्कृत-वृत्तों का बड़ा मोह था और जब-तब वे इन वृत्तों में कुछ न कुछ कह लिया करते थे। हम लोगों को भी उनकी ओर से सदैव यह प्रेरणा मिला करती थी कि संस्कृत-वृत्तों का प्रयोग हिन्दी में होना चाहिए तथा हमारे लिए उन्हें यह समझना कठिन हो जाता था कि हमारी मनोदशाएँ ऐसी हो गई हैं जिनका संस्कृत-वृत्तों के साथ बहुत ही अल्प सामंजस्य है।

हिन्दी-छन्दों की विवेचना के सिलसिले में स्वर्गीय पं० नाथूराम शर्मा 'शंकर' का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाना चाहिए। उनका मात्रिक छन्दों के साथ-साथ गण एवं वर्ण-वृत्तों पर भी प्रबल अधिकार था और सबसे बड़े श्रेय की बात तो यह है कि उनके अधिकांश छन्दों में समसंख्यक मात्राओं के साथ वर्ण भी समसंख्यक ही प्रयुक्त हुए हैं। उदाहरण के लिए 'केरल की तारा' में से ये पंक्तियाँ लीजिए :—

गोल गुदकारे कपोलों को कड़ी उपमा न दी,
पुलपुली मोयन पड़ी फूली कचौरी जान ली।

यह २६ मात्राओं का मात्रिक गीतिका छन्द है, किन्तु दोनों पंक्तियों में वर्ण भी सतरह ही हैं। यह तो मात्रिक छन्द का उदाहरण हुआ। उनके वर्णिक छन्द में भी मात्राएँ सम-संख्यक होकर आई हैं। यथा—

कंचुकी कुंज पतान की ओट दुरे लट नागिन के डर पाये,
देखि छिपे छिपके पकड़े धर 'शंकर' बाल मराल के जाये।

यह मत्तगयन्द नामक वर्णिक सवैया छन्द है जिसमें सात मगण के बाद दो गुरु पड़ते हैं। इसकी प्रत्येक पंक्ति में वर्णों की संख्या २३ तथा मात्राओं की ३४ है।

छन्दों के सम्बन्ध में शंकरजी की श्रुति-चेतना बड़ी ही सजीव थी

उन्होंने कितने ही हिन्दी एवं उर्दू-छन्दों के मिश्रण से नये छन्द निकाले और उनका नामकरण भी किया जो अधिकतर राजगीति के नाम से प्रसिद्ध हैं।

छन्दों के क्षेत्र में सबसे बड़ी क्रान्ति छायावाद-युग में हुई। हिन्दी के हृदय में नवीनता की जो प्रवृत्तियाँ ऊँघ रही थीं, वे बीसवीं सदी के पहले बीस वर्ष बीतते न बीतते उठकर खड़ी हो गईं और अपनी अभिव्यक्ति के लिए एकदम नवीन माध्यम ढूँढ़ने लगीं। निरालाजी ने जब छन्दोबन्ध का भंग किया उसके पहले ही पिंगलाचार्य के निर्धारित बन्धन शिथिल हो चुके थे और कविता, विशेषतः, लय के प्रवाह में चलने लग गई थी। छायावादयुगीन मनोदशा किसी एक भाव-धारा से नहीं निकली थी, प्रत्युत उसमें विभिन्न भावों का संयोग था। उसके भीतर राजनीति का ताप भी था और समाज का क्षोभ भी; नई सृष्टि रचने की उमंग भी थी और रूढ़ियों को तोड़ फेंकने का उन्माद भी। और सबसे बढ़कर उसमें उस व्यक्तिवादी पुरुष की आत्मप्रियता थी जो प्रत्येक वस्तु को परम्परा, इतिहास तथा बाह्य जगत् से छिन्न करके केवल अपनी ही दृष्टि से देखना चाहता था। जब ऐसी स्वच्छन्द मनोदशा काव्य में उतरने लगी तब यह स्वाभाविक ही था कि वह छन्दों के निर्धारित नियमों की अवहेलना करे, एक ही रचना में विभिन्न छन्दों का उपयोग करे तथा छन्दों के परम्परागत रूप को इस प्रकार मोड़ दे कि भावाभिव्यक्ति मनोदशा के अधिक से अधिक अनुकूल हो जाय।

छन्दोबन्ध से कविता को मुक्त करनेवालों में निरालाजी सर्ववरेण्य हैं और हिन्दी-साहित्य के इतिहास ने इसका सुयश भी उन्हें ही दिया, जो योग्य भी है। 'परिमल' की भूमिका में निरालाजी ने यह विचार किया है कि हिन्दी में सर्वप्रथम मुक्तछन्द का श्रीगणेश किसने किया। कहते हैं, सर्वप्रथम प्रसादजी ने एक तरह का अतुकान्त छन्द लिखा था, जिसका प्रयोग बाद को उनके कई नाटकों तथा अस्फुट कविताओं

में भी हुआ। उसी छन्द में पं० रूपनारायण पाण्डेय ने भी कुछ पद्य रचे थे और आगे चलकर तो वह छन्द और भी आम हो गया तथा मंगलप्रसाद विश्वकर्मा, भगवतीचरण वर्मा आदि कई कवियों ने विभिन्न स्थलों पर उसका उपयोग किया। उस छन्द की दो पंक्तियाँ ये हैं--

कहना होगा सत्य तुम्हारा; किन्तु मैं
करता हूँ विश्वास तुम्हारी बात का।

लेकिन यह स्वच्छन्द छन्द का उदाहरण नहीं है। सच पूछिए तो यह २१ मात्रा का अतुकान्त छन्द है और छन्दों को अतुकान्त कर देने से ही उसमें वह स्वच्छन्दता नहीं आ सकती जो निरालाजी का उद्देश्य रही है। इसके सिवा यह ३० मात्रा के ककुभ या वीर छन्द का ही एक टुकड़ा है जो मूल में से ९ मात्राएँ घटाकर बनाया गया है। उदाहरण के लिए अगर दूसरी पंक्ति को ककुभ में परिवर्तित करने की कोशिश की जाय तो चरण का रूप यह हो जायगा :—

करता हूँ विश्वास तुम्हारी बात का (कि तुम आओगे)

मेघनाद-वध के अनुवाद में प्रयुक्त छन्द भी मुक्त-छन्द का उदाहरण नहीं माना जा सकता; क्योंकि वह भी शुद्ध वर्णिक छन्द है तथा वह कवित्त के आधे चरण को लेकर बनाया गया है। उसकी भी विशेषता केवल उसका अतुकान्त होना ही है, जो प्रियप्रवास तथा द्विवेदीयुगीन संस्कृत-वृत्त में लिखी हुई ढेर-की-ढेर कविताओं में पाई जाती है। निरालाजी के मतानुसार "मुक्त छन्द तो वह है, जो छन्द की भूमि में रहकर भी मुक्त है।.....मुक्ति का अर्थ है बन्धनों से छुटकारा पाना। यदि किसी प्रकार का श्रृंखलाबद्ध नियम कविता में मिलता गया, तो वह कविता उस श्रृंखला से जकड़ी हुई ही होती है; अतएव उसे हम मुक्ति के लक्षणों में नहीं ला सकते, न उस काव्य को मुक्त-काव्य कह सकते हैं।" इस दृष्टि से यह बात बिना किसी विवाद के मान ली जानी चाहिए कि हिन्दी में मुक्त-छन्द के जन्मदाता

निरालाजी हैं। उन्हें मुक्त-छन्द की प्रेरणा कहाँ से मिली, इस विचिकित्सा मे भी उनके श्रेय में कोई कमी नहीं आ सकती। सम्भव है, अँगरेजी के ब्लैंक वर्स का उन पर प्रभाव पड़ा हो। सम्भव है, माइकेल मधुसूदन दत्त, गिरिजाकुमार घोष या मोहितलाल मजुमदार के स्वच्छन्द छन्दों ने उन्हें मुक्त-छन्द की ओर प्रेरित किया हो अथवा यह भी सम्भव है कि अपनी ही पसन्द की यति और प्रवाह में निःसृत होने के लिए उनके उन्मादक भावों ने हठ किया हो जिसके परिणामस्वरूप उनकी जिह्वा से मुक्त-छन्द की निर्झरिणी फूट पड़ी।

कारण चाहे जो भी हो, किन्तु निरालाजी ने छन्द के क्षेत्र में जितना काम किया, उतना उनके किसी भी समकालीन कवि से नहीं बन पड़ा। बदनाम तो निरालाजी इसी लिए हुए कि उन्होंने छन्दों का बन्धन तोड़कर उसका निरादर किया; लेकिन किसी ने अब तक भी यह नहीं बताया कि नये भावों की अभिव्यक्ति के लिए छन्दों का अनुसन्धान करते हुए उन्होंने कितने पुराने छन्दों का उद्धार तथा कितने नवीन छन्दों की सृष्टि की है। अपनी लय-चेतना के बल पर बढ़ते हुए उन्होंने तमाम हिन्दी-उर्दू छन्दों को ढूँढ़ डाला है तथा कितने ही ऐसे छन्द रचे हैं जो नवयुग की भावाभिव्यंजना के लिए बहुत ही समर्थ हैं। परिमल की 'निवेदन' शीर्षक कविता की पंक्ति 'एक दिन थम जायगा रोदन तुम्हारे प्रेम-अंचल में' उनके ऐसे ही प्रयास का फल है। यह छन्द हिन्दी के २८ मात्रा के विधाता छन्द तथा उर्दू की बहर "मफाईलुन मफाईलुन मफाईलुन मफाईलुन" (उठाये कुछ वरक लाले ने कुछ नरगिस ने कुछ गुल ने) के साम्य पर बनाया गया है; किन्तु पहले शब्द 'एक' के 'ए' में दो मात्राएँ अलग से जोड़ देने से छन्द की गम्भीरता बढ़ गई है तथा उससे उर्दू-बहर के हलकेपन का दोष दूर हो गया है। इसका साधारण प्रवाह भी उर्दू की बहर से ईषत् भिन्न तथा उसका यह नवीन संशोधित रूप शान्त मनोदशा की अभि-

व्यक्ति के बहुत ही अनुकूल हो गया है। प्रवाह स्वाभाविक रूप से

संगीतमय है तथा जहाँ 'अंचल में' कहकर विराम आता है वहाँ ऐसा लगता है कि लय का टुकड़ा उछलकर किसी दिव्यता में लुप्त हो गया हो।

उर्दू-छन्दों का परिष्कृत रूप निरालाजी की अनेक कविताओं में प्रकट हुआ है तथा वह सर्वत्र ही नवीनता, गाम्भीर्य और संगीत की अलौकिकता से पूर्ण है।

छायावाद-युग में निरालाजी शायद अकेले कवि हैं जिन्होंने हिन्दी के प्राचीन छन्द बरवै का प्रयोग सुन्दरता के साथ किया है।

कवित्त की तरह बरवै भी बड़ा ही शक्तिशाली छन्द है; किन्तु इसकी यति के योग्य शब्द खड़ी बोली में बहुत नहीं हैं। पहले के कवियों ने बरवै लिखते हुए, प्रायः हमेशा ही प्रथम तथा तृतीय यतियों पर आनेवाले शब्दों को विकृत करके आगे खींचा है। निरालाजी के बादल-राग में बरवै की तीन शुद्ध पंक्तियाँ अपने पूरे बल तथा अविकृत एवं पुष्ट शब्दों के साथ आई हैं, जिनमें से दो ये हैं :—

झूम-झूम मृदु गरज-गरज घन घोर,
राग अमर अम्बर में भर निज रोर।

इतना ही नहीं, प्रत्युत् बरवै के साम्य पर उन्होंने परिमल में ही एक गीत (पृ० ६८) भी लिखा है, जो छन्द की नवीनता के लिए आकर्षक है।

देख चुके, जो जो आये थे चले गए,
मेरे प्रिय, सब बुरे गए, सब भले गए।

शुद्ध बरवै १९ मात्राओं का होता है। वर्तमान उदाहरण में प्रत्येक चरण में २२ मात्राएँ हैं। आरम्भ से लेकर १६ मात्राओं तक इस छन्द की गति शुद्ध बरवै की है। शुद्ध बरवै ठीक १६ मात्राओं तक अपनी स्वाभाविक गति से चलकर पदान्त के दो अक्षरों (ऽ।) पर विराम लेता है। लेकिन, उदाहरण की पंक्तियों में, अन्त में तीन मात्राएँ बढ़ा देने के सिवा, बरवै के स्वाभाविक विराम-स्थल के अक्षरों में भी उलट-फेर कर दिया गया है। यहाँ गुरु के स्थान पर लघु और लघु के

स्थान पर गुरु करके बरवै को अपनी स्वाभाविक यति पर रुकने से रोककर उसे तीन मात्राओं तक और आगे चला दिया गया है। इन पंक्तियों का शुद्ध बरवै-रूपान्तर ऐसा होगा :—

देख चुके, जो-जो आए थे लेच (गए)
मेरे प्रिय, सब वुरे गए, सब लेभ (गए)

निरालाजी के मुक्त-छन्दों में कहीं-कहीं हम एक ही स्थल पर रोला, राधिका, ललित, सरसी, बरवै और वीर, सभी प्रकार के छन्दों का प्रभाव एकत्र देखते हैं जो कहीं उपर्युक्त विधि से कट-छँटकर और कहीं अपने शुद्ध रूपों में, आवश्यकतानुसार, कवि के भाव-खण्डों का बोझ योग्यतापूर्वक वहन करते हैं।

पिंगल का राधिका छन्द, जो लोकगीत में लावनी के नाम से प्रसिद्ध है तथा जो भारतेन्दु-युग से ही कविता में प्रधानता प्राप्त करता आ रहा था, अब भी हिन्दी कवियों के साथ है। नवीन अभिव्यंजना के युग में भी यह पूर्ण रूप से समर्थ प्रमाणित हुआ है तथा, प्रायः, सभी कवियों ने इसका समधिक प्रयोग किया है। कुछ काट-छाँट के साथ निरालाजी ने इसका कई स्थलों पर प्रयोग किया है। यथा :—

यौवन-मरु की पहली ही मंजिल में

इस पंक्ति में "की" और "पहली" अथवा "ही" और "मंजिल" के बीच अगर दो मात्राएँ और जोड़ दी जायँ तो यह शुद्ध राधिका छन्द की पंक्ति हो जायगी। इसी प्रकार, अनेक परिवर्तनों के साथ निरालाजी ने इसका अनेक स्थलों पर प्रयोग किया है।

राधिका से ही निकली हुई पंतजी की यह पंक्ति है जो समकालीन कवियों के द्वारा बहुत ही पसन्द की गई है।

वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार?

ग्राम्या में इस सुन्दर छन्द का प्रयोग कई स्थलों पर हुआ है। स्वयं निरालाजी ने भी इसी छन्द में "राम की शक्ति-पूजा" नामक ओजस्विनी कविता रची है। किन्तु, हम यह शर्त नहीं कि इसका प्रयोग

दोनों में से किसने पहले किया। किन्तु, यह छन्द हिन्दी में अपना स्थान बनाकर रहेगा, इसकी बहुत बड़ी संभावना है।

अतुकान्त एवं स्वच्छन्द छन्दों का प्रयोग निरालाजी ने केवल इसीलिए नहीं किया चूंकि उन्हें नपे-तुले चरणों एवं तुकान्त पदों की एकरसता से त्राण पाने की आवश्यकता थी, यद्यपि, पहले-पहल इसी आवश्यकता की अनुभूति से उन्हें स्वच्छन्द छंदों की संभावनाएँ भासित हुई होंगी। उनके अनिभव एवं क्रांतिकारी प्रयोग इसलिए भी महत्त्वपूर्ण हैं कि कविताओं के भीतर वह ेजस पूर्ण चमत्कार की सृष्टि करना चाहते हैं, उसकी क्रिया में भावों के आरोहावरोह के अनुसार आनेवाले शब्द अपनी नाद-शक्ति से अद्भुत सहायता पहुँचाते हैं।

स्वच्छन्द छन्दों के प्रयोग के द्वारा उन्होंने समकालीन पाठकों की श्रुति-चेतना का परिमार्जन और विस्तार किया है। जब निरालाजी ने स्वच्छन्द छन्दों का प्रयोग आरम्भ किया था, तब लोग उनसे बहुत चिढ़े थे और उनके छन्दों को 'कंगारू' और 'केंचुआ' छन्द कह कर उनका मजाक भी उड़ाया गया था। कुछ लोग इस चिंता से भी त्रस्त थे कि कहीं नये प्रवाह में हिन्दी के छन्द भी न बह जायँ। किन्तु, आज ऐसे पाठकों की संख्या बहुत बड़ी है जिनकी चेतना छन्दों के सम्बन्ध में बहुत ही सूक्ष्म हो गई है और जो यह समझने लग गये हैं कि आदि से अन्त तक नपे-तुले चरणोंवाला अथवा शोर करते हुए अंत्यानुप्रासों की लड़ियोंवाला पद्य गम्भीर कविता के सर्वथा अनुपयुक्त है।

पंतजी ने यद्यपि छन्दों का बन्धन एकदम नहीं तोड़ा, किन्तु, वे नपे-तुले चरणों तथा जमते हुए अन्त्यानुप्रास की एकरसता से बचने को बहुत ही सचेष्ट रहे हैं। उच्छ्वास, आँसू तथा परिवर्तन नाम्नी कविताओं में उन्होंने एकरसता भंग करने के लिए अथवा भावों को जहाँ आवश्यकता आ जाय वहीं विराम देने के लिए अथवा जो भाव छन्द-विशेष की पंक्ति की सीमा से बाहर तक फैलना चाहते हैं उनके लिए

वैसी ही व्यवस्था कर देने के उद्देश्य से एक ही पद में भिन्न-भिन्न

आकार के चरण रखे हैं जो अपना काम बहुत सुन्दरता से करते हैं। ऐसी रचना की सफलता का मुख्य आधार कवि की लय-सम्बन्धी अद्‌भुत जागरूकता तथा हृदय की संगीतमयता है जिसका एकत्र प्रमाण नीचे के इस पद में मिलता है जो पंतजी की छन्द-सम्बन्धी योग्यता का एक आदर्श प्रमाण है।

आह, मेरा यह गीला गान।
वर्ण-वर्ण है उर का चित्रण,
शब्द-शब्द है सुधि का दंशन,
चरण - चरण है आह
कथा है कण-कण करुण प्रवाह,
बूंद में है बाड़व का दाह।

पल्लव के बाद, पंतजी ने, प्रायः एक छन्द में ही एक पूरी कविता रचने का प्रयास किया है। किन्तु, यहाँ भी वह एकरसता से बचने को बहुत ही सतर्क रहे हैं। अन्त्यानुप्रास को वह, प्रायः, कहीं भी प्रमुख होने नहीं देते। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने दो साधनों से काम लिया है। या तो पदांत के वर्णों को लघु बनाकर वे तुकों का जोर ही छीन लेते हैं अथवा इस जोर को तुक के पहलेवाले वर्ण पर डाल कर पदान्त को हल्का कर देते हैं। जहाँ यह सब होता नहीं दीखता वहाँ वे काव्यगत अर्थ का जोर ऐसी जगह पर रखते हैं, जहाँ से अन्त्यानुप्रास काफी दूर हो, राधिका, ललितपद, ककुभ और रोला, सभी पुष्ट छन्दों का उनके हाथों में यही हाल है। सर्वत्र नहीं तो अधिकांश रचनाओं में उन्होंने अन्त्यानुप्रास के अन्तिम वर्ण को लघु बनाकर रखा है जिससे तुकों की प्रधानता नष्ट हो जाय और उनका प्रभाव असमंजसपूर्ण एवं अनिश्चित हो जाय। जब से पंतजो कविताओं में सोचने लगे हैं, तब से इस अन्त्यानुप्रास के चमत्कारहरण की मात्रा उनमें और भी बढ़ गई है और इसमें सन्देह नहीं कि यह प्रणाली उनकी चिंताधारा के बहुत ही अनुकूल पड़ी है।

सोलह मात्राओं का एक पद्धरी छन्द भी है जिसने नई कविता के क्षेत्र में बहुत काम किया है। यह छन्द उल्लास और जागरण के भावों को वहन करने में बहुत ही समर्थ है। इसका प्रयोग बहुत दिनों से होता आ रहा था, किन्तु, वर्तमान युग में इसे जैसी ख्याति मिली वैसी पहले कभी नहीं मिली थी। श्री निर्गुण की 'तू नूतन वर्ष विहान जाग', श्री मिलिन्द की "मेरे किशोर, मेरे कुमार" तथा रामसिहासन सहाय मुख्तार "मधुर" के राजस्थान-सम्बन्धी प्रगीत इसी छन्द में रचे गये हैं। इसके सिवा, हिन्दी के, प्रायः, सभी दिग्गज कवियों ने इस छन्द में अपनी कविताएँ रचीं और अब तो प्रत्येक नवागन्तुक कवि इसमें अपनी बातें बड़ी आसानी से कह लेता है। अभिनव भावों ने जब इस छन्द के माध्यम को सुगम पाया, तब इससे मिलते-जुलते कई अन्य छन्द भी इससे आ मिले। पद्धरी अथवा पद्धटिका की दो पंक्तियों का मिलित प्रवाह बहुत-कुछ पिंगल के मत्त सवैया तथा शुद्धध्वनि छन्द से मिलता-जुलता चलता है। पन्तजी की "फैली खेतों में दूर तलक मखमल की कोमल हरियाली" अथवा बच्चनजी की "इस पार प्रिये मधु है तुम हो, उस पार न जाने क्या होगा।" में उपर्युक्त तीनों छन्दों का मिलित प्रवाह बहता है और अब इसका चमत्कार इनमें से अकेले किसी एक छन्द से कहीं बढ़कर है। मात्रा और यति की दृष्टि से यह नवीन छन्द नहीं है। किन्तु, कई प्रकार के प्रयोगों से इसमें जो एक विशेष प्रकार का प्रवाह आ गया है वह पूर्वोक्त तीनों छन्दों में से किसी भी एक के प्रवाह से अधिक अद्‌भुत और संगीत-पूर्ण है। पद्धटिका ने ही हिन्दी में एक दूसरे छन्द का जन्म दिया जिसका प्रयोग निरालाजी ने तुलसीदास नामक काव्य में किया है। इस रचना के प्रत्येक बन्द में पद्धटिका की तीन-तीन पंक्तियाँ रखी गई हैं और तीसरी पंक्ति के अन्त में चार मात्राएँ लघ्वन्त वर्णों के साथ जोड़ दी गई हैं जिससे ऊपर की तीन पंक्तियों के अन्त्यानुप्रास का प्रभाव अन्तिम लघ्वन्त वर्ण पर आकर चूर-चूर हो जाता है और तुकों का चमत्कार अर्थ के गौरव पर कोई

आवरण नहीं डाल सकता। पद्धटिका का यह रूप निरालाजी का आविष्कार है तथा यह कहना कठिन है कि "तुलसीदास" में जो चमत्कार उत्पन्न हुआ है उसमें इस छन्द का अधिक हाथ है अथवा निरालाजी की विचार-पूर्ण कल्पना का। इस शंका से यह बात भी प्रमाणित होती है कि जहाँ विचार-विशेष छन्द-विशेष के साथ घुल-मिलकर एकाकार हो जाते हैं वहाँ यही समझना चाहिए कि ऐसे विचार का एकमात्र माध्यम वही छन्द है तथा उस छन्द में प्रकट होने के लिए ऐसे ही विचार चाहिएँ।

चौदह मात्राओं का प्रसादी छन्द आँसू में प्रयुक्त भी नई कविता में खूब चला और इसमें, प्रायः, प्रत्येक छोटे-बड़े कवि ने अपनी कितनी ही सुन्दर रचनाएँ की हैं। यह छन्द उर्दू की "मफऊलो मफाई-लुन, मफऊलो मफाईलुन" बहर के वजन पर निकला हुआ-सा लगता है किन्तु, वर्तमान हिन्दी कविता की सम्भावनाओं के यह बहुत ही अनुकूल पड़ा है तथा करुण एवं विषण्ण भावों की अभिव्यक्ति इस छन्द में बड़े ही चमत्कार के साथ की गई है।

बच्चनजी ने हिन्दी में नये छन्दों की सृष्टि नहीं की है, किन्तु उर्दू की गजलों का प्रभाव उनकी कविताओं के भीतर से हिन्दी-कविता पर बहुत ही सुन्दरता के साथ पड़ा है। उनके 'निशा-निमन्त्रण' और 'एकान्त-संगीत' के अधिकांश गीत गजलों के अनुकरण पर बने हैं। गजलों की विशेषता यह है कि उनमें काफिया और रदीफ प्रधान होते हैं तथा उनके शेरों (दो पंक्तियों) में से प्रत्येक के भाव अलग-अलग हो सकते हैं। इसके सिवा, गजलों की भाषा बहुत ही साफ होनी चाहिए। गजलों की एक विशेषता मतला और मकता भी है। किन्तु, उनसे हमारा यहाँ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। बच्चनजी ने गजलों से भाषा की सफाई, काफिया और रदीफ की प्रधानता और, कुछ दूर तक, अलग-अलग शेरों में अलग-अलग भाव कहने की परिपाटी को ग्रहण किया है। उनके गीतों में, प्रायः, तीन या चार पद होते हैं। प्रत्येक पद गजल के एक शेर की तरह स्वतन्त्र होता है तथा प्रसंग से टूट जाने पर

भी वह अपने ही बल पर स्वतन्त्र रूप से चमकने में समर्थ होता है। प्रत्येक पद के अन्त में एक ही शब्द बार-बार आता है जो रदीफ की परिपाटी है और उसके ठीक पहलेवाला शब्द, अन्य पदों के ऐसे ही शब्दों की तुक बनकर आता है, जो काफिये की नकल है। उदाहरणार्थ, 'आज कितनी दूर दुनिया' की टेक से मिलनेवाली पंक्तियों के अन्त में "क्रूर दुनिया" "सिन्दूर दुनिया" तथा ऐसे ही अन्य टुकड़ों में काफिया और रदीफ का निर्वाह नियमपूर्वक किया गया है। भाषा बच्चनजी की साफ और भाव प्रत्येक पद में अलग-अलग हैं जो गजल से उनके गीतों की समता स्थापित करने के विशेष प्रमाण हैं।

अभिनव हिन्दी-काव्य में छन्दों में जो परिवर्तन हुए हैं वे किसी प्रकार भी भावों के परिवर्तन से कम विचित्र और विशाल नहीं हैं। जितने प्रकार के भाव तथा मनोदशाएँ नई कविताओं में अभि-व्यक्त हुई हैं, छन्दों में भी उसी परिमाण और प्रकार के विकार उत्पन्न हुए हैं। उन सभी की ओर एक विहंगम दृष्टिपात भी इस छोटे-से लेख में सम्भव नहीं है। महादेवीजी के गीतों में, सियारामशरणजी तथा नरेन्द्रजी की कविताओं में और सबसे अधिक निरालाजी की रचनाओं में नये छन्दों की एक पूरी दुनिया ही खुलती जा रही है। नेपालीजी के समान कुछ कवि सिनेमा तथा उर्दू बहरों से भी बहुत अधिक प्रभावित होते जा रहे हैं और छन्द के संसार में हिन्दी-कविता नित्य नये सुरों में गाने की ओर बहुत ही उन्मुख दीख पड़ती है। इस क्रम में नागरी लिपि की प्राचीन परिपाटी भी ढीली होती जा रही है। नागरी लिपि की विशेषता यह है कि इसमें हम जो लिखते हैं वही पढ़ते भी हैं। अब ऐसा लगता है कि लय के प्रवाह के अनुसार दीर्घ 'की' को ह्रस्व 'कि' तथा गुरु "के" को ह्रस्व "कॆ" करके पढ़ना आरम्भ हो जायगा। इसके सिवा निरालाजी ने छन्दों के बन्ध को तोड़कर जिस नवीन मार्ग का निर्माण किया था उस पथ चलनेवाले कवि अब कुछ अधिक स्वतन्त्र तथा कभी-कभी उच्छृंखल भी होते जा रहे हैं। रामविलास शर्मा और अज्ञेयजी के जो नये प्रयोग हो रहे

हैं उनका भी अन्तिम प्रभाव कविता को छन्दोबन्ध से मुक्त करनेवाला है। छन्दों के बन्धन से मुक्ति का अर्थ यह नहीं है कि छन्द हिन्दी-कविता के क्षेत्र से बहिष्कृत कर दिये जायँगे। प्रत्युत्, यह कि अभी हिन्दी में छन्दों के सम्बन्ध में जो प्रयोग चल रहे हैं उनका परिणाम यह होगा कि छन्द के रहे-सहे बन्धनों का मोह भी कवियों के मन से दूर हो जायगा और जहाँ कोई छन्द उनकी मनोदशा के अनुकूल पड़ेगा, वहाँ तो वे उसे ग्रहण करेंगे, किन्तु जहाँ मनोदशा की विशिष्टता किसी छन्द के माध्यम को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार नहीं करेगी, वहाँ नये प्रकार के मिश्रित छन्द अथवा छन्दोविहीन वाणी प्रधान हो उठेगी।

छन्द-स्पन्दन समग्र सृष्टि में व्याप्त है। कला ही नहीं, जीवन की प्रत्येक शिरा में यह स्पन्दन एक नियम से चल रहा है। सूर्य, चन्द्र, ग्रहमण्डल और विश्व की प्रगतिमात्र में एक लय है जो समय के ताल पर यति लेती हुई अपना काम कर रही है। टेलेस्कोप, माइक्रोस्कोप, मनुष्य के निरावृत नेत्र तथा मनुष्य के मस्तिष्क के भीतर से विज्ञान ज्यों-ज्यों सृष्टि को देखता है, त्यों-त्यों उसे प्रत्यक्ष होता जाता है कि यह महान् सृष्टि एक अद्‌भुत सुर-सामंजस्य के बीच बँधी हुई है; इस क्रम में छन्दोभंग नहीं होता, यतियाँ खिचकर आगे नहीं जातीं, तथा समय अपना ताल देना नहीं भूलता है। समस्त कलाएँ इसी महान् स्वर-सामंजस्य से मानवात्मा के मिलने का प्रयास है। केवल स्वरवाली कलाएँ ही नहीं, प्रत्युत् चित्रण, मूर्त्ति और स्थापत्य की कलाएँ भी काट-छाँट, रूप और रंग के सन्तुलित प्रयोग से इसी सामंजस्य का अनुकरण करती हैं। जहाँ यह सन्तुलन नहीं हो पाता, वहाँ समय अपना ताल देना भूल जाता है, कला की कृतियाँ असंबद्ध एवं नश्वर हो जाती हैं तथा सृष्टिगत सामंजस्य के साथ मानवात्मा का मेल नहीं हो पाता।

ऐसा लगता है कि सृष्टि के इस छंद-स्पंदनयुक्त आवेग की पहली मानवीय अभिव्यक्ति कविता और संगीत थे। आरम्भ में कविता और संगीत दोनों एकाकार थे; मनुष्य के मुख से लय का जो आनन्द

फूटा, उसमें शब्द और संगीत दोनों मिले हुए थे। लेकिन, जीवन का क्षेत्र ज्यों-ज्यों घनीभूत होता गया, ये दोनों कलाएँ भी एक दूसरी से स्वतन्त्र होकर अपना अलग-अलग विकास करने लगीं। पहले मनुष्य जो कुछ गा उठता उसे बहुत से लोग याद कर लेते थे और इस प्रकार शब्द और संगीत, एक दूसरे के सहारे, अलिखित साहित्य के रूप में जी रहे थे। अब जहाँ एक ओर संगीत, शब्द की कठिन अधीनता को छोड़कर अलग बढ़ने लगा, वहाँ संगीत का नित्य-बन्धन तोड़कर अच्छी-अच्छी कविताओं की भी स्वतन्त्र रूप से सृष्टि होने लगी, जिन्हें मनुष्य की स्मृति के भरोसे जीने को छोड़ देना निरापद नहीं था। कविताएँ लिखी जाने लगीं और इस लिखने के क्रम में लिखित साहित्य का जन्म हुआ। कई सदियों के बाद इन कविताओं के ढेर में मनुष्य की वैज्ञानिक बुद्धि ने प्रवेश किया। आलोचक और काव्य के वैयाकरण इन कविताओं में से, पूर्व-कवियों के प्रयोगों के आधार पर आनेवाले कवियों के मार्ग-प्रदर्शन के निमित्त नियम बनाने लगे। इस प्रकार, साहित्य में छन्दःशास्त्र की उत्पत्ति हुई।

कविता कला है, किंतु छन्दःशास्त्र को विज्ञान कहना चाहिए। उम्र में कला सदैव विज्ञान से बड़ी रही है। पहले वे लोग आये जिन्होंने गाना गाया, कविताएँ रचीं, मकान बनायें, पट पर या पर्वत की कंदराओं में चित्र और मूर्त्तियों की रचनाएँ कीं। तब वे लोग आये जिन्होंने इन रचनाओं को देखकर इसी प्रकार का काम करनेवाले अन्य लोगों के लिए स्थूल नियमों का विधान किया। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि पहले आनेवाले कलाकार कला के नियमों से अनभिज्ञ थे; नहीं, कला के नियमों का उनमें भी वास था, परन्तु, गुण नहीं, प्रत्युत्, प्रवृत्ति के रूप में। इस प्रवृत्ति के अज्ञात संकेत पर कलाकार ने रचना की और जब वैयाकरण आया तब उसने नियम का विधान किया। किंतु, यह विधान उसी कृति तक सीमित था जिसकी रचना हो चुकी थी।

कलाकार की प्रवृत्ति अनन्त होती है; वैज्ञानिक इस अनन्तता का बोध

नहीं प्राप्त कर सकता, क्योंकि, उसकी बुद्धि तो वहीं तक जाती है जहाँ तक कलाकार की सहज प्रवृत्तियाँ रचनाओं के रूप में प्रत्यक्ष हो चुकी हैं। इसमे भी परे एक संसार है जो कला की कृतियों में नहीं उतरा है, जिसका कलाकार भी एक धूमिल स्वप्न ही देख सकता है और जिसको अभिव्यक्ति आनेवाले युगों के कलाकारों के लिए छूटी हुई है। किन्तु, वैयाकरण ने नियम बना दिये और जोर देकर कहा कि पहले के कलाकारों की रचनाओं में जिस नियम का प्रयोग हुआ है, आनेवाले कलाकार भी उसी नियम का उपयोग करें। क्योंकि, पहले के कलाकारों ने इसी नियम से कला की महान् कृतियों का निर्माण किया और आज अगर उसकी अवहेलना की जायगी तो कला की श्रेष्ठ कृतियों का जन्म कैसे सम्भव हो सकता है?

ये सारी बातें साहित्य के सभी विद्यार्थियों को मालूम हैं, किन्तु, इस सामान्य ज्ञान से एक बात प्रत्यक्ष होती है कि प्राचीन साहित्य से विरासत में मिले हुए बंधन वर्तमान अथवा भविष्य के कलाकारों के लिए बोझ नहीं हो सकते। अगर आज हमारी मनोदशाओं का मेल प्राचीन अथवा प्रचलित छन्दों से नहीं बैठता है तो हमें इसका अधिकार होना चाहिए कि अपने अनुरूप हम नये छन्दों का विधान कर लें जिनके माध्यम से हमारी अनुभूतियाँ पूरे बल और चमत्कार के साथ प्रकट हो सकें। प्राचीनता के अनादर के पक्ष में यह दलील है कि पहले के सभी पण्डित सर्वज्ञ और निश्चित रूप से गलती नहीं ही करनेवाले नहीं थे तथा छंदःशास्त्र का विधान सदैव स्रष्टा कलाकारों के द्वारा ही नहीं, प्रत्युत् उनके द्वारा भी हुआ है जो स्वयं कवि नहीं होकर निरे आलोचक अथवा वैयाकरण मात्र थे। किन्तु, नवीनता को ओर लम्बा डग मारनेवालों के लिए भी एक चेतावनी है कि छन्दों के क्षेत्र में दौड़ कर चलना ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ बहुत परिश्रम करने के वाद भी पुरस्कार बहुत थोड़े मिला करते हैं!

—रामधारीसिंह दिनकर

कविता

कविता क्या है ?

मनुष्य अपने भावों, विचारों और व्यापारों के लिये-दिये दूसरों के भावों, विचारों और व्यापारों के साथ कहीं मिलता और कहीं लड़ता हुआ अन्त तक चला जाता है और इसी को जीना कहता है। जिस अनन्त-रूपात्मक क्षेत्र में यह व्यवसाय चलता रहता है उसका नाम है जगत्। जब तक कोई अपनी पृथक् सत्ता की भावना को ऊपर किये इस क्षेत्र से नाना रूपों और व्यापारों को अपने योग-क्षेम, हानि-लाभ, सुख-दुख आदि से सम्बन्ध करके देखता रहता है तब तक उसका हृदय एक प्रकार से बद्ध रहता है। इन रूपों और व्यापारों के सामने जब कभी वह अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से छूटकर अपने आपको बिलकुल भूलकर—विशुद्ध अनुभूति-मात्र रह जाता है, तब वह मुक्त-हृदय हो जाता है। जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते ह। इसी साधना को हम भावयोग कहते हैं और कर्म-योग और ज्ञानयोग का समकक्ष मानते हैं।

कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत् की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का सञ्चार होता है। इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोक-सत्ता में लीन किये रहता है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है या हो सकती है। इस अनुभूति-योग के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा

और निर्वाह होता है। जिस प्रकार जगत् अनेक रूपात्मक है उसी प्रकार हमारा हृदय भी अनेक भावात्मक है। इन अनेक भावों का व्यायाम और परिष्कार तभी समझा जा सकता है जब कि इन सबका प्रकृत सामञ्जस्य जगत् के भिन्न-भिन्न रूपों, व्यापारों या तथ्यों के साथ हो जाय। इन्हीं भावों के सूत्र से मनुष्य-जाति जगत् के साथ तादात्म्य का अनुभव चिरकाल से करती चली आई है। जिन रूपों और व्यापारों से मनुष्य आदिम युगों से ही परिचित है, जिन रूपों और व्यापारों को सामने पाकर वह नर जीवन के आरम्भ से ही लुब्ध और क्षुब्ध होता आ रहा है, उनका हमारे भावों के साथ मूल या सीधा सम्बन्ध है। अतः काव्य के प्रयोजन के लिए हम उन्हें मूल रूप और मूल व्यापार कह सकते हैं। इस विशाल विश्व के प्रत्यक्ष से प्रत्यक्ष और गूढ़ से गूढ़ तथ्यों को भावों के विषय या आलम्बन बनाने के लिए इन्हीं मूल रूपों और मूल व्यापारों में परिणत करना पड़ता है। जब तक वे इन मूल मार्मिक रूपों में नहीं लाये जाते तब तक उन पर काव्यदृष्टि नहीं पड़ती।

वन, पर्वत, नदी, नाले, निर्झर, कछार, पटपर, चट्टान, वृक्ष, लता, झाड़ी, फूस, शाखा, पशु-पक्षी, आकाश, मेघ, नक्षत्र, समुद्र इत्यादि ऐसे ही चिर सहचर रूप हैं। खेत, ढुर्री, हल, झोपड़े, चौपाये इत्यादि भी कुछ कम पुराने नहीं हैं। इसी प्रकार पानी का बहना, सूखे पत्तों का झड़ना, बिजली का चमकना, घटा का घिरना, नदी का उमड़ना, मेह का बरसना, कुहरे का छाना, डर से भागना, लोभ से लपकना, छीनना, झपटना, नदी या दलदल से बाँह पकड़ कर निकालना, हाथ से खिलाना, आग में झोंकना, गला काटना, ऐसे व्यापारों का भी मनुष्य-जाति के भावों के साथ अत्यन्त प्राचीन साहचर्य्य है। ऐसे आदिम रूपों और व्यापारों में वंशानुगत वासना की दीर्घ-परम्परा के प्रभाव से, भावों के उद्बोधन की गहरी शक्ति सञ्चित है; अतः इनके द्वारा जैसा रस-परिपाक सम्भव है वैसा कल-कारखाने, गोदाम, स्टेशन, एंजिन, हवाई जहाज ऐसी वस्तुओं तथा अनाथालय के लिए चेक काटना, सर्वस्व-हरण के जाली दस्तावेज बनाना,

मोटर की चरखी घुमाना या एंजिन में कोयला झोंकना आदि व्यापारों द्वारा नहीं।

सभ्यता के आवरण और कविता

सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ ज्यों-ज्यों मनुष्यों के व्यापार बहुरूपी और जटिल होते गये, त्यों-त्यों उनके मूलरूप बहुत कुछ आच्छन्न होते गये। भावों के आदिम और सीधे लक्ष्यों के अतिरिक्त और-और लक्ष्यों की स्थापना होती गई, वासनाजन्य मूल व्यापारों के सिवा बुद्धि द्वारा निश्चित व्यापारों का विधान बढ़ता गया। इस प्रकार बहुत से ऐसे व्यापारों से मनुष्य घिरता गया जिनके साथ उसके भावों का सीधा लगाव नहीं। जैसे आदि में भय का लक्ष्य अपने शरीर और अपनी सन्तति ही की रक्षा तक था, पर पीछे गाय, बैल, अन्न आदि की रक्षा आवश्यक हुई, यहाँ तक कि होते-होते धन, मान, अधिकार, प्रभुत्व इत्यादि अनेक बातों की रक्षा की चिन्ता ने घर किया और रक्षा के उपाय भी वासना-जन्य प्रवृत्ति से भिन्न प्रकार के होने लगे। इसी प्रकार क्रोध, घृणा, लोभ आदि अन्य भावों के विषय भी अपने मूल रूपों से भिन्न रूप धारण करने लगे। कुछ भावों के विषय तो अमूर्त तक होने लगे। जैसे कीर्ति की लालसा। ऐसे भावों को ही बौद्ध-दर्शन में 'अरूपराग' कहते हैं।

भावों के विषयों और उनके द्वारा प्रेरित व्यापारों में जटिलता आने पर भी उनका सम्बन्ध मूल विषयों और मूल व्यापारों से भीतर भीतर बना है और बराबर बना रहेगा। किसी का कुटिल भाई उसे सम्पत्ति से एकदम वञ्चित रखने के लिए वकीलों की सलाह से एक नया दस्तावेज तैयार करता है। इसकी खबर पाकर वह क्रोध से नाच उठता है। प्रत्यक्ष व्यावहारिक दृष्टि से तो उसके क्रोध का विषय है वह दस्तावेज या कागज का टुकड़ा। पर उस कागज के टुकड़े के भीतर वह देखता है कि उसे और उसकी सन्तति को अन्न-वस्त्र न मिलेगा। उसके क्रोध का प्रकृत विषय न तो वह कागज का टुकड़ा है और न उस पर लिखे हुए काले-काले अक्षर। ये तो सभ्यता के आवरण-मात्र हैं। अतः उसके क्रोध में और उस कुत्ते के

क्रोध में जिसके सामने का भोजन कोई दूसरा कुत्ता छीन रहा है, काव्य-दृष्टि से कोई भेद नहीं है—भेद है केवल विषय के थोड़ा रूप बदलकर आने का। इसी रूप बदलने का नाम है सभ्यता। इस रूप बदलने से होता यह है कि क्रोध आदि को भी अपना रूप कुछ बदलना पड़ता है, वह भी कुछ सभ्यता के साथ अच्छे कपड़े-लत्ते पहन कर समाज में आता है जिससे मार-पीट, छीन-खसोट आदि भद्दे समझे जानेवाले व्यापारों का कुछ निवारण होता है।

पर यह प्रच्छन्न रूप वैसा मर्मस्पर्शी नहीं हो सकता। इसी से इस प्रच्छन्नता का उद्घाटन कवि-कर्म का एक मुख्य अंग है। ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती जायगी त्यों-त्यों कवियों के लिए यह काम बढ़ता जायगा। मनुष्य के हृदय की वृत्तियों से सीधा सम्बन्ध रखनेवाले रूपों और व्यापारों को प्रत्यक्ष करने के लिए उसे बहुत से पदों को हटाना पड़ेगा। इससे यह स्पष्ट है कि ज्यों-ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नये-नये आवरण चढ़ते जायँगे त्यों-त्यों एक ओर तो कविता की आवश्यकता बढ़ती जायगी, दूसरी ओर कवि-कर्म कठिन होता जायगा। ऊपर जिस क्रुद्ध व्यक्ति का उदाहरण दिया गया है वह यदि क्रोध से छुट्टी पाकर अपने भाई के मन में दया का संचार करना चाहेगा तो क्षोभ के साथ उससे कहेगा, "भाई! तुम यह सब इसीलिए न कर रहे हो कि तुम पक्की हवेली में बैठकर हलवा-पूरी खाओ और मैं एक झोपड़ी में बैठा सूखे चने चबाऊँ, तुम्हारे लड़के दोपहर को भी दुशाले ओढ़कर निकलें और मेरे बच्चे रात को भी ठण्ढ से काँपते रहें।" यह हुआ प्रकृत रूप का प्रत्यक्षीकरण। इसमें सभ्यता के बहुत से आवरणों को हटाकर वे मूल गोचर रूप सामने रखे गये हैं जिनसे हमारे भावों का सीधा लगाव है और जो इस कारण भावों को उत्तेजित करने में अधिक समर्थ हैं। कोई बात जब इस रूप में आयगी तभी उसे काव्य के उपयुक्त रूप प्राप्त होगा। "तुमने हमें नुकसान पहुँचाने के लिए जाली दस्तावेज बनाया" इस वाक्य में रसात्मकता नहीं। इस बात को ध्यान में रखकर ध्वनिकार ने कहा—"नहि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहेणात्मपदलाभः।"

देश की वर्तमान दशा के वर्णन में यदि हम केवल इस प्रकार के वाक्य कहते जायँ कि "हम मूर्ख, बलहीन और आलसी हो गये हैं, हमारा धन विदेश चला जाता है, रुपये का डेढ़ पाव घी बिकता है, स्त्री-शिक्षा का अभाव है" तो ये छन्दोबद्ध होकर भी काव्य पद के अधिकारी न होंगे। सारांश यह कि काव्य के लिए अनेक स्थलों पर हमें भावों के विषयों के मूल और आदिम रूपों तक जाना होगा जो मूर्त और गोचर होंगे। जब तक भावों से सीधा और पुराना लगाव रखनेवाले मूर्त्त और गोचर रूप न मिलेंगे तब तक काव्य का वास्तविक ढाँचा खड़ा न हो सकेगा। भावों के अमूर्त विषयों की तह में भी मूर्त और गोचर रूप छिपे मिलेंगे, जैसे, यशोलिप्सा में कुछ दूर भीतर चलकर उस आनन्द के उपभोग की प्रवृत्ति छिपी हुई पाई जायगी जो अपनी तारीफ कान में पड़ने से हुआ करता है।

Ex: काव्य में अर्थग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, बिम्बग्रहण अपेक्षित होता है। यह बिम्बग्रहण निर्दिष्ट, गोचर और मूर्त विषय का ही हो सकता है। 'रुपये का डेढ़ पाव घी मिलता है,' इस कथन से कल्पना में यदि कोई बिम्ब या मूर्ति उपस्थित होगी तो वह तराजू लिये हुए बनिये की होगी जिससे हमारे करुण भाव का कोई लगाव न होगा। बहुत कम लोगों को घी खाने को मिलता है, अधिकतर लोग रूखी-सूखी खाकर रहते हैं, इस तथ्य तक हम अर्थग्रहण-परम्परा द्वारा इस चक्कर के साथ पहुँचते हैं—एक रुपये का बहुत कम घी मिलता है, इससे रुपयेवाले ही घी खा सकते हैं, पर रुपयेवाले बहुत कम हैं; इससे अधिकांश जनता घी नहीं खा सकती, रूखी-सूखी खाकर रहती है। 12.2.74

कविता और सृष्टि-प्रसार

हृदय पर नित्य प्रभाव रखनेवाले रूपों और व्यापारों को भावना के सामने लाकर कविता बाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अन्तःप्रकृति का सामञ्जस्य घटित करती हुई उसकी भावात्मक सत्ता के प्रसार का प्रयास करती है। यदि अपने भावों को समेटकर मनुष्य अपने हृदय को

शेष सृष्टि से किनारे कर ले या स्वार्थ की पशुवृत्ति में ही लिप्त रखे तो उसकी मनुष्यता कहाँ रहेगी ? यदि वह लहलहाते हुए खेतों और जंगलों, हरी घास के बीच घूम-घूमकर बहते हुए नालों, काली चट्टानों पर चाँदी की तरह ढलते हुए झरनों, मंजरियों से लदी हुई अमराइयों और पट-पर के बीच खड़ी झाड़ियों को देख क्षण भर लीन न हुआ, यदि कलरव करते हुए पक्षियों के आनन्दोत्सव में उसने योग न दिया, यदि खिले हुए फूलों को देख वह न खिला, यदि सुन्दर रूप सामने पाकर अपनी भीतरी कुरूपता का उसने विसर्जन न किया, यदि दीन-दुखी का आर्त-नाद सुन वह न पसीजा, यदि अनाथों और अबलाओं पर अत्याचार होते देख क्रोध से न तिलमिलाया, यदि किसी बेढब और विनोदपूर्ण दृश्य या उक्ति पर न हँसा, तो उसके जीवन में रह क्या गया ? इस विश्व-काव्य की रसधारा में जो थोड़ी देर के लिए निमग्न न हुआ उसके जीवन को मरुस्थल की यात्रा ही समझना चाहिए।

काव्यदृष्टि कहीं तो १. नरक्षेत्र के भीतर रहती है, कहीं २. मनुष्येतर बाह्य सृष्टि के और ३. कहीं समस्त चराचर के।

(१) पहले नरक्षेत्र को लेते हैं। संसार में अधिकतर कविता इसी क्षेत्र के भीतर हुई है। नरत्व की बाह्य प्रकृति और अन्तःप्रकृति के नाना सम्बन्धों और पारस्परिक विधानों का संकलन या उद्‌भावना ही काव्यों में—मुक्तक हों या प्रबन्ध—अधिकतर पाई जाती है।

प्राचीन महाकाव्यों और खण्डकाव्यों के मार्ग में यद्यपि शेष दो क्षेत्र भी बीच-बीच में पड़ जाते हैं पर मुख्य यात्रा नरक्षेत्र के भीतर ही होती है। वाल्मीकि-रामायण में यद्यपि बीच-बीच में ऐसे विशद् वर्णन बहुत कुछ मिलते हैं, जिनमें कवि की मुग्ध दृष्टि प्रधानतः मनुष्येतर बाह्य प्रकृति के रूप-जाल में फँसी पाई जाती है, पर उसका प्रधान विषय लोकचरित्र ही है। और प्रबन्ध-काव्यों के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। रहे मुक्तक या फुटकर पद्य, वे भी अधिकतर मनुष्य ही की भीतरी बाहरी वृत्तियों से सम्बन्ध रखते हैं। साहित्य-शास्त्र की

रस-निरूपण-पद्धति में आलम्बनों के बीच बाह्य प्रकृति को स्थान ही नहीं मिला है। वह उद्दीपन मात्र मानी गई है। शृंगार के उद्दीपन रूप में जो प्राकृतिक दृश्य लाये जाते हैं, उनके प्रति रतिभाव नहीं होता, नायक या नायिका के प्रति होता है। वे दूसरे के प्रति उत्पन्न प्रीति को उद्दीप्त करनेवाले होते हैं, स्वयं प्रीति के पात्र या आलम्बन नहीं होते। संयोग में वे सुख बढ़ाते हैं और वियोग में काटने दौड़ते हैं। जिस भावोद्रेक और जिस ब्योरे के साथ नायक या नायिका के रूप का वर्णन किया जाता है, उस भावोद्रेक और उस ब्योरे के साथ उनका नहीं। कहीं-कहीं तो उनके नाम गिनाकर ही काम चला लिया जाता है।

मनुष्यों के रूप, व्यापार या मनोवृत्तियों के सादृश्य, साधर्म्य की दृष्टि से जो प्राकृतिक वस्तु-व्यापार आदि लाये जाते हैं उनका स्थान भी गौण ही समझना चाहिए। वे नर-सम्बन्धी भावना को ही तीव्र करने के लिए रखे जाते हैं।

(२) मनुष्येतर बाह्य प्रकृति का आलम्बन के रूप में ग्रहण हमारे यहाँ संस्कृत के प्राचीन प्रबन्ध-काव्यों के बीच-बीच में ही पाया जाता है। यहाँ प्रकृति का ग्रहण आलम्बन के रूप में हुआ है, इसका पता वर्णन की प्रणाली से लग जाता है। पहले कह आये हैं कि किसी वर्णन में आई हुई वस्तुओं का मन में ग्रहण दो प्रकार का हो सकता है—बिम्बग्रहण और अर्थग्रहण। किसी ने कहा 'कमल'। अब इस 'कमल' पद का ग्रहण कोई इस प्रकार भी कर सकता है कि ललाई लिये हुए सफेद पंखड़ियों और झुके हुए नाल आदि के सहित एक फूल की मूर्त्ति मन में थोड़ी देर के लिए आ जाय या कुछ देर बनी रहे; और इस प्रकार भी कर सकता है कि कोई चित्र उपस्थित न हो, केवल पद का अर्थ-मात्र समझकर काम चला लिया जाय। काव्य के दृश्य-चित्रण में पहले प्रकार का संकेत-ग्रहण अपेक्षित होता है और व्यवहार तथा शास्त्र-चर्चा में दूसरे प्रकार का। बिम्बग्रहण वहीं होता है जहाँ कवि अपने सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा वस्तुओं के अंग-प्रत्यंग, वर्ण, आकृति तथा उनके आस-पास की परिस्थिति-

का परस्पर संश्लिष्ट विवरण देता है। बिना अनुराग के ऐसे सूक्ष्म ब्योरों पर न दृष्टि जा ही सकती है, न रम ही सकती है। अतः जहाँ ऐसा पूर्ण और संश्लिष्ट चित्रण मिले, वहाँ समझना चाहिए कि कवि ने बाह्य प्रकृति को आलम्बन के रूप में ग्रहण किया है। उदाहरण के लिए वाल्मीकि का यह हेमन्त-वर्णन लीजिए :—

> अवश्याय - निपातेन किञ्चित्प्रक्लिन्नशाद्वला ।
> वनानां शोभते भूमिर्निविष्टतरुणातपा ।।
> स्पृशंस्तु विपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम्।
> अत्यन्ततृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम्।।
> अवश्याय - तमोनद्धा नीहार - तमसावृताः।
> प्रसुप्ता इव लक्ष्यन्ते विपुष्पा वनराजयः।।
> वाष्पसंछन्नसलिला रुतविज्ञेयसारसाः ।
> हिमार्द्रवालुकैस्तीरैः सरितो भान्ति साम्प्रतम्।।
> जरा - जर्जरितैः पद्मैः शीर्णकेसरकर्णिकैः।
> नालशेषैर्हिमध्वस्तैर्न भान्ति कमलाकराः ।।

(वन की भूमि जिसकी हरी-हरी घास ओस गिरने से कुछ-कुछ गीली हो गई है, तरुण धूप के पड़ने से कैसी शोभा दे रही है। अत्यन्त प्यासा जंगली हाथी बहुत शीतल जल के स्पर्श से अपनी सूंड़ सिकोड़ लेता है। बिना फूल के वन-समूह कुहरे के अन्धकार में सोये से जान पड़ते हैं। नदियाँ, जिनका जल कुहरे से ढँका हुआ है और जिनमें सारस पक्षियों का पता केवल उनके शब्द से लगता है, हिम से आर्द्र बालू के तटों से ही पहचानी जाती हैं। कमल जिनके पत्ते जीर्ण होकर झर गये हैं, जिनकी केसर-कर्णिकाएँ टूट-फूटकर छितरा गई हैं, पाले से ध्वस्त होकर नाल-मात्र खड़े हैं।)

मनुष्येतर बाह्य प्रकृति का इसी रूप में ग्रहण कुमारसम्भव के आरम्भ तथा रघुवंश के बीच-बीच में मिलता है। नाटक यद्यपि मनुष्य ही की

भीतरी-बाहरी वृत्तियों के प्रदर्शन के लिए लिखे जाते हैं और भवभूति

अपने मार्मिक और तीव्र अन्तर्वृत्ति-विधान के लिए ही प्रसिद्ध हैं, पर उनके 'उत्तर-रामचरित' में कहीं-कहीं बाह्य प्रकृति के बहुत ही सांग और संश्लिष्ट खण्डचित्र पाये जाते हैं। पर मनुष्येतर बाह्य प्रकृति को जो प्रधानता मेघदूत में मिली है, वह संस्कृत के और किसी काव्य में नहीं। 'पूर्वमेघ' तो यहाँ से वहाँ तक प्रकृति की ही एक मनोहर झाँकी या भारत-भूमि के स्वरूप का ही मधुर ध्यान है। जो इस स्वरूप के ध्यान में अपने को भूलकर कभी-कभी मग्न हुआ करता है वह घूम-घूमकर वक्तृता दे या न दे, चन्दा इकट्ठा करे या न करे, देशवासियों की आमदनी का औसत निकाले या न निकाले, सच्चा देश-प्रेमी है। मेघदूत न कल्पना की क्रीड़ा है, न कला की विचित्रता। वह है प्राचीन भारत के सबसे भावुक हृदय की अपनी प्यारी भूमि की रूप-माधुरी पर सीधी-सादी प्रेम-दृष्टि।

अनन्त रूपों में प्रकृति हमारे सामने आती है—कहीं मधुर, सुसज्जित या सुन्दर रूपों में; कहीं रूखे बेडौल या कर्कश रूप में; कहीं भव्य, विशाल या विचित्र रूप में; कहीं उग्र कराल या भयंकर रूप में। सच्चे कवि का हृदय उसके इन सब रूपों में लीन होता है क्योंकि उसके अनुराग का कारण अपना खास सुख-भोग नहीं, बल्कि चिर-साहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित वासना है। जो केवल प्रफुल्ल-प्रसून-प्रसाद के सौरभ-सञ्चार, मकरन्द-लोलुप-मधुप-गुञ्जार, कोकिल-कूजित निकुञ्ज और शीतल-सुख-स्पर्श समीर इत्यादि की ही चर्चा किया करते हैं, वे विषयी या भोग-लिप्सु हैं। इसी प्रकार जो केवल मुक्ताभास-हिमबिन्दु-मण्डित मरकताभ-शाद्वल-जाल, अत्यन्त विशाल गिरिशिखर से गिरते हुए जलप्रपात के गम्भीर गर्त्त से उठी हुई सीकर-नीहारिका के बीच विविध-वर्ण स्फुरण की विशालता, भव्यता और विचित्रता में ही अपने हृदय के लिए कुछ पाते हैं, वे तमाशबीन हैं, सच्चे भावुक या सहृदय नहीं। प्रकृति के साधारण असाधारण सब प्रकार के रूपों में रमानेवाले वर्णन हमें वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि संस्कृत के प्राचीन कवियों में मिलते हैं। पिछले खेवे के कवियों ने मुक्तक-रचना में तो अधिकतर प्राकृतिक वस्तुओं का अलग-अलग उल्लेख-मात्र

उद्दीपन की दृष्टि से किया है। प्रबन्ध रचना में जो थोड़ा-बहुत संश्लिष्ट चित्रण किया है वह प्रकृति की विशेष रूप-विभूति को लेकर ही। अँगरेज़ी के पिछले कवियों में---वर्ड्सवर्थ की दृष्टि सामान्य, चिर-परिचित, सीधे-सादे प्रशान्त और मधुर दृश्यों की ओर रहती थी, पर शेली की असाधारण, भव्य और विशाल की ओर!

साहचर्य-सम्भूत रस के प्रभाव से सामान्य सीधे-सादे चिरपरिचित दृश्यों में कितने माधुर्य्य की अनुभूति होती है! पुराने कवि कालिदास ने वर्षा के प्रथम जल से सिक्त तुरन्त की जोती हुई धरती तथा उसके पास बिखरी हुई भोली चितवनवाली ग्रामवनिताओं में, साफ-सुथरे ग्राम्य चैत्यों और कथा-कोविद ग्राम-वृद्धों में इसी प्रकार माधुर्य्य का अनुभव किया था। आज भी इसका अनुभव लोग करते हैं। बाल्य या कौमार अवस्था में जिस पेड़ के नीचे हम अपनी मण्डली के साथ बैठा करते थे, चिड़चिड़ी बुढ़िया की जिस झोपड़ी के पास से होकर हम आते जाते थे, उसकी मधुर स्मृति हमारी भावना को बराबर लीन किया करती है। बुड्ढी की झोपड़ी में न कोई चमक-दमक थी, न कला-कौशल का वैचित्र्य। मिट्टी की दीवारों पर फूस का छप्पर पड़ा था; नींव के किनारे चढ़ी हुई मिट्टी पर सत्यानासी के नीलाभ-हरित कटीले, कटावदार, पौदे खड़े थे जिनके पीले फूलों के गोल सम्पुटों के बीच लाल-लाल बिन्दियाँ झलकती थीं।

सारांश यह है कि केवल असाधारणत्व की रुचि सच्ची सहृदयता की पहचान नहीं है। शोभा और सौन्दर्य की भावना के साथ जिनमें मनुष्य-जाति के उस समय के पुराने सहचरों की वंश-परम्परागत स्मृति वासना के रूप में बनी हुई है जब वह प्रकृति के खुले क्षेत्र में विचरती थी, वे ही पूरे सहृदय या भावुक कहे जा सकते हैं। वन्य और ग्रामीण दोनों प्रकार के जीवन प्राचीन हैं। दोनों पेड़-पौदों, पशु-पक्षियों, नदी-नालों और पर्वत-मैदानों के बीच व्यतीत होते हैं, अतः प्रकृति के अधिक रूपों के साथ सम्बन्ध रखते हैं। हम पेड़-पौदों और पशु-पक्षियों के सम्बन्ध तोड़कर बड़े-बड़े नगरों में आ बसे; पर उनके बिना रहा नहीं जाता। हम उन्हें

हर वक्त पास न रखकर एक घेरे में बन्द करते हैं और कभी-कभी मन बहलाने के लिए उनके पास चले जाते हैं। हमारा साथ उनसे भी छोड़ते नहीं बनता। कबूतर हमारे घर के छज्जों के नीचे सुख से सोते हैं, गौरे हमारे घर के भीतर आ बैठते हैं, बिल्ली अपना हिस्सा या तो म्यावँ म्यावँ करके माँगती है या चोरी से ले जाती है, कुत्ते घर की रखवाली करते हैं और वासुदेव जी कभी-कभी दीवार फोड़कर निकल पड़ते हैं। बरसात के दिनों में जब सुर्खी-चूने की कड़ाई की परवा न कर हरी-हरी घास पुरानी छत पर निकलने लगती है, तब हमें उसके प्रेम का अनुभव होता है। वह मानो हमें ढूँढ़ती हुई आती है और कहती है कि "तुम हमसे क्यों दूर-दूर भागे फिरते हो ?

जो केवल अपने विलास या शरीर-सुख की सामग्री ही प्रकृति में ढूँढ़ा करते हैं उनमें उस रागात्मक "सत्व" की कमी है जो व्यक्ति-सत्ता-मात्र के साथ एकता की अनुभूति में लीन करके हृदय के व्यापकत्व का आभास देता है। सम्पूर्ण सत्ताएँ एक ही परम सत्ता और सम्पूर्ण भाव एक ही परम भाव के अन्तर्भूत हैं। अतः बुद्धि की क्रिया से हमारा ज्ञान जिस अद्वैत भूमि पर पहुँचता है उसी भूमि तक हमारा भावात्मक हृदय भी इस सत्व-रस के प्रभाव से पहुँचता है। इस प्रकार अन्त में जाकर दोनों पक्षों की वृत्तियों का समन्वय हो जाता है। इस समन्वय के बिना मनुष्यत्व की साधना पूरी नहीं हो सकती।

बुद्धि एवं हृदय का सामंजस्य

मार्मिक तथ्य

मनुष्येतर प्रकृति के बीच के रूप-व्यापार कुछ भीतरी भावों या तथ्यों की भी व्यञ्जना करते हैं। पशु-पक्षियों के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, राग-द्वेष, तोष-क्षोभ, कृपा-क्रोध इत्यादि भावों की व्यञ्जना जो उनकी आकृति, चेष्टा, शब्द आदि से होती है, वह तो प्रायः बहुत प्रत्यक्ष होती है। कवियों को उन पर अपने भावों का आरोप करने की आवश्यकता प्रायः नहीं होती। तथ्यों का आरोप या सम्भावना अलबत वे कभी-कभी किया करते हैं। पर इस प्रकार का आरोप कभी-कभी कथन को 'काव्य'

के क्षेत्र से घसीटकर 'सूक्ति' या 'सुभाषित' के क्षेत्र में डाल देता है। जैसे, कौवे सबेरा होते ही क्यों चिल्लाने लगते हैं ? वे समझते हैं कि 'सूर्य अन्धकार का नाश करता बढ़ा आ रहा है, कहीं धोखे में हमारा भी नाश न कर दे।' यह सूक्ति-मात्र है, काव्य नहीं। जहाँ तथ्य केवल आरोपित या सम्भावित रहते हैं वहाँ वे अलंकार रूप में ही रहते हैं। पर जिन तथ्यों का आभास हमें पशु-पक्षियों के रूप, व्यापार या परिस्थिति में ही मिलता है वे हमारे भावों के विषय वास्तव में हो सकते हैं। मनुष्य सारी पृथ्वी छेंकता चला आ रहा है। जंगल कट-कटकर खेत, गाँव और नगर बनते चले आ रहे हैं। पशु-पक्षियों का भाग छिनता चला जा रहा है। उनके सब ठिकानों पर हमारा निष्ठुर अधिकार होता चला जा रहा है। वे कहाँ जायँ ? कुछ तो हमारी गुलामी करते हैं। कुछ हमारी बस्ती के भीतर या आसपास रहते हैं और छीन-झपटकर अपना हक ले जाते हैं। हम उनके साथ बराबर ऐसा ही व्यवहार करते हैं, मानो उन्हें जीने का कोई अधिकार ही नहीं है। इन तथ्यों का सच्चा आभास हमें उनकी परिस्थिति से मिलता है। अतः उनमें से किसी की चेष्टा-विशेष में इन तथ्यों की मार्मिक व्यञ्जना की प्रतीति काव्यानुभूति के अन्तर्गत होगी। यदि कोई बन्दर हमारे सामने से कोई खाने-पीने की चीज उठा ले जाय और किसी पेड़ के ऊपर बैठा-बैठा हमें घुड़की दे, तो काव्य-दृष्टि से हमें ऐसा मालूम हो सकता है कि :—

देते हैं घुड़की यह अर्थ-ओज-भरी हरि
"जीने का हमारा अधिकार क्या न गया रह ?
पर-प्रतिषेध के प्रसार बीच तेरे, नर !
क्रीड़ामय जीवन-उपाय है हमारा यह।
दानी जो हमारे रहे वे भी दास तेरे हुए;
उनकी उदारता भी सकता नहीं तू सह।
फूली-फली उनकी उमंग उपकार की तू
छेंकता है सारा हम जायँ कहाँ, तू ही कह !"

पेड़-पौदे, लता-गुल्म आदि भी इसी प्रकार कुछ भावों या तथ्यों की व्यञ्जना करते हैं जो कभी-कभी कुछ गूढ़ होती है। सामान्य दृष्टि भी वर्षा की झड़ी के पीछे उनके हर्ष और उल्लास को, ग्रीष्म के प्रचण्ड आतप में उनकी शिथिलता और म्लानता को, शिशिर के कठोर शासन में उनकी दीनता को, मधुकाल में उनके रसोन्माद, उमंग और हास को, प्रबल वात के झकोरों में उनकी विकलता को, प्रकाश के प्रति उनकी ललक को देख सकती है। इसी प्रकार भावुकों के समक्ष वे अपनी रूप-चेष्टा द्वारा कुछ मार्मिक तथ्यों की भी व्यञ्जना करते हैं। हमारे यहाँ के पुराने अन्योक्तिकारों ने कहीं-कहीं इस व्यञ्जना की ओर ध्यान दिया है। कहीं-कहीं का मतलब यह है कि बहुत जगह उन्होंने अपनी भावना का आरोप किया है, उनकी रूपचेष्टा या परिस्थिति से तथ्य-चयन नहीं। पर उनकी विशेष-विशेष परिस्थितियों की ओर भावुकता से ध्यान देने पर बहुत से मार्मिक तथ्य सामने आते हैं। कोसों तक फैले कड़ी धूप में तपते मैदान के बीच एक अकेला वट वृक्ष दूर तक छाया फैलाये खड़ा है। हवा के झोंकों से उनकी टहनियाँ और पत्ते हिल-हिलकर मानो बुला रहे हैं। हम धूप से व्याकुल होकर उसकी ओर बढ़ते हैं। देखते हैं उसकी जड़ के पास एक गाय बैठी आँख मूंदे जुगाली कर रही है। हम लोग भी उसी के पास आराम से जा बैठते हैं। इतने में एक कुत्ता जीभ बाहर निकाले हाँफता हुआ उस छाया के नीचे आता है और हममें से कोई उठकर उसे छड़ी लेकर भगाने लगता है। इस परिस्थिति को देख हममें से कोई भावुक पुरुष उस पेड़ को इस प्रकार सम्बोधन करे तो कर सकता है :—

काया की न छाया यह केवल तुम्हारी, द्रुम !
अंतस् के मर्म का प्रकाश यह छाया है।
भरी है इसी में वह स्वर्ग-स्वप्न-धारा अभी
जिसमें न पूरा-पूरा नर बह पाया है।
शांतिसार शीतल प्रसार यह छाया धन्य !
प्रीति सा पसारे इसे कैसी हरी काया है।

हे नर ! तू प्यारा इस तरु का स्वरूप देख,
देख फिर घोर रूप तूने जो कमाया है ।।

ऊपर नरक्षेत्र और मनुष्येतर सजीव सृष्टि के क्षेत्र का उल्लेख हुआ है। काव्यदृष्टि कभी तो इन पर अलग-अलग रहती है और कभी समष्टि रूप में समस्त जीवन-क्षेत्र पर। कहने की आवश्यकता नहीं कि विच्छिन्न दृष्टि की अपेक्षा समष्टि-दृष्टि में अधिक व्यापकता और गम्भीरता रहती है। काव्य का अनुशीलन करनेवाले मात्र जानते हैं कि काव्य-दृष्टि सजीव सृष्टि तक ही बद्ध नहीं रहती। वह प्रकृति के उस भाग की ओर भी जाती है जो निर्जीव या जड़ कहलाता है। भूमि, पर्वत, चट्टान, नदी, नाले, टीले, मैदान, समुद्र, आकाश, मेघ, नक्षत्र इत्यादि की रूपगति आदि से भी हम सौन्दर्य, माधुर्य, भीषणता, भव्यता, विचित्रता, उदासी, उदारता, सम्पन्नता इत्यादि की भावना प्राप्त करते हैं। कड़कड़ाती धूप के पीछे उमड़ती हुई घटा की श्यामल स्निग्धता और शीतलता का अनुभव मनुष्य क्या पशु-पक्षी, पेड़-पौधे तक करते हैं। अपने इधर-उधर हरी-भरी लहलहाती प्रफुल्लता का विधान करती हुई नदी की अविराम जीवन-धारा में हम द्रवीभूत औदार्य का दर्शन करते हैं। पर्वत की ऊँची चोटियों में विशालता और भव्यता का—वात-विलोड़ित जल-प्रसार में क्षोभ और आकुलता का, विकीर्ण-घन-खण्ड-मण्डित, रश्मि-रञ्जित सांध्य-दिगञ्जल में चमत्कारपूर्ण सौन्दर्य का, ताप से तिलमिलाती धरा पर धूल झोंकते हुए अंधड़ के प्रचण्ड झोंकों में उग्रता और उच्छृंखलता का, बिजली की कँपानेवाली कड़क और ज्वालामुखी के ज्वलन्त स्फोट में भीषणता का आभास मिलता है। ये सब विश्वरूपी महाकाव्य की भावनाएँ या कल्पनाएँ हैं। स्वार्थ-भूमि से परे पहुँचे हुए सच्चे अनुभूति-योगी या कवि इनके द्रष्टा-मात्र होते हैं।

जड़ जगत् के भीतर पाये जानेवाले रूप, व्यापार या परिस्थितियाँ अनेक मार्मिक तथ्यों की भी व्यञ्जना करती हैं। जीवन में तथ्यों के साथ उनके साम्य का बहुत अच्छा मार्मिक उद्घाटन कहीं-कहीं हमारे

यहाँ के अन्योक्तिकारों ने किया है। जैसे, इधर नरक्षेत्र के बीच देखते हैं तो सुख-समृद्धि और सम्पन्नता की दशा में दिन-रात घेरे रहनेवाले, स्तुति का खासा कोलाहल खड़ा करनेवाले, विपत्ति और दुर्दिन में पास नहीं फटकते; उधर जड़ जगत् के भीतर देखते हैं तो भरे हुए सरोवर के किनारे जो पक्षी बराबर कलरव करते रहते हैं, वे उसके सूखने पर अपना-अपना रास्ता लेते हैं।

कोलाहल सुनि खगन के, सरवर ! जनि अनुरागि ।
ये सब स्वारथ के सखा, दुर्दिन दैहैं त्यागि।
दुर्दिन दैहैं त्यागि, तोय तेरो जब जैहै।
दूरहि ते तजि आस, पास कोऊ नहिं ऐहै ।।

इसी प्रकार सूक्ष्म और मार्मिक दृष्टिवालों को और गूढ़ व्यञ्जना भी मिल सकती है। अपने इधर-उधर हरियाली और प्रफुल्लता का विधान करने के लिए यह आवश्यक है कि नदी कुछ काल तक एक बँधी हुई मर्यादा के भीतर बहती रहे। वर्षा की उमड़ी हुई उच्छृंखलता में पोषित हरियाली और प्रफुल्लता का ध्वंस सामने आता है। पर यह उच्छृंखलता और ध्वंस अल्प-कालिक होता है और इसके द्वारा आगे के लिए पोषण की नई शक्ति का सञ्चय होता है। उच्छृंखलता नदी की स्थायी वृत्ति नहीं है। नदी के इस स्वरूप के भीतर सूक्ष्म मार्मिक दृष्टि लोकगति के स्वरूप का साक्षात्कार करती है। लोकजीवन की धारा जब एक बँधे मार्ग पर कुछ काल तक अबाध गति से चलने पाती है तभी सभ्यता के किसी रूप का पूर्ण विकास और उसके भीतर सुख-शान्ति की प्रतिष्ठा होती है। जब जीवन-प्रवाह क्षीण और अशक्त पड़ने लगता है और गहरी विषमता आने लगती है तब नई शक्ति का प्रवाह फूट पड़ता है जिसके वेग की उच्छृंखलता के सामने बहुत कुछ ध्वंस भी होता है। पर यह उच्छृंखल वेग जीवन का या जगत् का नित्य स्वरूप नहीं है।

(३) पहले कहा जा चुका है कि नरक्षेत्र के भीतर बद्ध रहनेवाली काव्यदृष्टि की अपेक्षा सम्पूर्ण जीवन-क्षेत्र और समस्त चराचर के क्षेत्र

से मार्मिक तथ्यों का चयन करनेवाली दृष्टि उत्तरोत्तर अधिक व्यापक और गम्भीर कही जायगी। जब कभी हमारी भावना का प्रसार इतना विस्तीर्ण और व्यापक होता है कि हम अनन्त व्यक्त सत्ता के भीतर नरसत्ता के स्थान का अनुभव करते हैं तब हमारी पार्थक्य-बुद्धि का परिहार हो जाता है। उस समय हमारा हृदय ऐसी उच्च भूमि पर पहुँचा रहता है जहाँ उसकी वृत्ति प्रशान्त और गम्भीर हो जाती है, उसकी अनुभूति का विषय ही कुछ बदल जाता है।

तथ्य चाहे नरक्षेत्र के ही हों, चाहे अधिक व्यापक क्षेत्र के हों, कुछ प्रत्यक्ष होते हैं और कुछ गूढ़। जो तथ्य हमारे किसी भाव को उत्पन्न करे उसे उस भाव का आलम्बन कहना चाहिए। ऐसे रसात्मक तथ्य आरम्भ में ज्ञानेन्द्रियाँ उपस्थित करती हैं। फिर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री से भावना या कल्पना उनकी योजना करती है। अतः यह कहा जा सकता है कि ज्ञान ही भावों के सञ्चार के लिए मार्ग खोलता है, ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है। आरम्भ में मनुष्य की चेतन सत्ता अधिकतर इन्द्रियज ज्ञान की समष्टि के रूप में ही रही। फिर ज्यों-ज्यों अन्तःकरण का विकास होता गया और सभ्यता बढ़ती गई त्यों-त्यों मनुष्य का ज्ञान बुद्धि-व्यवसायात्मक होता गया। अब मनुष्य का ज्ञान-क्षेत्र बुद्धि-व्यवसायात्मक या विचारात्मक होकर बहुत ही विस्तृत हो गया है। अतः उसके विस्तार के साथ हमें अपने हृदय का विस्तार भी बढ़ाना पड़ेगा, विचारों की क्रिया से, वैज्ञानिक विवेचन और अनुसन्धान-द्वारा उद्घाटित परिस्थितियों और तथ्यों के मर्मस्पर्शी पक्ष का मूर्त और सजीव चित्रण भी––उसका इस रूप में प्रत्यक्षीकरण भी कि वह हमारे किसी भाव का आलम्बन हो सके––कवियों का काम और उच्च काव्य का एक लक्षण होगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन तथ्यों और परिस्थितियों के मार्मिक रूप न जाने कितनी बातों की तह में छिपे होंगे।

काव्य और व्यवहार

भावों या मनोविकारों के विवेचन में हम कह चुके हैं कि मनुष्य को

कर्म में प्रवृत्त करनेवाली मूल वृत्ति भावात्मिका है। केवल तर्क बुद्धि या विवेचना के बल से हम किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होते। जहाँ जटिल बुद्धि-व्यापार के अनन्तर किसी कर्म का अनुष्ठान देखा जाता है वहाँ भी तह में कोई भाव या वासना छिपी रहती है। चाणक्य जिस समय अपनी नीति की सफलता के लिए किसी निष्ठुर व्यापार में प्रवृत्त दिखाई पड़ता है उस समय वह दया, करुणा आदि सब मनोविकारों या भावों से परे दिखाई पड़ता है। पर थोड़ा अन्तर्दृष्टि गड़ाकर देखने से कौटिल्य को नचानेवाली डोर का छोर भी अन्तःकरण के रागात्मक खण्ड की ओर मिलेगा। प्रतिज्ञा-पूर्ति की आनन्द भावना और नन्दवंश के प्रति क्रोध या वैर की वासना बारी-बारी से उस डोर को हिलाती हुई मिलेगी। अर्वाचीन राष्ट्रनीति के गुरु-घण्टाल जिस समय अपनी किसी गहरी चाल से किसी देश की निरपराध जनता का सर्वनाश करते हैं, उस समय वे दया आदि दुर्बलताओं से निर्लिप्त, केवल बुद्धि के कठपुतले दिखाई पड़ते हैं। पर उनके भीतर यदि छानबीन की जाय तो कभी अपने देशवासियों के सुख की उत्कण्ठा, कभी अन्य जाति के प्रति घोर विद्वेष, कभी अपनी जातीय श्रेष्ठता का नया या पुराना घमण्ड, इशारा करता हुआ मिलेगा।

बात यह है कि केवल इस बात को जानकर ही हम किसी काम को करने या न करने के लिए तैयार नहीं होते कि वह काम अच्छा है या बुरा, लाभदायक है या हानिकारक। जब उसकी या उसके परिणाम की कोई ऐसी बात हमारी भावना में आती है जो आह्लाद, क्रोध, करुणा, भय, उत्कण्ठा आदि का संचार कर देती है तभी हम उस काम को करने या न करने के लिए उद्यत होते हैं। शुद्ध ज्ञान या विवेक में कर्म में उत्तेजना नहीं होती। कर्म-प्रवृत्ति के लिए मन में कुछ वेग का आना आवश्यक है। यदि किसी जनसमुदाय के बीच कहा जाय कि अमुक देश तुम्हारा इतना रुपया प्रति वर्ष उठा ले जाता है तो सम्भव है कि उस पर कुछ प्रभाव न पड़े। पर यदि दारिद्र्य और अकाल का भीषण और करुण दृश्य

दिखाया जाय, पेट की ज्वाला से जले हुए कंकाल कल्पना के सम्मुख रखे जायँ और भूख से तड़पते हुए बालक के पास बैठी हुई माता का आर्त क्रन्दन सुनाया जाय तो बहुत से लोग क्रोध और करुणा से व्याकुल हो उठेंगे और इस दशा को दूर करने का यदि उपाय नहीं तो संकल्प अवश्य करेंगे। पहले ढंग की बात कहना राजनीतिज्ञ या अर्थशास्त्री का काम है और पिछले प्रकार का दृश्य भावना में लाना कवि का। अतः यह धारणा कि काव्य व्यवहार का बाधक है, उसके अनुशीलन से अकर्मण्यता आती है, ठीक नहीं। कविता तो भाव-प्रसार द्वारा कर्मण्य के लिए कर्मक्षेत्र का और विस्तार कर देती है।

उक्त धारणा का आधार यदि कुछ हो सकता है तो यही कि जो भावुक या सहृदय होते हैं, अथवा काव्य के अनुशीलन से जिनके भाव-प्रसार का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है उनकी वृत्तियाँ उतनी स्वार्थबद्ध नहीं रह सकतीं। कभी-कभी वे दूसरों का जी दुखने के डर से आत्मगौरव, कुलगौरव या जाति-गौरव के ध्यान से, अथवा जीवन के किसी पक्ष की उत्कर्ष-भावना में मग्न होकर अपने लाभ के कर्म में अतत्पर या उससे विरत देखे जाते हैं। अतः अर्थागम से हृष्ट, 'स्वकार्यं साधयेत्' के अनुयायी काशी के ज्योतिषी और कर्मकाण्डी, कानपुर के बनियें और दलाल, कचहरियों के अमले और मुख्तार ऐसों को कार्य-भ्रंशकारी मूर्ख, निरे निठल्ले या खब्त-उल-हवास समझ सकते हैं। जिनकी भावना किसी बात के मार्मिक पक्ष का चित्रानुभव करने में तत्पर रहती है, जिनके भाव चराचर के बीच किसी को भी आलम्बनोपयुक्त रूप या दशा में पाते ही उसकी ओर दौड़ पड़ते हैं, वे सदा अपने लाभ के ध्यान से या स्वार्थबुद्धि द्वारा ही परिचालित नहीं होते। उनकी यही विशेषता अर्थ-परायणों को——अपने काम से काम रखनेवालों को——एक त्रुटि-सी जान पड़ती है। कवि और भावुक हाथ-पैर न हिलाते हों, यह बात नहीं है। पर अर्थियों के निकट उनकी बहुत सी क्रियाओं का कोई अर्थ नहीं होता।

कविता और स्वप्न

कल्पना—यद्यपि मैं कविता करने के सौभाग्य से वंचित रहा हूँ तथापि मैं क्षम्य गर्व के साथ कहता हूँ कि स्वप्नों के सम्बन्ध में मेरी मस्तिष्कभूमि बड़ी उर्वरा है किन्तु मेरे स्वप्न किसी कवि, आत्मप्रसंग-सुधारक, आविष्कारक या राष्ट्रनिर्माता के-से नहीं होते वरन् वे ऐसे होते हैं जो चिन्ताग्रस्त, भग्नमनोरथ तथा भावाक्रान्त लोगों के संतप्त और उद्वेलित मस्तिष्क को रात में भी क्रियाशील बनाये रखते हैं और जिनकी थकावट 'हॉर्लिक्स माल्टेड मिल्क' के विज्ञापनों को भी मिथ्या प्रमाणित करने का श्रेय प्राप्त कर सकती है। जहाँ तक मेरे निजी अनुभव का सम्बन्ध है, मैं तो अब ज्ञानियों की भाँति जागरण को एक ईश्वरीय बरदान समझता हूँ किन्तु मैं जानता हूँ कि कुछ लोग ऐसे सुख-स्वप्न अवश्य देखते हैं कि जिनसे जागना एक अभिशाप होता है। और लोग तो सोकर खोते हैं, ऐसे लोग जागकर खोते हैं—'मीरन, और तो सोय के खोवत मैं सखि प्रीतम जागि गँवाये।' कविता यदि स्वप्न है तो ऐसा ही सुख-स्वप्न है।

स्वप्न और कविता का तादात्म्य तो नहीं हो सकता क्योंकि स्वप्न के मानसिक प्रत्यक्ष वास्तविक प्रत्यक्ष से कम सजीवता नहीं रखते हैं (उनमें तात्कालिक सत्य तो अवश्य ही होता है)। हमें कभी-कभी अपने स्वप्नों की सत्यता में सन्देह होने लगता है किन्तु वह शंका भी शीघ्र ही स्वप्न-जाल में विलीन हो जाती है। स्वप्न में बाह्य संसार से हमारा अपेक्षाकृत सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। कविता में ऐसा अधिक नहीं होता।

स्वप्न के तत्त्व—कविता स्वप्न तो नहीं किन्तु वह उसकी कुटुम्बिनी अवश्य है और दिवास्वप्नों के बहुत निकट आ जाती है। यदि हम स्वप्न का विश्लेषण करके देखें तो उसकी बहुत-सो सामग्री हमको कविता में मिल जायगी। स्वप्न के उदय.

ोने में कुछ बाह्य कारण होते हैं और कुछ भीतरी। साधारण प्रत्यक्ष (Perception) में बाहरी सामग्री संवेदना (Sensation) के रूप में आती है किन्तु हमारी पूर्व स्मृतियाँ आदि मिलकर उस वस्तु की प्रत्यभिज्ञा (Cognition) और उसे निश्चित आकार-प्रकार देने में सहायक होती हैं। जहाँ यह मानसिक क्रिया आवश्यकता से अधिक होती है वहीं भ्रम हो जाता है और स्थाणु (लकड़ी का खम्भा) पुरुष का रूप धारण कर लेता है। स्वप्न में यह बाहरी सामग्री बहुत कम होती है। इन संवेदनों (Sensations) के लिए बाहरी आघात आवश्यक नहीं। जहाँ थोड़ी उत्तेजना होती है वहाँ उस पर मानसिक क्रिया चल पड़ती है और उसको केन्द्र बना स्वप्न का जाल बुन लिया जाता है। बाहर कहीं घंटा बजा तो स्वप्नद्रष्टा अपने मन की स्थिति के अनुकूल गिरजा या मन्दिर रच लेता है, अथवा स्कूल या कालेज समय पर न पहुँचने की चिन्ता से व्यथित हो भागने लगता है; कभी-कभी वह रेलगाड़ी, ट्राम या मोटर की रचना कर लेता है। भागने-दौड़ने तथा उड़ने के स्वप्न बहुत-कुछ सोते समय हाथ-पैरों की स्थिति पर निर्भर रहते हैं। कभी-कभी मच्छर की भनभनाहट गान में परिणत हो जाती है, कभी-कभी पर सो जाने आदि की आन्तरिक संवेदना सर्प या अजगर द्वारा पैर के ऐंठे जाने के भयप्रद अनुभव में परिणत हो जाती है। यह बाह्य सामग्री कभी-कभी स्वतःचालित स्नायविक उत्तेजना (Automatic nervous excitement) से मिल जाती है।

स्वप्न के उपादान तो कल्पना के चित्र होते हैं और उनका तारतम्य अनियंत्रित सम्बन्ध-ज्ञान (Free association) के बल पर चलता रहता है। इनमें हमारी अभिलाषाएँ भी बहुत-कुछ योग देती हैं। हमारी चिन्ताएँ, उपचेतना में दबी हुई अभिलाषाएँ, अतृप्त वासनाएँ और कभी-कभी ऐसी बातें जिनकी हमारे मन पर गहरी छाप पड़ी हो, कल्पना के चित्रों के चुनाव में कारण बनती हैं। फ्रायड ने स्वप्न के सम्बन्ध में बहुत-कुछ अनुसन्धान किया है किन्तु उन्होंने उपचेतना में दबी हुई

अतृप्त वासनाओं और विशेषकर कामवासनाओं पर अधिक जोर दिया है। उनके मत से स्वप्नों में प्रतीकत्व (Symbolism) भी होता है जो कि वासनापूर्ति के नग्न स्वरूप पर आवरण डाल देता है जैसे कोई अपने जान-पहचान के किसी मनुष्य को, जिससे कभी छुटपन में लड़ाई हो गई हो, फाँसी के तख्ते पर न लटका हुआ देखकर केवल तख्ते उतारते या चीरते देखे। अधिकांश स्वप्न अभिलाषापूर्ति के या किसी चिन्ता के हल ढूँढ़ने के होते हैं। वह भी एक प्रकार की अभिलाषापूर्ति है।

इस प्रकार स्वप्न में निम्नलिखित तत्त्व आ जाते हैं—(१) कुछ बाहरी संवेदना, (२) कल्पना, (३) सम्बन्ध-ज्ञान, (४) इच्छा, अभिलाषा, वासना जिसकी पूर्ति या अपूर्ति जो उसमें कुछ रागात्मकता ले आती है और (५) वेद्यान्तर सम्पर्क-शून्यता अर्थात् अपने विषय के अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तु का भान न होना।

दिवा-स्वप्नों में भी करीब-करीब येही बातें होती हैं किन्तु उनका प्रत्यक्षीकरण इतना सजीव नहीं होता जितना कि रात्रि-स्वप्नों का। इसका कारण यह है कि दिन में कल्पना के बहाव में वह जाने पर भी बुद्धि का कठोर शासन बना रहता है और वास्तविक संसार से हमारा पूर्ण विच्छेद भी नहीं होता।

यहाँ पर कल्पना के सम्बन्ध में दो-एक शब्द कह देना अनुपयुक्त न होगा। कल्पना वह शक्ति है जिसके द्वारा हम अप्रत्यक्ष के मानसिक चित्र उपस्थित करते हैं। कल्पना का अँगरेजी पर्याय 'Imagination' है। यह शब्द 'Image' या मानसिक चित्र से बना है। संस्कृत में कल्पना शब्द 'क्लृप' धातु से बना है, जिसका अर्थ है सृष्टि करना। स्वर्ग के कल्पवृक्ष की भाँति कल्पना भी मनचाही परिस्थिति उपस्थित कर देती है। कल्पना द्वारा उपस्थित किये हुए चित्र भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों काल के हो सकते हैं। मैं कालेज में बैठा हुआ घर पर जो हो रहा होगा उसकी कल्पना कर सकता हूँ। यह वर्तमान किन्तु अप्रत्यक्ष के सम्बन्ध में कल्पना है। शिवाजी या शाहजहाँ औरंगजेब द्वारा कैद किये

जाने पर क्या सोचते होंगे यह भूत की कल्पना है और भावी युद्ध कैसे होंगे यह भविष्य-सम्बन्धी कल्पना है। कल्पना असंकल्पित (Passive) और संकल्पित (Active) दोनों प्रकार की होती हैं। असंकल्पित कल्पना ही दिवा-स्वप्नों और स्वच्छ कल्पना (Fancy) में परिणत हो जाती है। स्वप्न में भी इसी प्रकार की कल्पना काम करती है। जब हमारे मानसिक चित्रों का तारतम्य बिना किसी प्रयास से चलता रहता है तब वह निष्क्रिय कहलाती है और जब वह प्रयास से चलता है तब वह सक्रिय होती है।

इसके अतिरिक्त कल्पना का एक और विभाग किया गया है। जब पिछले दृश्य जैसे-के-तैसे कल्पना में दुहराये जाते हैं तब उसे पुनरावृत्यात्मक (Reproductive) कहते हैं और जब पहले के चित्रों में उलट-फेर होता है या उनके नये योग किये जाते हैं तब वह सृजनात्मक (Productive) कहलाती है। हमने स्वर्ण भी देखा है और मृग भी। इस प्रकार हम स्वर्ण-मृग की कल्पना कर सकते हैं किन्तु इस प्रकार की कल्पना की सीमाएँ होती हैं। हम दो विरोधी बातों को एक साथ नहीं जोड़ सकते हैं। हम ऐसी वस्तु की कल्पना नहीं कर सकते हैं जो एक साथ नारंगी-सी गोल और पैसे-सी चपटी भी हो तथा जो एक ही साथ सफेद हो और काली भी।

कल्पना का हमको हर समय काम पड़ता है। साधारण प्रत्यक्ष में आधा वास्तविक प्रत्यक्ष होता है और आधा काल्पनिक। हम वृक्ष का एक पहलू देखते हैं और दूसरे की सत्ता कल्पना में सही मान लेते हैं। हम वस्तु को देखकर उसके चिकनापन और खुरदरापन का अनुमान कर लेते हैं। इसको न्यायशास्त्र में ज्ञान-लक्षण से उत्पन्न अलौकिक प्रत्यक्ष कहा है। बच्चों के खेल में भी कल्पना का बहुत काम पड़ता है। लकड़ी का घोड़ा बनाकर 'चल रे घोड़े, चल रे घोड़े सरपट चाल' कहना कल्पना ही का काम है। चित्रों के टुकड़े अलग-अलग जुटाकर उनका साबित चित्र बनाना कल्पना का ही खेल है। कवि भी कल्पना से काम लेता है। उसी के [illegible] कल्पना का कार्य अनुभूत

और अभिव्यक्ति दोनों ही में है। अलंकार, लक्षणा, व्यंजना सब कल्पना के रूप हैं। हमारे स्वप्न भी, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, कल्पना के उपादानों से ही बनते हैं। आविष्कार का भी कल्पना का आश्रय लिये बिना काम नहीं बनता। पागल की कल्पना अनियंत्रित रूप धारण कर कभी-कभी उसको ऐसा भान करा देती है कि वह ईसामसीह है या काँच का बना हुआ है; अथवा वह मनुष्य नहीं है, बकरा है।

भिन्न-भिन्न मनुष्यों में भिन्न-भिन्न प्रकार के कल्पना के चित्रों का प्राधान्य होता है और कभी-कभी ये काल्पनिक चित्र क्रिया का भी संचालन करा देते हैं। किन्हीं-किन्हीं पुरुषों में चाक्षुष-चित्रों का प्राधान्य होता है, किन्हीं में शब्द-चित्रों का और किन्हीं में ग्रन्थ-चित्रों का तथा किन्हीं में स्पर्श-चित्रों वा क्रिया एवं गति-चित्रों का। किसी शब्द का वर्णविन्यास याद करते हुए बहुत-से लोग कल्पना में हाथ चलाना प्रारम्भ कर देते हैं। बहुत-से लोग मानसिक गणित करने में अँगुलियों का संचालन करने लगते हैं।

प्रतिभा—कवि की प्रतिभा (Genius) भी तो एक असाधारण प्रकार की कल्पना है। वह संकल्पित और असंकल्पित कल्पना के बीच की चीज है। उसमें थोड़े परिश्रम से अधिक फल की प्राप्ति हो सकती है। उसमें अपने आप नई-नई स्फूर्ति होती रहती है। अपने यहाँ प्रतिभा को दो प्रकार का माना है, कारयित्री जो कि कवि और रचयिता में होती है और भावयित्री जो कि भावक, आलोचक व सहृदय पाठक में होती है। स्वप्न में बुद्धि का नियंत्रण नहीं रहता, प्रतिभा में नियन्त्रण रहता है। स्वप्न में भी नवीनता का अभाव नहीं किन्तु प्रतिभा में नवीनता की भावना कुछ अधिक रहती है किन्तु साथ ही वह अधिक बुद्धिसंगत भी होती है।

तुलना—यह विषयान्तर भूमिका-रूप से आवश्यक था। पाठकगण इसे क्षमा करेंगे। अब हम कविता पर आते हैं। श्रीमती महादेवी वर्मा ने साहित्य-सम्मेलन में कहा है कि **'कवि को वास्तविक द्रष्टा के साथ स्वप्न-द्रष्टा भी होना चाहिए'**। अब जरा विचार करने पर यह स्पष्ट

हो जायगा कि कवि किस अर्थ में स्वप्नद्रष्टा अथवा विश्वामित्र की भाँति अपना संसार रचता है। उसमें प्रायः वर्तमान के प्रति असन्तोष की भावना रहती है। वह अपनी इच्छा के अनुकूल संसार को बदल लेता है :—

'अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥'

—अग्निपुराण (३१९।१०)

स्वप्न में भी परिवर्तन होता है। स्वप्न-सम्बन्धी परिवर्तनों को फ्रायड ने 'Condensation' अर्थात् घनीकरण—जैसे व्यक्तियों का मिला देना अर्थात् एक के व्यक्तित्व या आकार में दूसरे का व्यक्तित्व या आकार मिला देना—और Displacement अर्थात् स्थानान्तर करना कहा है। स्वप्न के परिवर्तन प्रायः अस्पष्टता लाते हैं और कुछ विकृति भी उत्पन्न करते हैं किन्तु कविता के परिवर्तन स्पष्टता और सुष्ठुता का सम्पादन करते हैं। कवि के स्वप्नों का आधार वास्तविक संसार अवश्य होता है किन्तु साधारण लोगों की अपेक्षा उसमें भावनाओं, स्मृतियों तथा अभिलाषाओं का अधिक मेल रहता है। कवि यदि जग-बीती बात भी कहता है तो उसमें अपनी अभिलाषाओं और अपने आदर्शों का रंग दे देता है। स्वप्न की तरह कविता करने में चाक्षुष-प्रत्यक्ष की अपेक्षा मानसिक क्रियाओं का प्राधान्य होता है। कवि की रुद्ध और दबी हुई अभिलाषाएँ तथा वासनाएँ निर्झर के स्रोत की भाँति फूट पड़ती हैं और वह अपने अभिलषित संसार का स्वप्न-द्रष्टा की भाँति मानसिक प्रत्यक्ष कर लेता है। उसमें उसकी अहंभावना की तृप्ति हो जाती है। जो बातें वह अपनी प्रेयसी से कहना चाहता है, कविता में उनके शब्द-चित्र उपस्थित कर उनको मुखरित कर देता है; मानस के भरत आदि पात्रों में तुलसी की भक्ति-भावना बोलती हुई सुनाई पड़ती है। कविता की पंक्तियाँ कवि के दुःख-सुख की वाहिनी बन जाती हैं। कवि अपने भावों को व्यक्त करके कुछ हल्कापन और शान्ति का भी अनुभव करता।

हैं, शायद वह मिलन का सुख भी प्राप्त करने लगता है और किसी-न-किसी अंश में मनमोदकों से उसकी भूख भी बुझ जाती है।

फ्रायड के स्वप्न-द्रष्टा की भाँति कवि किन्हीं अंशों में प्रतीकों (Symbols) से भी काम लेता है। कभी कामवासना पर भक्ति का आवरण डाल दिया जाता है और कभी-कभी कविगण ज्ञान और भक्ति पर वासना का शर्करावेष्टन चढ़ाकर उसको अधिक ग्राह्य बना देते हैं, कभी आध्यात्मिक आनन्द का भौतिक आनन्द की शब्दावली में चित्रण कर उसको लोक सामान्य के अनुभव की पहुँच में लाया जाता है। कवि के रूपक भी स्वप्न-के-से प्रतीक ही होते हैं। यदि वे किसी भाव के प्रतीक नहीं होते तो वे कवि के हृदय की उत्कण्ठा के तो चिह्न होते ही हैं। कवि जिस उत्कृष्ट रूप में अपने वर्ण्य-विषय को देखना चाहता है उसी के वह रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार बना लेता है। उत्प्रेक्षा का अर्थ ही है उत्कट प्रेक्षण इच्छा। रूपक का भी अर्थ है रूप का आरोप। रूपकों और उत्प्रेक्षाओं द्वारा कवि एक हलके प्रकार से अपनी अभिलाषा-पूर्ति कर लेता है। स्वप्नों में भी प्रायः रूपकों-का-सा आरोप रहता है। हम लोगों को प्रायः बदला हुआ-सा देखते हैं।

कवि की कल्पना कभी-कभी दिवा-स्वप्नों की भाँति असंकल्पित और अनियंत्रित रूप से चलती है—'बादल से बँधे आते हैं मजमूं मेरे आगे'—और कभी उसमें प्रयास से भी नये चित्र लाने पड़ते हैं। कवि को सम्बन्ध-ज्ञान से भी वहुत काम लेना होता है और उसके समता-मूलक तथा विरोधमूलक अलंकार एक प्रकार के सम्बन्ध-ज्ञान से ही सम्बन्ध रखते हैं। जब कवि की कल्पना अधिक प्रबल हो जाती है और उसका प्रवाह कुछ-कुछ अनियन्त्रित रूप से चलता है तब उसको अँगरेजी में फैंसी (Fancy) कहते हैं। ऐसी अवस्था में कवि चाहे दिवा-स्वप्न न देखे किन्तु एक के बाद एक सम्बन्ध की शृंखला तैयार होती चली जाती है। जहाँ उपमाओं की झड़ी लग जाती है, जैसी पन्तजी की 'छाया' या 'नक्षत्र' नाम की कविताओं में, वहाँ सम्बन्ध-

ज्ञान ही काम करता है और कभी-कभी वह बहुत अनियन्त्रित प्रकार का होता है। स्वप्न में भी सम्बन्ध-ज्ञान बड़े अनियन्त्रित रूप से काम करता है। जिसको हम अनियन्त्रित कहते हैं वह शायद लुप्त-सुप्त वासनाओं का नियन्त्रण होता है। अच्छी कविता में भी प्रायः भावनाओं का ही मनोराज्य होता है। कभी-कभी स्वप्न-चित्रावली शब्द-चित्रों का रूप धारण कर कविता वन जाती है। अँगरेजी साहित्य में कालरिज की 'Kublakhan' नाम की कविता इसका उदाहरण है।

स्वप्न और कविता में एक अन्तर यह भी है कि यद्यपि रस की अवस्था वेद्यान्तरशून्य मानी गई है तथापि कविता में प्रत्यक्ष संसार और उसकी कठोर वास्तविकता कम भुलाई जाती है।

कविता का उदय चाहे अवचेतना में हो किन्तु वह पल्लवित सजग चेतना में ही होती है। स्वप्न में व्यक्ति का अंश प्रधान रहता है और जाति की भावनाएँ कुछ अल्प मात्रा में मिलती हैं। कविता के व्यक्ति में जाति की झलक रहती है। कविता-की-सी सामाजिकता भी स्वप्न में नहीं है।

प्रायः सभी कविताएँ किसी-न-किसी प्रकार से कवि का स्वप्न होती हैं अर्थात् वह वास्तविकता को जिस रूप में देखता है या देखना चाहता है, इस वात की वे परिचायिका होती हैं। कविता की अपेक्षा नाटक में स्वप्न-का-सा आत्मभाव का द्वैधीकरण (Splitting of personality) कुछ अधिक रहता है। कवि और विशेषकर नाटककार अपने को विभिन्न पात्रों की स्थिति में रख लेता है। स्वप्न में यह कार्य अचेतन रूप से किन्तु पूर्णता के साथ होता है।

कुछ कवियों के स्वप्न—स्वप्नों की भाँति कविताओं में भी भविष्य की स्थिति का संकेत रहता है और कभी-कभी उससे क्रियात्मक लाभ भी उठाया जा सकता है। कुछ कविताओं में पूर्वानुभूत सुखों का वर्णन या प्राचीन गौरव का चित्र रहता है। ऐसी कविताओं को हम अतीत का स्वप्न कहेंगे। निराशा की ग्रन्थि को हम ऐसे ही स्वप्नों में रक्खेंगे।

उत्तररामचरित में भी ऐसे स्वप्न मिलते हैं। श्री मैथिलीशरणजी गुप्त की 'भारत-भारती' में हमारे देश के अतीत के स्वप्न अच्छे हैं। पंतजी की 'भावी पत्नी' नाम की कविता को हम दिवा-स्वप्न कह सकते हैं। इसमें उनकी आन्तरिक कल्पना का प्रत्यक्षी-करण हो गया है :—

'नवल मधुऋतु-निकुंज में प्रात,
प्रथम-कलिका-सी अस्फुट गात,
नील नभ-अन्तःपुर में, तन्वि !
दूज की कला सदृश नवजात;
मधुरता, मृदुता-सी तुम प्राण !
न जिसका स्वाद-स्पर्श कुछ ज्ञात;
कल्पना, हो जाने, परिमाण ?
प्रिये, प्राणों की प्राण।'

—गुंजन (पृष्ठ ४०)

इस प्रकार कवि अपने मन के उल्लास को व्यक्त करता है। एक अभिलाषा-मूलक ध्वनि और गति का चित्र हिन्दी के होनहार कवि श्री चिरंजीलाल 'एकाकी' के 'रजनी' नामक एकांकी नाटक से दिया जाता है :—

'कल्पना-सी सुन्दर साकार
स्वर्ण-नूपुर की भर झंकार
गुलाबी चरणों से चल मौन
खोल दे मेरे उर का द्वार'

भक्त कवियों के स्वप्न—भक्तों ने अपने-अपने विश्वासों के अनुकूल मनोरथों के सुख-स्वप्न देखे हैं। रसखान का प्रसिद्ध सवैया जो नीचे दिया जाता है, कवि की अभिलाषा का सुन्दर चित्र है। ऐसी अवस्थाओं में अभि-लाषाओं का कथन-मात्र स्वप्न-की-सी आंशिक पूर्ति अवश्य कर देता है। देखिए, रसखानजी कैसे आनन्द-विभोर हो कहते हैं :—

मानुष हौं, तौ वही 'रसखानि', बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौं, तौ कहा बसु मेरो, चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन।।
पाहन हौं, तौ वही गिरि को, जो धर्‌यो कर छत्र पुरंदर धारन।
जो खग हौं, तौ बसेरो करौं नित, कालिन्दी-कूल-कदंब की डारन।।

--रसखान और उनका काव्य (पृष्ठ ८४)

यह स्वप्न कवि की भावुकता और कथावार्त्ताओं में सुनी हुई बातों के सम्बन्ध-ज्ञान से बना है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी एक कर्त्तव्य-सम्बन्धी स्वप्न देखा है। वह अत्यन्त सुन्दर है:—

'कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ-कृपालु-कृपा तें सन्त-स्वभाव गहौंगो।।
यथालाभ-संतोष सदा काहू सों कछु न चहौंगो।
पर-हित-निरत निरन्तर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो।'

--विनयपत्रिका (पद १७२)

इसमें चाक्षुष चित्र तो कम हैं किन्तु उनके जीवन का आदर्श प्रतिबिम्बित है।

महात्मा भर्तृहरि ने अपने 'वैराग्यशतक' में गंगा-तीर पर किसी शिला के ऊपर पद्मासन बाँधकर बैठने का स्वप्न देखा है और अभिलाषा की है कि कब ऐसे बैठे उनके शरीर से हिरण निर्भय होकर अपने सींगों की खुजली मिटायेंगे :—

'गंगातीरे हिमगिरिशिलाबद्धपद्मासनस्य,
ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रागतस्य।
किं तैर्भाव्यं सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशङ्काः,
सम्प्राप्स्यन्ते जरठहरिणाः शृंगकण्डूविनोदम्' ।।

--भर्तृहरिशतकम् (वैराग्यशतकात्)

भक्तों के मनोराज्य बड़े ही सुन्दर होते हैं। महात्मा सूरदास का स्वप्न सुनिए :—

'ऐसेहिं बसिये ब्रज की बीथिन।
साधुनि के पनवारे चुनि-चुनि उदर जु भरिये सीतनि ।।
पैंड़े में के बसन बीनि तन छाया परम पुनीतनि ।
कुंज-कुंज तर लोटि-लोटि रचि रज लागै रंगीतनि ।।
निसि-दिन निरखि जसोदानंदन अरु जमुना-जल पीतनि।
दरसन 'सूर' होत तन पावन, दरस न मिलत अतीतनि ।।'

—सूर पंचरत्न (विनय, पृष्ठ ९)

कवि लोग हमेशा अपने ही स्वप्नों का वर्णन नहीं करते हैं वरन् वे योगी की भाँति दूसरे के शरीर में प्रवेशकर उसके स्वप्न देखकर मग्न होते हैं। वे अक्सर स्वयं छिपे रहकर दूसरे के मुख से अपनी बात कहलाते हैं। पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी की 'फूल की चाह' शीर्षक कविता में कवि की राष्ट्रीय आतमा के दर्शन मिलते हैं :—

'चाह नहीं, मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ।
चाह नहीं, प्रेमी-माला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ।।
चाह नहीं, सम्राटों के शव पर हे हरि ! डाला जाऊँ।
चाह नहीं, देवों के सिर पर चढ़ूँ, भाग्य पर इठलाऊँ।।
मुझे तोड़ लेना बनमाली ! उस पथ में देना तुम फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक।।'

—माखनलाल चतुर्वेदी (पुष्प की अभिलाषा)

भाव-तादात्म्य—दूसरे के भावों को अपना बना लेने को कुछ अँगरेजी मनोवैज्ञानिकों ने Empathy कहा है। 'Sympathy' में सहानुभूति होती है, 'Empathy' में भाव-तादात्म्य कर कवि स्वयं अपने को नायक की स्थिति में रख लेता है। बहुत-सी जगबीती कविताओं में भी 'Empathy' से ही काम लिया जाता है। इसी से कवि हर एक वर्ग का प्रतिनिधि होकर उसका स्वप्न देखने लगता है, जिस प्रकार स्वप्नद्रष्टा अपनी जाग्रत अवस्था की सृष्टि का अपनी कल्पना में कुछ हेर-फेर के साथ पुनर्निर्माण करता है उसी प्रकार कवि भी वास्तविकता

को अपने भावों का रंग देकर चित्रित करता है। कवि की चित्रावली नितान्त उच्छृंखल नहीं होती, उसमें बुद्धितत्त्व के लिए स्थान रहता है।

करुणा के साथ वीभत्सता—कोई कवि जीवन में से सुन्दर चित्र लेते हैं और कोई करुण। स्वप्न और कविता दोनों में ही रुचि और भावनाओं के अनुकूल चुनाव रहता है। करुणा भी कोमल भावों को जाग्रत करती है, किन्तु सब स्थानों में शायद वह सौन्दर्य-भावना की तृप्ति न कर सके। अंचलजी की 'किरण-बेला' में एक दुपहर का स्वप्न देखिए :—

'गंदी स्तब्ध कोठरी में अनजान।
सो रहा अन्धा कुत्ता एक
वहीं पर मैली शय्या
धानी चुनरी बिछाये लेटी नारी,
घायल चील-सी
अधनंगी अज्ञात,
किसी श्रमजीवी की अभिशाप,
चूसता फिर निचोरता सूखे स्तन
भूखा शिशु।'

—किरण-बेला (दोपहर की बात, पृष्ठ ४२ तथा ४३)

इस स्वप्न में वास्तविकता है, करुणा है किन्तु इसके सौन्दर्य को योगी ही देख सकते हैं, साधारण मनुष्य नहीं। ऐसे चित्रों में भी सौन्दर्य को अवतरित करना सच्चे कलाकार का काम है। सच्ची सहानुभूति जाग्रत होने पर वीभत्स में करुणा की सरसता आ जाती है। इस जाग्रति में कलाकार और आलोचक दोनों को ही साधारण भाव-भूमि से ऊँचे उठने की आवश्यकता है।

सब स्वप्न झूठे नहीं होते। सब में सत्य का कुछ-न-कुछ आधार अवश्य रहता है; किसी में कम, किसी में ज्यादा। छायावादी कवि आ

प्रकृति को मानवी रंग में रँगा हुआ देखता है, रहस्यवादी जो परमात्मा से मिलन या विरह के गीत गाता है और प्रगतिवादी जो वर्तमान वर्गवाद को मिटाकर एक वर्गरहित समाज देखना चाहता है, सभी अपनी-अपनी रुचि, शिक्षा-दीक्षा, आशा-अभिलाषाओं के अनुकूल स्वप्न द्रष्टा हैं।

—बाबू गुलाब राय
(सिद्धान्त और अध्ययन से)

काव्य की प्रेरणा-शक्ति

साधारणतः मनुष्य अपने जीवन का ध्येय लौकिक धन-सम्पत्ति, मान-मर्यादा, यश-प्रतिष्ठा, सुख-विलास, पुत्र-सन्तान आदि ही समझता है। इससे अधिक सोचने की न उसे चिन्ता है, न अवकाश और न इच्छा ही। जीवन की ये स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं। मनुष्य की इन्द्रियों की बनावट भी बाह्यमुखी है। उनके छिद्र बाहर की ओर हैं[1]। वे सहज ही अन्तर्मुखी नहीं हो सकतीं। अतः अपनी अन्तरात्मा के बदले सांसारिक विषयों की ओर वे अधिक प्रलुब्ध रहती हैं। स्वाभाविक रूप से मनुष्य का जीवन जैसा है, उससे निवृत्ति चाहना उसका पारलौकिक उद्देश्य हो जाता है। आध्यात्मिक लक्ष्य--परलोक--को प्राप्त करने के लिए जीवन--लोक--एक साधन-मात्र बन जाता है और ऐसी दशा में जीवन की परिधि लोक में सीमित न रहकर बृहत्तर--उससे भी बढ़कर असीम--हो जाती है। यही कारण है कि मरणधर्मा मनुष्य अमृतत्त्व की आकांक्षा करता है; क्योंकि उससे आत्म-विस्तार की प्रेरणा उत्पन्न होती है। औसत मनुष्य को अपने जीवन का न तो कोई अर्थ मालूम होता है और न उसके किसी गूढ़ोद्देश्य का पता रहता है। साधारणतः, विचार-बुद्धि का स्पष्ट सम्बन्ध न रखता हुआ ही उसका जीवन-व्यापार चलता है। मनोविश्लेषण से भी यह बात सिद्ध होती है। जीवन के पुरुषार्थ-चतुष्टय--धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष--में, काम अपने साथ अर्थ तथा धर्म को समेटता हुआ जीवन के विविध व्यापारों का प्रेरक है और मोक्ष जीवन का निवृति-मूलक लक्ष्य है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जीवन के दो मुख्य ध्येयों में काम

---

१ परांचि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ पश्यति नांतरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

—कठोपनिषद्, २।१

विषयानन्द तथा मोक्ष ब्रह्मानन्द के प्रतीक हैं। संयमित काम अपना विकास दाम्पत्य या पारिवारिक जीवन में पाता है और उससे बढ़कर भी वह जीवन की लोकान्तर्गत परिधि के भीतर ही रहकर व्यापार करता है। इस काम के पोषण तथा नियन्त्रण के लिए अर्थ और धर्म की प्राप्ति वांछनीय समझी जाती है। इस प्रकार काम धर्म, अर्थ तथा काम के रूप में——त्रिवृत् हो जाता है और भक्ति, योग तथा मोक्ष के समन्वय से मोक्ष भी इसी प्रकार एक दूसरे त्रिवृत् में आ जाता है।

समस्त सेंद्रिय जीव को दो आवश्यकताएँ सदा रहती हैं——प्रसव और पोषण। प्रसव के लिए एक दूसरे का सहयोग अपेक्षित होता है और पोषण के लिए जीवन में द्वंद्व करना पड़ता ह, एक दूसरे का संहार होता है। जीवन की सारी विविधताएँ इन दोनों तत्वों पर केंद्रित हो जाती हैं। इनके अतिरिक्त जीवन में जो भावनाएँ, जो आकांक्षाएँ होती हैं और मानी जाती हैं, वे भी प्रसव तथा पोषण के नाना रूपान्तर ही मानी जा सकती हैं। अस्तित्व की रक्षा और विकास की दृष्टि से जीवन में अगणित पाप-पुण्य का सृजन-विसर्जन करना पड़ता है। अस्तित्व का निश्चय होते ही उसकी वृद्धि तथा विकास की चिन्ता होती है। अपने पाँवों पर अच्छी तरह खड़ा होने के पहले ही, बालक चलने की चेष्टा करने लगता है। आत्म-विस्तार की यह भावना मनुष्य के प्रत्येक विचार, प्रत्येक कर्म में रहती है। व्यापक रूप से जो अपना आत्म-विस्तार करता है, वह चराचर में एक आत्मरूप देखता है। समस्त मानव-समाज को विश्व-बन्धुत्व की भावना से देखना, यही दृष्टिकोण है। जिसमें हृदय की इतनी विशालता नहीं होती, वह एक छोटी-सी मानव-परिधि के भीतर ही क्षमा, दया, स्नेह, कृपा, त्याग, उपकार आदि के द्वारा अपने अस्तित्व की सत्ता को दूसरों पर प्रत्यक्ष कर अपनी वृद्धि और व्यापकता का विस्तार करता है।

काव्य में मनुष्य अपने आत्म-विस्तार के द्वारा समस्त मानवता को एक सामान्य कोटि के भीतर लाता है। "अविभक्तं विभक्तेषु"——अनेकता

में एकता देखना, काव्य की अपनी दृष्टि है। साधारणीकरण का यही काव्यगत तात्पर्य है। एक जीवन में जो भावनाएँ, कल्पनाएँ, संकल्प, विकल्प हैं, वे दूसरों में भी प्रायः उसी प्रकार क्रियाशील रहते हैं। जितने नैसर्गिक भाव हैं, वे आत्म-विस्तार की भावना से ही उत्थित होते हैं और जितने बुरे भाव हैं, वे आत्म-संकोच करते हैं।

प्रत्येक मानव-हृदय की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि वह अपनी व्यापकता अधिकाधिक बढ़ावे और उसके साथ ही दूसरे के प्रभाव से अपने व्यक्तित्व की एकनिष्ठा बचाने की चेष्टा भी करता रहे। विस्तारण और संकोचन, आकर्षण और विकर्षण के मध्य में मनुष्य का जीवन प्रतिक्षण अतिवाहित होता है। अपने भाव, अपने विचार से दूसरों को व्याप्त कर अपनी मर्यादा के विकास की लालसा जितनी तीव्र रहती है, बाह्य प्रभाव से अपनी रक्षा की चिन्ता भी उससे कम नहीं होती। दूसरे के ऊपर अपना प्रभाव स्थापित करना, अपने अस्तित्व की विजय समझी जाती है। जो दूसरों का आकर्षण करता है, वह अपनी प्रतिष्ठा को भी निश्चित रखना चाहता है। जीवन का यह द्वंद्व बहुत क्षमताशील है। जो निर्बल है, अक्षम है वह अपने अस्तित्व की रक्षा, अपनी विशेषता की प्रतिष्ठा नहीं कर सकता। महापुरुष के व्यक्तित्व के आकर्षण से खिंचकर, साधारण मनुष्य अपने भाव-विचार को समर्पित कर देता है और इस प्रकार जीवन की सारी कर्मण्यता को ही वह उसी आदर्श की ओर उन्मुख कर देता है। आत्म-विस्तार का यह आध्यात्मिक रूप है। जाति और देश की बढ़ी-चढ़ी शिक्षा, सभ्यता, संस्कार, शक्ति आदि के कारण कोई जाति तथा देश अपने विशेषत्व का निर्वाह नहीं कर सकते और अन्त में इच्छा या अनिच्छा से उन्हें आत्म-समर्पण करने को बाध्य होना पड़ता है। महत्त्वाकांक्षा की प्रवृत्ति रहने पर भी सब में वैसी मनीषिता नहीं होती।

मनीषी और क्षमताशील पुरुष को अपने आत्म-विस्तार में ही यथार्थ सुख मालूम पड़ता है। हमारी भावनाएँ जब दूसरे हृदय में पहुँचकर स्थान पाती हैं, [illegible] हैं, तब हमें आनन्द प्राप्त होता है। इसी

प्रकार अपनी सत्ता को व्यापक बनाकर जगत् के अणु-परमाणु के साथ तादात्म्य कर देने से 'भूमा' सुख मिलता है। जीवन की यह परमावधि और अन्तिम लक्ष्य है। सृष्टि के साथ अपनी सत्ता के एकात्म्य का अनुभव ही सत्य है और उसी स्थिति में जगत् तथा मानवता के लिए आत्मोत्सर्ग करना सरल हो जाता है; क्योंकि उस समय व्यक्तित्व संकुचित नहीं, निस्सीम रहता है। मरण से भयभीत होने का कारण जीवन का मोह है, उसके अन्त की अनिच्छा है, किन्तु जब इस मोह का संकुचित आवरण हट जाता है, तब न वह मोह रहता है और न वह अनिच्छा ही बनी रह पाती है। अनन्त सत्ता के साथ अपने व्यक्तित्व को मिला देने में जीवन का अन्त नहीं होता, प्रत्युत् वह भी अनन्त ही हो जाता है। मृत्यु सीमा की होती है, असीम तथा अनन्त की नहीं। जीवन का परम उद्देश्य ही अपने को अभिव्यक्त करना है। व्यक्ति से यही तात्पर्य है। अपनी भौतिक सीमा को असीम के साथ मिलाना है। भौतिकता के पोषण को ही लक्ष्य बनाना, भाषा को केवल व्याकरण-विधान मानना है। व्याकरण की सार्थकता भाषा को गति देने में है, उसे अवरुद्ध करने में नहीं। भौतिक जीवन भी एक साधन है, जो सृष्टि में अपनी गति का प्रयत्न करता है।

मनुष्य के अन्तःकरण का स्वरूप जैसा होता है, उसकी भावनाएँ भी तदनुरूप ही होती हैं। "अनन्त वै मनः। अनन्तः विश्वेदेवाः"। मन की अनन्त वृत्तियाँ होने के कारण इस जगत् में भी अनन्त शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं। उन अनन्त मानसिक वृत्तियों के आधार पर ही मनुष्य[१] अपनी कलात्मक अभिरुचि का परिचय, सृष्टि रूप में, देता रहता है। यह

---

१. मनुष्य-संज्ञा के लिए यास्क ने अपने निरुक्त में जो व्युत्पत्त्यार्थ दिया है, वह इस प्रकार है—'मनुष्यः कस्मान्मत्वा कर्माणि सीव्यंति, मनस्य मानेन सृष्टाः' (निरुक्त ३।७।१) मनुष्य क्यों नाम पड़ा? परिणामादि का विचार कर कर्मारम्भ करने के कारण मनुष्य-संज्ञा प्रसिद्ध हुई।

एक सत्य है कि स्थूल से सूक्ष्म अधिक व्यापक तथा अधिक चिरंतन होता है। काव्य की प्रेरणा एक सूक्ष्म अन्तर्वृत्ति है। भाव सूक्ष्म है, कल्पना सूक्ष्म है, इसी कारण उसका प्रभाव भी शाश्वत और अन्तर्व्यापी होता है। स्थूल भी जब हृदय पर प्रभाव-सम्पन्न होता है, तब सूक्ष्म भावना के बल पर, सूक्ष्म कल्पना के रूप में ही गतिशील रहता है। काव्य का यही सारतत्त्व है। अनादि से अनन्त जीवन का सम्बन्ध-सूत्र इसी सूक्ष्म तन्तु पर अवलम्बित रहता आया है। बुद्धि सहजानुभूति से गौण है, सिद्धान्त अनुभव से और बाह्य अभिव्यक्ति अन्तर्वृत्ति से। काव्य जीवन-प्रकृति का अन्तर्दर्शन है, उसकी अनुभूति है। यह अनुभूति कोई भावुकता-जन्य स्फूर्त्ति नहीं, न कोई आध्यात्मिक कल्पना है, बल्कि अखण्ड मानव-जीवन के व्यक्तित्व की अनुभूति है। इसी कारण काव्य किसी देश, जाति या वर्ग-विशेष का प्रतिनिधित्व नहीं करता। समस्त मानव-जीवन की अनुभूति होने के कारण ही वह इतना व्यापक तथा रस-ग्राह्य होता है।

व्यक्तिगत जीवन की तात्त्विक विवेचना करने पर, बहुधा यह पता चलता है कि प्रिय-से-प्रिय मित्र के हृदय में भी कुछ ऐसी भावनाएँ स्थित हैं, जो जान लेने पर, हमें उससे घृणा करने को बाध्य कर सकती हैं और परम-से-परम शत्रु के हृदय में भी कुछ ऐसी भावनाएँ रहती हैं, जिनका पता यदि लग जाय तो हम उसे प्यार करने से अपने को रोक नहीं सकते। द्रव्य और भावना से निर्मित जीवन में समान तत्त्व की स्थिति से ही हमें भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व में भी मल प्रकृति की एकरसता मालूम होती हैं। हमारे हृदय में जब कोई मनोविकार उत्पन्न होता है और उसका प्रभाव किसी दूसरे हृदय पर पड़ता है, तभी कोई प्रतिविकार उत्पन्न होता है। व्यक्तिगत जीवन के विकास में जिसकी इच्छा जितनी ही तीव्र होती है, वह व्यक्ति उसके अनुरूप ही उतना विशेष बनता है। महत् व्यक्तित्व और कुछ नहीं, महदिच्छा है। मनुष्य-जीवन के उत्थान-पतन का रहस्य उसके मन में ही है। जीवन में सुख-दुःख का जो इतना संघर्ष दिखाई पड़ता है, वह जीवन के साथ जब अपना

सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है, तब उस सुख-दुख को निराश्रित हो जाना पड़ता है। अपने अस्तित्व को उससे पृथक् समझ लेने पर न दुख रहता है, न सुख। किन्तु सामान्य जीवन में ऐसी विदेह-वृत्ति सम्भव नहीं होती। स्वप्न में हमें जो सुख-दुख भोगना पड़ता है, वह जाग्रदवस्था में नहीं होता; क्योंकि स्वप्न का जो अहम् है, वह जगने पर बदल जाता है। इसी कारण स्वप्न की सारी भावनाएँ जाग्रदवस्था की भावनाओं के साथ स्पष्ट सम्बन्ध नहीं रखतीं। हम जो कुछ करते हैं, वह किसी कारण से और जब तक उस कारण से हम मुक्त नहीं होते तब तक उस कर्म के कारण से भी हमारा पिण्ड नहीं छूट सकता।

मनुष्य के हृदय में जितनी भावनाएँ उठती हैं, उनकी परिणति प्रत्यक्ष जीवन में एक दूसरे ही ढंग से हुआ करती है। मनुष्य की बहुत-सी उदार भावनाएँ अपनी कल्पनात्मक सत्ता को छोड़कर बहुधा क्रियात्मक रूप प्राप्त नहीं कर सकतीं। संसार में ऐसे बहुत मनुष्य हैं, जो हृदय के उदार कहे जाते हैं, किन्तु उनकी उदारता सर्वत्र और सर्वांशतः जीवन के कठोर सत्य को ग्रहण नहीं कर सकती। जिसके हृदय में अगाध करुणा है, अपरिमित ममता है, वह भी अपनी करुणा और ममता को जगत् के कल्याण-साधन में प्रवृत्त नहीं कर पाता। उसके सामने ऐसी बहुत सी बाधाएँ आ खड़ी होती हैं जिनके कारण वह अपनी भावनाओं को क्रिया-तत्पर नहीं कर सकता। बहुत कवि ऐसे हैं जिनकी रचनाओं को पढ़ने से-देश तथा जाति के प्रति अतुल भक्ति झलकती है, किन्तु प्रत्यक्ष जीवन-संग्राम में वे कुछ नहीं कर पाते। उनकी रचनाएँ देश-भक्ति, जाति-प्रेम के नाम पर बड़े सम्मान के साथ जनता की जिह्वा पर विराजती हैं, किन्तु बाँसुरी बजानेवाला कवि लाठी लेकर खेतों की मेंड़ पर नहीं जाता। अपनी वाणी के द्वारा जो कुछ भाव प्रकाशित किया गया रहता है, उसके अतिरिक्त कुछ करने की प्रेरणा उसे नहीं होती। इस प्रकृति के कुछ अपवाद भी हैं--जैसे कुछ दूसरे नियमों के हुआ करते हैं। भावों की जो विशिष्टता है, वह क्रिया की विशेषता से

अलग है। मनुष्य चाहे कितना ही बुद्धिमान् क्यों न हो, अपने देश-जाति की दुर्दशा का चाहे कितना भी ज्ञान उसे क्यों न हो, किन्तु जब तक उसकी क्रियात्मक मनोवृतियाँ जाग्रत नहीं होतीं, तब तक वह कुछ करने में समर्थ नहीं हो सकता। कल्पनात्मक भावना से हम दूसरों को प्रेरित कर सकते हैं, परन्तु रचनात्मक मनोवृत्ति के अभाव में हम स्वयं प्रेरित नहीं हो सकते।

भावाधिक्य के समय मनुष्य वाणी और क्रिया—दोनों रूप से अपने को प्रकट करने की चेष्टा करता है। यदि प्रवृत्ति में तीव्रता नहीं रही तो साधारणतः वह वाणी या क्रिया, दोनों में से एक के द्वारा ही अपने मनोभाव को प्रकट करता है। लेकिन तीव्र मनोभाव को इससे परितोष नहीं होता, वह अपने को प्रकट करने के लिए जितने भी साधन सम्भव हो सकते हैं, उनका उपयोग करता है। प्यार या घृणा करना यदि साधारण स्थिति में है, तो वाणी के रूप में या अनुभाव के द्वारा दिखलाया जा सकता है, किन्तु उसमें थोड़ी-सी भी उष्णता रहने पर चेष्टा बदल जाती है। अनुकूल क्रिया के साथ-साथ जब वाणी के रूप में "मैं तुम्हें प्यार करता हूँ या मैं तुमसे घृणा करता हूँ" के उद्‌गार निकल पड़ें, तब समझना चाहिए कि भाव साधारण स्थिति में नहीं है, उसमें क्रिया-तत्पर होने के लिए पर्याप्त शक्ति आ गई है। क्रोध की साधारण स्थिति में मनुष्य या तो केवल गालियाँ बकता है, या मारपीट कर बैठता है; लेकिन क्रोधावेश में वह दोनों ही करता है। उस समय ऐसा मालूम होता है, जैसे उसने आसमान को ही अपने सर पर उठा लिया हो।

भाव को जब संचरण का क्षेत्र नहीं मिलता, तब वह लौटकर हृदय में प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। जीवन में घृणा से प्रेम और प्रेम से घृणा के व्यापार देखे गये हैं। प्रिय में जब भावुकता को विकास का क्षेत्र नहीं मिलता, उसका वहाँ सत्कार नहीं होता ! तब तिरस्कृत भावुकता हृदय में वापस आकर विद्रोह करती है। घृणा का भाव घृणास्पद में पहुँच-कर जब अपना अनुकूल वातावरण नहीं बना सकता, तब वह भी मन में

प्रतिविकार उत्पन्न करता है कि उसका उपयोग समुचित तथा यथास्थान नहीं हुआ। एक सीमा तक यदि प्रवृत्ति को अपने विकास के लिए क्षेत्र नहीं मिला, तो शरीर और मन पर उसका बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ता है और उस प्रवृत्ति का संस्कार-मलिन होने लगता है। भारतीय शास्त्रों ने इसी कारण धर्म का भी एक प्रवृत्ति-प्रधान रूप माना और जीवन में उसके क्षेत्र की व्याख्या कर दी है[१]। जहाँ भाव को क्रिया के रूप में गति नहीं मिलती, वहाँ वह आशा, आकांक्षा, उत्सुकता बनकर बौद्धिक चेतना की परिधि के भीतर शक्ति-संचय करता है और इस प्रकार धीरे-धीरे जीवन को निष्क्रिय तथा कल्पनाशील बना देता है। आधुनिक मानव-जीवन में यह बात अधिकतर देखी जाती है। काल्पनिक भावुकता का यही मूल है। जीवन के बहुत से सुख-दुख का अस्तित्व केवल काल्पनिक आधार पर ही टिका रहता है। एक मामूली-सी बात, एक छोटी-सी घटना जो थोड़े-से धैर्य, तनिक-सी शांति के अवलम्बन से मिटाई जा सकती है, एक बवंडर की तरह फैल जाती है और केवल व्यक्तिगत जीवन को ही नहीं, समस्त देश, जाति, समाज को भी उद्वेगशील बना देती है।

जीवन में कल्पनात्मक तथा क्रियात्मक भावों की विवेचनात्मक समीक्षा करने पर, यही निष्कर्ष निकलता है कि काव्य में हमारा भाव निष्क्रिय तथा आपद्-रहित रहता है, परन्तु क्रियात्मक जीवन में वह सक्रिय और आपद्-संभावित हो जाता है। काव्य के किसी करुणापूर्ण अंश को पढ़कर या सुनकर बैठे-बैठे ही हम अपनी विभूति बिखेर दे सकते हैं, लेकिन प्रत्यक्ष जीवन में बिना सक्रियता के यह सम्भव नहीं। अपनी करुणा की मर्यादा-रक्षा के लिए हमें हाथ-पैर हिलाना पड़ता है, धन-सम्पत्ति का त्याग भी सम्भावित रहता है। इसी कारण अपने स्वत्व

---

१. India has known for centuries what Freud is popularising in Europe that repressed desires are more corrupting in their effects than those exercised openly and freely.

Sir S. Radhakrishnan: The Hindu View of Life p. 83

का त्याग प्रत्येक दिशा तथा प्रत्येक दशा में मनुष्य नहीं दिखा सकता। यों तो संसार में ऐसे लोग भी मौजूद हैं, जो कल्पनात्मक करुणा के आधार पर भी किसी दुखी-विपन्न के साथ मौखिक सहानुभूति नहीं दिखा सकते। यह मनुष्य की सामान्यता नहीं। इसका एक दूसरा पहलू भी है। जब भाव का ज्वार आता है और क्रिया-तत्पर होने की प्रेरणा होती है, तब मनुष्य अपने को अपनी सीमा के भीतर रखने में समर्थ नहीं हो पाता और वह अपने भाव के अनुसारी परिणाम को भोगने के लिए, अपने स्वत्व का परित्याग करने के लिए प्रस्तुत हो जाता है। कल्पनात्मक भावों से जिसे संतोष नहीं होता, वह क्रियात्मक पक्ष के लिए भी तैयार हो जाता है। जिसकी करुणा काव्य में ही सीमित नहीं रह सकती, वह बाहर में भी अपना वैभव दिखलाता है। जो अपनी निष्ठुरता को कल्पना-जगत् में ही बँधा नहीं रख सकता, वह समर्थ रहने पर प्रत्यक्ष जगत् में भी उसका प्रदर्शन करता है। मनुष्य के हृदय में कुछ भाव, विलास के रूप में अलंकृत रहते हैं। जगत् के जितने व्यापार हैं, उनमें से एक भी भावना-शून्य नहीं[१]। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रत्येक व्यापार के साथ इच्छा का सम्बन्ध है। काव्य में हम भावों के उत्थान-पतन के द्वारा अपनी काल्पनिक विलास-वृत्ति को परितुष्ट करते हैं और जगत् के विविध व्यापार के रूप में हम अपने भावों की क्रियात्मक सत्ता दिखाते हैं।

मनुष्य में कुछ ऐसी मनोवृत्तियाँ भी पायी जाती हैं, जो बाहर से विचित्र-सी लगती हैं। एक मनोदशा वह है, जब मनुष्य दूसरे को दुख देने में, निष्ठुरता-पूर्वक आघात करने में प्रसन्न होता है और दूसरी प्रवृत्ति वह है, जब मनुष्य अपने ऊपर ही पीड़ा का भार लेने में आनन्द का अनुभव करता है। काम-वासना के क्षेत्र में ऐसी मनोवृत्तियाँ प्रत्यक्ष

---

१. Reason, in other words, cannot accomplish anything by itself, it must be prompted by a preceding desire before it begins to operate, it is engine of the ego and desire is the steam which makes it go.

—C. E. M. Joad.—The Mind And Its Workings. p. 63.

रहती हैं। महदुद्देश्य को लेकर परोपकार की भावना से कष्ट सहना, यहाँ तक कि प्राणोत्सर्ग करना, एक भिन्न बात है, किन्तु सामान्य जीवन में, साधारण उद्देश्य को लेकर भी ऐसी मनोदशा पाई जाती है। मनुष्य जब अपने को अधम समझता है, उसका विवेक प्रताड़ित करता है, तब ग्लानि से अभिभूत होकर अपने को अपराधी समझ, दंडित होने में, आत्म-सन्तोष प्राप्त करता है। अपनी सन्तान के सुख के लिए माता-पिता कष्ट सहने को तैयार रहते हैं। आग्रह या हठ के रूप में अपने किसी प्रेमी के सामने जो उसके कष्ट के साथ गम्भीर सहानुभूति रखता है, प्रिय अपना सिर फोड़ने की चेष्टा करता है और इस प्रकार की लीला के कारण वह अपना हठ रखने में समर्थ भी हो जाता है। छोटे-छोटे बच्चों के हाथों से कपोलों पर थपकियाँ लगवाना, बाल नोंचवाना आनन्द की वासना के सिवा और कुछ नहीं। ऐसी मनोवृत्तियाँ, जो प्रत्यक्षतः अपने ऊपर कष्ट लेने की-सी मालूम होती हैं, वस्तुतः आनन्द की ही एक प्रवृत्ति है। छोटे बच्चे को गोद में उठाकर उसे स्नेह से चूमने का जो अत्याचार किया जाता है, उसे वह बच्चा ही जानता है; किन्तु चूमनेवाला उसे अपने प्यार की अभिव्यक्ति समझता है। डाढ़ी के बाल, नाक, मुंह सबके आघात से शिशु कष्ट पाता है, पीड़ित होता है, परन्तु चूमनेवाला अपने सुख-सन्तोष के लिए उससे भिड़ा रहता है। परपीड़न या स्वपीड़न, दोनों अपने आनन्द की कामना से ही किये जाते हैं। यदि आनन्द-भाव की प्रेरणा कर्म के मूल में न रहे, तो इस दृश्य जगत् में भी जो उल्लास दिखाई पड़ता है, वह नहीं रहेगा। मनुष्य का श्वास-प्रश्वास भी इसी आनन्द-कामना से है। काव्य के रस का आनन्द भी इससे पृथक् नहीं।

काव्य के आनन्द में काम की प्रेरणा का भी एक बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। वात्स्यायन ने अपने काम-सूत्र में उल्लेख किया है कि जीवन का कोई कर्म काम-रहित नहीं। पाँचों इन्द्रियाँ—कान, आँख, जिह्वा, नासिका, त्वचा—अपने-अपने काम, मन की प्रेरणा के अनुसार, काम की

प्रवृत्ति से ही करती हैं[१]। किसी विशेष कर्म में उच्चतर आनन्द की प्राप्ति के लिए जो चेष्टा होती है, वह भी काम की प्रधानता के कारण ही[२]। सृष्टि-विधान के अनुसार, उत्पादन की प्रेरणा से जाग्रत होकर मैदानों में हरी-हरी घासें, खेतों में हरे-हरे पौधे दिखाई पड़ते हैं। पुष्प अपनी सुगन्ध और सौन्दर्य को प्रकट करते हैं। पक्षिगण मधुर-से-मधुर गीत गाते हैं। झिल्ली की झनकार, कोयल की कूक अपने प्रेमियों के आह्वान के अतिरिक्त और कुछ नहीं। वनों की निस्तब्धता को भंग करनेवाले नाना प्रकार के पक्षियों के जो कलरव सुनाई पड़ते हैं, वे सब काम के ही असंख्य गीत हैं। मनुष्य की वर्ण-प्रियता, उसकी कला और संगीत के सौन्दर्य तथा माधुर्य पर प्रेम, काव्य में लालित्य के प्रति अनुराग, रमणीय चित्रों का भला लगना, ये सब काम की प्रेरणा से ही सम्भव हैं। स्त्री-पुरुष जिस शक्ति के कारण सानन्द विवाह-बन्धन में आबद्ध होते हैं, वह उन मधुर प्रभावों की सत्ता और उद्‌गम का कारण है, जिनसे पवित्र-से-पवित्र और उच्च-से-उच्च वासनाओं तथा कर्मों को बल तथा स्थिति प्राप्त होती है। इन मधुर प्रभावों के द्वारा समस्त प्रकृति में सुधार तथा उच्चता सम्पादित होती है। जिस मानवता का सम्बन्ध प्रत्येक उच्च तथा पवित्र प्रेरणा से है, वह इसी प्रेरक शक्ति से जुड़ी रहती है। तन्मयता, मृदुलता, स्वार्थ-निलय, संग्राहकत्व आदि सृष्टि रक्षा के जितने दिव्यतम भाव हो सकते हैं, सब इसी परम शक्ति के प्रेरणा-स्वरूप हैं। सबकी उत्पत्ति काम से होती है और काम में ही उनका अध्यवसान हो

---

१. श्रोत्रत्वक्‌चक्षुजिह्वाघ्राणानामात्मसंयुक्तेन मनसाऽधिष्ठितास् स्वेषु स्वेषु विषयेष्वानुकूल्यतः प्रवृत्तिः कामः। स्पर्श-विशेषविषये त्वस्याभिमानिकसुखानुविद्धा फलवत्यर्थप्रतीतिः प्राधान्यात् कामः॥

——वात्स्यायन कामसूत्र, १, २,

२. Eros-kame, in this large sense; is truly the parent of all the goods, and the presiding deity of all Sahitya and literature, which is all only the record of his play.

Dr. Bhagwan Das—The Science of the Emotions, p. 397.

जाता है। त्रिदेव वस्तुतः काम का ही स्वरूप है, यह सुषुप्ति और जागृति दोनों में वर्तमान रहता है। दिव्य और स्वर्गीय आनन्द, जिसे हम ब्रह्म और परमात्मा के नाम से पुकारते हैं, काम का ही विकार है। यह शक्तित्रय ज्ञान, इच्छा और क्रिया है। यह संकल्प, इच्छा और कल्पना है, जिससे यह सृष्टि उत्पन्न हुई और जिसके विना कोई भी स्पन्दन असम्भव है[१]।

काम-रहित जीव कोई भी कर्म नहीं कर सकता, किन्तु इतना होने पर भी यह तो कहा ही जायगा कि काम में आपादमस्तक लीन होना श्रेयस्कर नहीं। जिस अग्नि से भोजन पकता है, उससे मनुष्य भस्मसात् भी हो सकता है। यही कारण है कि काम-चेष्टा के नियन्त्रण के लिए धर्म का निरूपण कर दिया गया है। इस प्रकार मनुष्य को प्रवृत्ति और निर्वृत्ति के दो विन्दुओं के बीच द्वन्द्व करना पड़ता है। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के औचित्य का निर्णय लोक-कल्याण की अपेक्षा रखकर ही किया जाता है। गीता में भगवान् ने कहा है—'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ'—हे अर्जुन! धर्म के अविरुद्ध काम मैं ही हूँ। काम और धर्म दोनों की सत्ता से कला-कौशल की वृद्धि होती है।

---

१. सर्वभूतात्मभूताख्या त्रिलिङ्गे विश्वरूपिणी।
कामस्यैषा हि सा मूर्तिर्ब्रह्मविष्ण्वीश्वरात्मिका॥
भूता वा वर्त्तमाना वा जनिष्याश्चापि सर्वशः।
कामात् सर्वे प्रवर्त्तन्ते लीयंते बुद्धिमागताः॥
कामः सर्वमयः पुंसां स्वसंकल्पसमुद्भवः।
वक्तुं न शक्यते यच्च परं चानुपरं च यत्॥
आनन्दममृतं दिव्यं परंब्रह्म तदुच्यते।
परमात्मेति चाप्युक्तं विकाराः कामसंज्ञिताः॥
सुप्तानां जाग्रतां वाथ सर्वेषां यो हृदिस्थितः।
नानाविधानि कर्माणि कुरुते ब्रह्म तन्महत्॥
त्रिवृद् ब्रह्म ततो विश्वं कामश्चेच्छात्रयं कृतम्:
स्पन्दोऽपरास्थो यं मुक्त्वा कामः संकल्प एव हि॥
(शिवपुराण, धर्मसंहिता, अ० ८)

एक की प्रेरणा होती है और दूसरा उसके स्थायित्व का विधान करता है[१]। प्रवृत्ति का जो मार्ग है, उसे रोकना सरल नहीं है। प्राणिमात्र अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार ही चलते हैं। निग्रह से उसे कोई विशेष बाधा नहीं होती[२]। अपनी उत्थित शक्ति का व्यय उसे किसी-न-किसी दिशा तथा कर्म में करना ही पड़ता है।

प्रेरणा की दृष्टि से कवियों की प्रवृत्तियाँ भी भिन्न-भिन्न हुआ करती हैं। जीवन की प्रत्येक मनोदशा या स्थिति में काव्य-रचना नहीं हो सकती। कोई ऐसे आशुकवि हों भी, जो हर समय काव्य-रचना का दम्भ रखते हों, तो उनकी रचनाएँ किसी महत्त्व की नहीं हो सकतीं। प्रत्येक कलाकार, काव्य, चित्र, शिल्प आदि जो कुछ भी विषय हो, अपनी मनोदशा को कला-प्रवृत्त बनाने के लिए किसी-न-किसी विधि का अवलम्बन करता पाया जाता है। किसी को सौन्दर्योपासना से काव्य-प्रवृत्ति होती है, तो किसी को संगीत की मीठी स्वर-लहरी से। किसी को विजया की तरंग से, तो किसी को शराब की बोतलों से। किसी को प्रकृति के हरे-भरे दृश्य, जंगल, पहाड़, झरने को देखने से नई सूझ होती है, तो किसी को एकान्त में ही गति मिलती है। शायद ही ऐसा कोई कलाकार होगा, जो किसी-न-किसी प्रकार के वैध, अवैध, पूत, अपूत कारण से अपनी कला-प्रवृत्ति का सम्बन्ध न रखता हो। ऐसे

---

1. 'Incidently it may be noted that all the finest products of the fine arts, and some also of the useful arts, poetry, drama, dancing, music, painting, sculpture, architecture, clothing, metal work, town-planning, gardening, tree-planting, road-making etc., have found their greatest patron in, and drawn their most splendid inspiration from religion in all ages and in all countries.

.........Religion has thus secured some of the purest joy to humanity, even in the life of the senses.

Dr. Bhagwan Das: The Unity of all Religions, p. 465.

२. 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति'। (गीता ३, ३३)

अनेक कवि हैं, जिनको स्त्री-दर्शन के अभाव में काव्य-दर्शन होता ही नहीं। पश्चिमी कलाकारों में अधिकांश ऐसे हैं, जिन्होंने अपनी कलाभिमुख प्रवृत्ति की रक्षा अवैध प्रेम तथा मदिरा के बल पर की। प्रकृति के रमणीय दृश्य, संगीत की स्वर-लहरी से काव्य के मनोभाव जगते हैं, किंतु उन सब में अनुराग ही प्रधान तत्त्व है। प्रेम के संयोग तथा वियोग, दोनों अवस्थाओं में, काव्य-प्रेरणा होती है, लेकिन वियोग-काल में जितनी मार्मिक कविताएँ लिखी गईं, उतनी संयोग-काल में नहीं। प्रेम-दशा भाव-योग की दशा है, इसीलिए अपने प्रेम को व्यक्त करने या उसके आधार पर जगत् के प्रति अपने जीवन के अनुराग को प्रदर्शित करने में हृदय को जो उल्लास मिलता है, वह दूसरी स्थिति में नहीं। अपनी घृणा को व्यक्त करने के लिए काव्य की रचना नहीं हो सकती। प्रेम ने जितने कवि उत्पन्न किये, उतने किसी अन्य भाव ने नहीं। यही कारण है कि प्रेम काव्य की प्रेरणा का एक मौलिक आधार है।

काव्य-रचना के लिए जीवन में अनुकूल परिस्थिति तो चाहिए ही, अवस्था-भेद का प्रभाव भी उस पर पड़ता है। काव्य की प्रेरणा किस अवस्था में होती है, इस पर भी विचार किया जा सकता है। प्रतिभा के उदित होने के लिए न कोई निश्चित परिस्थिति अनुकूल होती है और न कोई खास अवस्था ही उपयुक्त होती है। प्रतिभा किसी भी अवस्था में उत्पन्न हो सकती है। जो बाल्यावस्था में मन्द रहा, वह युवावस्था में तेज हो गया है और जो बचपन में प्रतिभासम्पन्न रहा, वह जवानी में शिथिल पड़ा है। बहुतों की बुद्धि वृद्धावस्था में तीव्र होती पाई गई है। बुद्धि की सीमा को पार कर ही प्रतिभा का उदय होता है। इस प्रकार उसकी उद्भावना का कोई निश्चित समय नहीं बताया जा सकता। ऐसे भी कुछ कलाकार पैदा हो गये हैं, जिनकी प्रतिभा आरम्भ से अन्त तक एकरस बनी रही है। किन्तु इतनी सत्यता रहने पर भी, काव्य-रचना के सम्बन्ध में साधारण ढंग से, अवस्था-भेद के अनुसार, प्रेरणा-शक्ति का विश्लेषण नहीं किया जा सकता। [illegible] ने अवस्थानुसार

के अनुसार काव्य-रचना की शक्ति की एक तालिका बनाई है। नाटक के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि इक्कीस वर्ष की अवस्था से नाटक लिखने की प्रवृत्ति होती है और पच्चीस से तीस वर्ष की अवस्था तक वह पूरे जोर पर रहती है। पचास या पचपन वर्ष की उम्र तक उसका सिलसिला बना रहता है। उसके बाद इस प्रवृत्ति का प्रायः अन्त हो जाता है। संयोगान्त की अपेक्षा वियोगान्त नाटक लिखने की प्रेरणा विशेष होती है। क्वेटेलेट ने स्वभावतः अपनी तालिका बनाते समय पाश्चात्य लेखकों पर ही दृष्टि रखी है। इसमें सन्देह नहीं कि क्वेटेलेट के अनुसन्धान में जितना सत्य है, उतना उसका अपवाद भी है। आरम्भ में जीवन और जगत् में जो उल्लास दिखाई पड़ता है, वह बाद की अवस्था में उसी रूप में नहीं रहता। साधारणतः किशोर, युवा तथा वृद्धावस्था में क्रमशः भावना, क्रिया तथा स्मृति की प्रबलता रहती है। किन्तु इसके अनुक्रम की कोई तालिका नहीं बनाई जा सकती। देश, काल, पात्र के अनुसार एक ही तथ्य का बहुधा रूपान्तर हो जाता है। युवावस्था में अनुभूति-मूलक प्रेमोच्छ्वास को व्यक्त करने की जैसी प्रवृत्ति होती है, वैसी बाद में सदैव नहीं रहती, किन्तु ऐसी प्रवृत्ति किसी नियम के अन्तर्गत नहीं लाई जा सकती। रीतिकाल के बूढ़े हिंदी-कवियों ने अपनी वृद्धावस्था में भी यौवन के रस-प्रसंग को न भुलाया और जब तक प्राण रहे, प्रणय ने भी पिण्ड न छोड़ा।

चित्त की वासना अनादि है। वासना केवल बुरे कर्मों की ही नहीं होती, सत्कार्य की प्रेरणा भी वासना से मिलती है। यदि चित्त में अच्छे या बुरे कर्म की वासना न हो, तो उसके लिए प्रयत्न ही नहीं किया जा सके। नैतिक दृष्टि से हमारा जीवन विधि और निषेध के प्रतिबन्ध के अन्तर्गत रहता आया है, किन्तु मनःशास्त्र की दृष्टि से हम इस सम्बन्ध में भूल भी बराबर करते आ रहे हैं। चित्त में जब वासना जगती है, तब अपनी प्रकृति के अनुसार वह भाव तथा कर्म के रूप में प्रवृत्त होना चाहती है। सत्कार्य-सम्बन्धी वासना को हम विधि का मार्ग बता

देते हैं, किन्तु कुवासना का निषेधमात्र करते हैं। 'यह मत करो' मात्र से ही वासना की शक्ति क्षीण नहीं हो जाती। 'यह मत करो' के बाद 'यह करो' बताये बिना उत्तेजित वासना चित्त को अव्यवस्थित कर देती है और उसके परिणामस्वरूप जीवन के प्रत्येक क्षेत्र, साहित्य, समाज, राजनीति आदि में ववंडर उठा करते हैं।

वासना को उत्तेजित करने तथा उसके दमन से मन तथा शरीर—दोनों पर बुरा प्रभाव पड़ता है[१]। इससे कई तरह के मस्तिष्क-सम्बन्धी रोग उत्पन्न हो जाते हैं। साधारणतः होता तो यह है कि हम अपनी वासनाओं को किसी प्रकार दबा नहीं सकते। किसी-न-किसी रूप से, भाव से उसकी अभिव्यक्ति हो ही जाती है। हम कहते हैं, हमारे चित्त में बुरी वासना नहीं है, किन्तु जिसके चित्त में वैसी कुवासना है, उसकी निन्दा कर, उपेक्षाकर हम अपनी अंतर्हित कुवासना को व्यक्त कर ही देते हैं। कुवासना-प्रेरित कलाकार की कृतियों पर अपना रोष और क्षोभ प्रकट कर हम सद्वासना का दम्भ करते हैं, किन्तु यथार्थ में हम अपनी अन्तर्हित कुवासना को ही सद्वासना के रूप में दिखाना चाहते हैं। वासना या उसके ओज का आधिक्य यदि एक दिशा में खर्च नहीं हो जाता, तो दूसरी दिशा में उसकी गति रोकी नहीं जा सकती[२]। सबल मनुष्य के प्रति उत्थित क्रोध को जब उस लक्ष्य के प्रति अभिव्यक्ति का द्वार नहीं मिलता, तब निर्बल पर ही सारा क्रोध उतार लिया जाता है। यदि परिस्थिति उतनी भी अनुकूल न रही, तो वह मानसिक ज्वर बनकर अपने ही मन-प्राण को सन्तप्त कर देता है। इस प्रकार हम अपने चित्त की वासना की अभिव्यक्ति के लिए कोई-न-कोई द्वार ढूंढ़ ही लेते हैं।

काव्य-रचना भी अपनी वासना की प्रकृति के अनुकूल ही होती

---

१. 'नोदीर्णान् धारयेत् वेगान् नानुदीर्णानुदीरयेत्' —चरक

२. It is well known that when energy is aroused in a certain direction, surpluses flow into other direction.

—Dr. Bhagwan Das; The Science of the Emotions, P. 296.

है। कोई सत्काव्य लिखता है, तो कोई असत् काव्य; पर रचना करने की प्रवृत्ति रखनेवाले को रोका नहीं जा सकता। लोक, समाज, राजनीतिकता पर दृष्टि रखकर जहाँ तक सम्भव हो सकता है, मनुष्य अपनी वासना को नग्न रूप में प्रकाशित करने का साहस नहीं करता। और कुछ नहीं, तो सुधार के नाम पर ही ऐसी बहुत-सी रचनाएँ साहित्य में होती रही हैं और होती रहेंगी।

काव्य की प्रेरणा के मूल में, संस्कृत के प्राचीन साहित्याचार्यों के मतानुसार, कई कारण पाये जाते हैं। यश, द्रव्य, व्यवहार-ज्ञान दुःख-नाश[1] आदि कई ऐसी बातें काव्य-रचना के मूल में पायी जाती हैं, जिनका विवरण उन्होंने दिया है। सब कारणों का एक ही मूल है और वह है सुख। यश, कीर्त्ति, प्रशंसा के आवरण के नीचे मनुष्य की सुख-लिप्सा ही छिपी हुई है।

यथार्थ की अतिव्याप्ति ही प्रशंसा है। अपनी प्रशंसा से कवियों को जो प्रेरणा मिलती है, वह आत्म-विस्तार के परितोष से खाली नहीं रहती। दूसरों द्वारा निर्व्याज रूप से अपनी वाणी के अवतरण तथा अनुश्रवण की अपेक्षा कवियों को कोई अन्य भाव अधिक सुख नहीं पहुँचा सकता। दूसरों के कण्ठ में वाणी के व्याज से अपनी भावात्मक सत्ता की प्रतिष्ठा करना एक बड़ी साधना है। द्रव्य-लाभ की प्रेरणा में भी सुख-लोभ ही अन्तर्हित है। काव्य-रचना कर जो धन प्राप्त करने की कामना होती है, वह धन के वस्तुगत सौन्दर्य से प्रेरित होकर नहीं, प्रत्युत् उस धन की क्रयशक्ति में जीवन की जो सुख-सुविधा लगी हुई है, वही भावना काव्य-रचना की प्रवृत्ति उत्पन्न करती है। द्रव्य-लाभ की प्रेरणा से जो काव्य-रचना की जाती है, उसमें कवि की अनन्यता विशेष मात्रा में

---

१. काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये,
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मित तयोपदेश युजे।

नहीं रहती। इसी कारण ऐसी रचनाएँ कवि को द्रव्य-लाभ का सुख जिस मात्रा में दे सकती हैं, उस मात्रा में यश का सुख नहीं। किसी भी स्थिति में, अपने सुख की कामना के अतिरिक्त मनुष्य को आत्म-विस्तार का कोई लक्ष्य दृष्टिगत नहीं होता।

कुछ लोग 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' की पुकार उठा कर काव्य-साहित्य के उद्देश्य को निश्चित करना चाहते हैं। ऐसे प्रश्न के उत्तर में कोई 'स्वान्तः सुखाय', कोई 'जन-हिताय' और कोई कुछ कहते हैं। काव्य की रचना अपने अन्तःकरण के सुख-सन्तोष के लिए की जाय या जन-समाज के हित-विचार से, दोनों ही अपनी-अपनी स्थिति में सत्य हैं। मानव-ज्ञान इतना सीमित है कि वह अपनी सारी संवेदनाओं को शायद ही जान सके। प्रकट रूप में हम प्रत्येक कर्म का कोई-न-कोई हेतु, उसकी प्रेरणा बतला दिया करते हैं, किन्तु प्रत्येक स्थिति में वह यथार्थ ही होता हो, यह कहना भ्रम से खाली नहीं है। हमारी चेतना में जो हेतु प्रत्यक्ष रहता है, उसका उल्लेख कर देते हैं, पर उस प्रत्यक्ष हेतु को उपस्थित करनेवाला कौन-सा अप्रत्यक्ष कारण है, इस सम्बन्ध में हमारा मौन ही उत्तर है। अपने हित को जनता के हित से भिन्न देखने की दृष्टि कवि को नहीं होती। संसार में जितने काम होते हैं, प्रायः सब स्वांतःसुखाय ही किये जाते हैं। कर्म-प्रयत्न में इच्छा का योग एक आवश्यक प्रतिबन्ध है। यदि भीतरी प्रवृत्ति न हो, तो बाहर की पुकार पर दौड़नेवाला शायद ही कोई मिले। अपने अन्तःकरण की किसी प्रेरणा के परितोष के लिए भी काव्य-रचना करना वस्तुतः जीवन और जगत् से निरपेक्ष होकर नहीं होता। गोस्वामी तुलसीदास ने 'स्वांतःसुखाय' ही रघुनाथ-गाथा लिखी, यह सच है, पर दो-तीन दर्जन पंक्तियों में देव, ऋषि यहाँ तक कि 'बन्दौं सन्त असन्तन चरणा' की गुहार करने की क्या आवश्यकता पड़ गयी? वस्तुस्थिति यह है कि जीवन और जगत् से निरपेक्ष रहना मनुष्य के लिए एक कठिन व्यापार है, कवि के लिए असम्भव। तुलसी के हृदय में लोक-कल्याण की भावना थी, यही उनकी प्रेरणा है।

अपने आत्म-प्रकाश को प्रत्यक्ष करने का रामायण एक प्रयत्नमात्र है। हम दूसरों पर दया करते हैं, करुणा करते हैं, उपकार करते हैं, दूसरों के दुःख के साथ अपनी सहानुभूति रखते हैं, यह सब स्वान्तःसुखाय ही होता है। दूसरों के दुःख को देखकर जब तक हृदय में संवेदना उत्पन्न नहीं होती, तब तक कोई दया, करुणा, उपकार कर ही नहीं सकता। वस्तुतः हम अपनी संवेदना के ही कष्ट से मुक्ति पाने के लिए दूसरों का उपकार आदि करते हैं। अपने अन्तःकरण को जब तक परितोष न हो, तब तक जन-हिताय भी कुछ नहीं किया जा सकता।

स्वान्तःसुखाय और जन-हिताय—दोनों तत्त्वतः एक ही हैं। प्रत्यक्ष में नहीं, तो कल्पना में भी यदि लोक-समुदाय का ग्राहक रूप उपस्थित न रहे, तो कवि को तदनुरूप काव्य-रचना की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। मनोभाव का यह तथ्य केवल दार्शनिक ही नहीं, ऐतिहासिक भी है। प्रत्येक भाव का वाह्य अभिनन्दन उसकी प्रकृति तथा विकास पर निर्भर करता है। कोयल की स्वान्तःसुखाय कूक पर हम आनन्दमत्त हो जाते हैं, पर कौवे के स्वान्तःसुखाय काँव-काँव-टाँय पर फिदा होनेवाले कितने मिलेंगे! केवल स्वान्तःसुखाय होने से ही किसी का कोई कर्म अभिनन्दनीय नहीं माना जा सकता, उससे लोक-रंजन या लोक-कल्याण किस सीमा तक हो सकता है, यह भी उसका एक मापदण्ड है।

लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु'

गीति-काव्य की परम्परा

कविता जीवन के अन्तर्दर्शन की रागात्मक अभिव्यक्ति है। मानव-जीवन के प्रारम्भिक युग में अनुभूति की अभिव्यक्ति वाणी के संकोच-प्रसार तथा भंगिमा की भिन्नता में ही शायद निहित रही होगी। पशु-पक्षी तक में अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति की क्षमता है। मनुष्य में जिस प्रकार प्रसन्नता के कारण आत्म-प्रसार का भाव जाग्रत होता है, उसी प्रकार पशु-पक्षी तक में। यहाँ उन मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्तों का विरोध है जिन्हें व्यवहारवादी कहा जाता है और जो मानव की स्थिति को महत्त्वहीन और अनावश्यक समझते हैं। फ्रायड ने पशु-पक्षी की रागात्मक अभिव्यक्ति का अध्ययन और विश्लेषण उपस्थित किया है। मनुष्य निर्जीव, जड़ और नियम-परिचालित यंत्रमात्र नहीं, यद्यपि उसका भौतिक शरीर भौतिक विज्ञान के शास्त्रीय नियमों की अवहेलना नहीं कर सकता। कोपरनिकस ने पृथ्वी की सृष्टि-केन्द्रता अस्वीकृत कर इसका महत्त्व छीन लिया; डारविन ने मनुष्य को मनुष्येतर प्राणियों से सम्बद्ध मानकर सृष्टिक्रम में इसका दंभ दूर किया और डाक्टर वाटसन ने मनुष्य-जीवन से मानस की महत्ता कम कर दी। मानव-जीवन में, इतना होने पर भी अनुभूति का महत्त्व कम नहीं हो सका। अनुभूति के साथ अभिव्यक्ति का चिर सम्बन्ध है, यद्यपि कारण-कार्य रूप में इनकी स्थिति सभी को स्वीकार नहीं। वाणी के वरदान अथवा अन्य माध्यमों द्वारा मनुष्य ने अपनी अभिव्यक्ति को स्थायित्व देने की चेष्टा की है; किन्तु प्रकृति के विवश प्राणियों को कृत्रिमता के साधन उपलब्ध नहीं। रागात्मक अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति इस प्रकार चेतन जगत् का नियम है। आध्यात्मिकता, धार्मिकता एवं दार्शनिकता से आविष्ट सिद्धान्त भी इस जगत् को किसी की अभिव्यक्ति मानते हैं। विज्ञान ने सिद्ध कर

दिया है कि उद्भिद् जगत् में भी रागात्मक अनुभूति है और उसकी अभिव्यक्ति भी होती है। कहा जाता है कि क्रौंच-वध के कारण फूट पड़नेवाली क्रौंची की करुण पुकार से ही आदि कवि वाल्मीकि की विगलित करुणा अनुष्टुप के छंदों में उमड़ पड़ी थी।

शास्त्रकारों की पद्धति से इसमें करुण रस मानकर पंत की तरह 'वियोगी होगा पहला कवि' कहकर करुण रस को ही आदि-रस मानें अथवा शृंगार को, किन्तु इतना स्वीकार करना पड़ेगा कि क्रौंची में स्वभावज नैसर्गिक आत्मानुभूति और उसको अभिव्यक्त करने की शक्ति थी और उस अभिव्यक्ति में संवेदनशीलता भी जो वाल्मीकि का अंतर स्पर्श कर सकी। छन्द, लय, ताल, स्वरैक्य और मेल, तारतम्य और संतुलन की सृष्टि इस स्वाभाविक शक्ति को सीमा में घेर रखने के प्रयास का फलमात्र है। कला की कृत्रिमता उपकरणों के इस सीमा-बन्धन में है। इस प्रकार कला-कविता जिसका एक अंग है—कृत्रिम और मानवीय संतुलन-प्रिय-बुद्धि का फल है। जिस प्रकार भाषा को नियमित करने का प्रयास व्याकरण है, उसी प्रकार सभ्यता, संस्कृति, आचार, धर्म, नीति आदि सामूहिक अतः वैयक्तिक चेतना को घेरे में बाँधने के उपक्रम। कृत्रिम कहकर किसी वस्तु की अवहेलना नहीं होनी चाहिए; क्योंकि मानवीय विकास की यही दिशा है। विचार करते समय कविता को भी इसी भूमिका और अनुबन्ध में रखकर देखना आवश्यक हो जाता है। विवश मानव मन में परिस्थिति और वातावरण के कारण सुख, दुःख, क्रोध, आवेश, घृणा और द्वेष की अनुभूति होती रही है और उनकी अभिव्यक्ति वह उल्लासपूर्ण उत्साह, करुण-चीत्कार अथवा परुष-कठोर वाणी द्वारा करता आया है। इस स्वाभाविक अभिव्यक्ति को कला की संज्ञा नहीं प्राप्त हो सकती। कला अभिव्यक्ति है, किन्तु प्रत्येक अभिव्यक्ति कला-विषय होकर भी कला नहीं, कला के लिए माध्यम की कृत्रिमता आवश्यक अनुबन्ध है। कलाकार की कठिनता सूक्ष्म को स्थूल आधार देने में है जिसकी सफलता उसकी क्षमता है।

प्रारम्भिक काल में अन्तर्दर्शन की प्रवृत्ति नहीं रहती, अन्तर्दर्शन की प्रवृत्ति और क्षमता वैयक्तिक अथवा सामूहिक जीवन में अपेक्षाकृत विलम्ब से आती है। बच्चे का प्रारम्भिक जीवन-काल मानव-जीवन-की पुनरावृत्ति करता है ऐसा मनोवैज्ञानिकों का मत है और यहाँ मानव विकास-क्रम के अध्ययन की सामग्री उपलब्ध हो जाती है। प्रारम्भिक अवस्था में बच्चा बाह्य वस्तुओं की उत्तेजना से प्रभावित होता है और उसे उन बाह्य वस्तुओं का ज्ञान ही पहले होता है। क्रमशः अपने शरीर-व्यक्तित्व और अनुभूति का उसे बोध होता है। भौतिक विज्ञान की चरमोन्नति के पश्चात मनोविज्ञान का विकास इसके प्रमाण के रूप में उपस्थित किया जा सकता है। मनोविज्ञान के विकास-काल में मनो-वैज्ञानिक बाह्य अभिव्यक्ति से अधिक प्रभावित रहा। मानसिक क्रिया और उसके अचेतन प्रदेश में प्रवेश करने का प्रयास अपेक्षाकृत आधुनिक है। सभ्यता और संस्कृति के प्रारम्भिक यग में इसी प्रकार मानवीय चेतना अपने से बाह्य अलौकिक शक्तियों के प्रतीक अथवा अपने किसी पूर्व-पुरुष की कथाओं के प्रति उन्मुख रही। सामाजिक चेतना के विकास--क्रम में भी देखा जाता है कि प्रारम्भिक अवस्था में चेतना सामूहिक थी। समाज के सुख-दुःख ही व्यक्ति के सुख-दुःख थे। जिसे आज हम वैयक्तिक अनुभूति कहते हैं, उसका विकास पीछे चलकर हुआ। धार्मिक चेतना के सामूहिक रूप का विकास इसी की दूसरी दिशा है। वाल्मीकीय रामायण को आदिकाव्य स्वीकार करने पर भी भरत के नाट्य-शास्त्र का अतित्व सूचित करता है कि नाटकों की रचना पहले हुई होगी, अन्यथा उसकी विवेचना की आवश्यकता ही क्यों पड़ती? भरत ने अपने पूर्व के कई शास्त्रकारों का उल्लेख किया है। रूपकों के विकास के मूल में रूपविन्यास है और उन्हीं का कलात्मक विकास रूपक का शास्त्रीय स्वरूप रूपक में अपरोक्ष अनुभूति का चित्रण है और उसके द्वारा आनन्द सामूहिक रूप में प्राप्त किया जाता है। एकान्त में पढ़कर नाटकों से आनन्द प्राप्त करने की प्रथा का विकास तो नाटकों के अत्यन्त विकसित

काल में हुआ। अपरोक्ष अनुभूति के परोक्ष चित्रण के रूप में महाकाव्यों की रचना हुई; यद्यपि उन महाकाव्यों में रूपक तत्त्वों का अधिक-से-अधिक आधार लिया गया। महाकाव्य की गति के लिए संघर्ष उतना ही आवश्यक था, जितना नाटकों के लिए। आज जो साहित्यिक नाटक अथवा महाकाव्य मिलते हैं, उनके पूर्वरूप कथा-काव्य के जन-रूप में इनकी रचना के पूर्व प्रचलित रहे होंगे और नाट्यकारों एवं महाकवियों ने उन्हें साहित्यिक रूप-मात्र दिया होगा। ऐसा संस्कार केवल एक आदमी के द्वारा नहीं हुआ होगा; बल्कि इसमें अनेकानेक व्यक्तियों की प्रतिभा का अतिव्यय हुआ होगा। वाल्मीकि और व्यास व्यक्ति-विशेष के नाम न होकर साहित्यिक परम्परा के सूचक हैं। कथा के मूलरूप में भी अनेक परिवर्त्तन हुए होंगे और अनेक व्यक्तियों ने उसे साहित्यिक स्वरूप देने का प्रयास किया होगा। उस साहित्यिक परम्परा का अत्यन्त विकसित रूप ही आज हमारे समक्ष है, अपेक्षाकृत असंस्कृत रूप काल-क्रम से लुप्त हो गये, आज मिलते तक नहीं।

सामूहिकता और बाह्य दर्शन के विरोध में वैयक्तिकता और अन्तर्दर्शन की प्रवृत्ति का उद्भव हुआ। महाकाव्यों में इस विकास की लड़ी मिलती है। महाकाव्यों अथवा नाटकों का इस रूप में अध्ययन करने से मालूम होता है कि किस प्रकार वैयक्तिकता और अन्तर्दर्शन का अधिक आवेश पीछे चलकर हुआ और इस प्रकार कवि की आत्म-निष्ठता (सब्जेक्टिविटी) ने प्रसार पाया। प्रारंभिक युग में भय-श्रद्धा-विस्मय मिश्रित धार्मिक भावना के कारण स्वानुभूति-प्रकाश एवं स्वतंत्र चेतना-शक्ति के विकास-मार्ग में अनेक बाधाएँ उठ खड़ी हुई होंगी। कवियों ने अनेक प्रभावशाली कर्मों का वर्णन किया, उन कर्मों के कर्त्ताओं की महत्त्व-प्रतिष्ठा के लिए अनेक संभव-असंभव अवस्थाओं और अनुभूतियों को उनके साथ संबद्ध कर दिया, अपने वैयक्तिक सुख-दुख की गाथाएँ उन चरित्रों के साथ जोड़ दीं और इस प्रकार काव्य की प्रचलित परिपाटी के भीतर आत्मतुष्टि-क्रम का प्रयास किया। इस

अवस्था में संघर्ष केवल बाह्य न रह आन्तरिक भी हो उठा, जिसके फलस्वरूप नाटक और महाकाव्य के मूल में बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार के संघर्ष स्वीकृत हुए।

प्रचलित काव्य-परिपाटी के भीतर यत्किंचित् रूप-परिवर्तन द्वारा सामंजस्य उपस्थित कर विरोध प्रकट करने के स्थान में स्वतंत्र रूप में जो विरोध उठ खड़ा हुआ, उसके रूपों के दर्शन आज संभव नहीं, क्योंकि लिपि-बद्ध न होने के कारण लिखित साहित्य की भाँति इनकी रक्षा नहीं हो सकी। किंतु इतना स्पष्ट है कि संगीत की बँधी परिपाटी एवं सामूहिकता-प्रबुद्ध, बाह्य दर्शन और चित्रण-प्रधान काव्य की प्रचलित परम्परा के विरोध-रूप में गीतात्मक वैयक्तिकता एवं अन्तर्दर्शन-प्रधान गीतों का उद्भव हुआ। महाकाव्यों में इन तत्त्वों के मिश्रण का कारण ऐसे गीतों की गति थी। इस प्रकार प्रारंभिक अनगढ़ और अनेक अंशों में अकृत्रिम गीतों ने महाकाव्यों, आख्यान-काव्यों और नाटकों को नवोन्मेष दिया। नाटकों पर इनका प्रभाव उस समय अधिक नहीं पड़ा, कारण काव्यत्व और संगीतत्व की रक्षा का प्रयास उनमें सदा होता रहा। सामूहिक प्रदर्शन के कारण सहसा उनमें अधिक परिवर्तन की गुंजाइश भी न थी।

जिस प्रकार लोक-गाथाओं का साहित्यिक रूप महाकाव्य, खण्ड-काव्य आदि प्रबन्ध-काव्यों में प्रकट हुआ, उसी प्रकार व्यक्तिगत हर्ष-शोक से परिपूर्ण गीतों का साहित्यिक रूप गीतिकाव्य या प्रगीत मुक्तकों में। लोक-गीत ही इन साहित्यिक गीतों और नीतियों के आधार हैं। लोक-गीतों ने अतः, जहाँ महाकाव्यों को वैयक्तिकता एवं अन्तर्दर्शन का आवेश दिया, वहाँ स्वतंत्र गीति-काव्य को उन्मेष। काल-क्रम से जनगीतों का ऐतिहासिक अध्ययन संभव नहीं अन्यथा साहित्यिक परम्परा की तुलना द्वारा इसे स्पष्ट रूप दिया जा सकता। संस्कृत के साहित्य-शास्त्रों में काव्य के दृश्य और श्रव्य दो भेद कर श्रव्य-काव्य को महाकाव्य और खण्डकाव्य दो भेदों में विभक्त किया गया एवं दूसरे पद्यों से निरपेक्ष छंद-बद्ध रचना को मुक्तक माना गया। मुक्तक और गीति-काव्य में वस्तुतः

बड़ा अन्तर है। नीति, स्तोत्र आदि मुक्तक के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार संस्कृत-साहित्य में गीति-काव्य नाम का कोई भेद नहीं मिलता। ग्रीकों ने काव्य के दो भेद माने हैं, गीति-काव्य तथा सामूहिक-काव्य। सामूहिक-काव्य गेय था और अनेक लोग वाद्य-यंत्रों के साथ-साथ किसी तीव्र सामूहिक भावना की अभिव्यक्ति करते थे। सामूहिक गेय-काव्य के विपरीत जन्म, मृत्यु, विवाह, बीजारोपण आदि उत्सव-विशेष के अवसर पर गाये जानेवाले गीतों का उद्‌भव हुआ और जो लायर नामक वाद्य-यंत्र के सहारे गाये जा सकते थे, उन्हें 'लिरिक' की संज्ञा मिली है। अनेक परिवर्तन होने पर भी लिरिक कविता के दो पहलू रह गये हैं, उसकी संगीतात्मकता और आत्मनिष्ठ वैयक्तिक भावना की सम्बद्धता। विधान का सांस्कारिक स्वरूप बदल गया है, छंदाकृति में स्वरूप-विभिन्नता आज देखी जाती है, संगीत की संगति के पूर्ण-निर्वाह की भी आज अपेक्षा नहीं, किन्तु लयात्मक विधान से इसे मुक्ति नहीं मिली है। उसी प्रकार आत्म-निष्ठता के स्वरूप-विधान और सांस्कारिक भावना में अन्तर आता रहा है; किंतु गीति-काव्य का यह द्वैत स्वरूप आज भी बना हुआ है। आत्मनिष्ठता के अत्यन्त विकसित काल में अतः गीति-काव्य को काव्यात्मक काव्य (Poetical Poetry) की संज्ञा मिली।

लोक-गीत का भी उद्‌भव सामूहिक था; किन्तु उसका संसार आत्म-निष्ठ था। अतः उसका सामूहिक रूप में दर्शन पीछे चलकर लुप्त हो गया। सांस्कृतिक चेतना की अपेक्षाकृत प्रारम्भावस्था में उद्‌भव होने के कारण चित्रमत्ता अधिक थी और प्रेरणा के रूप में किसी स्थूल वस्तु अथवा व्यक्ति का आवेश था। भावनात्मक प्रेरणा द्वारा अन्तर्वृत्ति के जागरण की अवस्था उस काल तक नहीं हो पायी थी, अतः लोक-गीतों में अकृत्रिम अलंकरण और चित्रबहुलता के दर्शन होते हैं। फलस्वरूप उनमें चित्रण अधिक, अभिव्यक्ति कम होती है। कला-गीतों में अनुभूति की अभिव्यक्ति के अनुरूप चित्रमत्ता उपस्थित होती है। स्वरूप की यह भिन्नता होने पर भी दोनों में आत्मनिष्ठ भावना की प्रधानता अपेक्षित है।

संस्कृत साहित्य-शास्त्र में महाकाव्यों के लक्षण कुछ इस प्रकार बने कि गीति-काव्य का प्रवेश उनमें सुगमतापूर्वक नहीं हो सका। गीति-काव्य मात्र संगीतात्मक नहीं। छन्द-व्यवस्था किसी-न-किसी रूप में संगीत का आग्रह लेकर चलती है। पाश्चात्य विचार-धारा में संगीत की जो रूप-रेखा है, उसमें छन्द-व्यवस्था के लिए पूर्ण स्थान नहीं; अतः संगीतात्मकता पाश्चात्य गीतिकाव्य के लिए अनिवार्य समझी जाती रही। वाल्मीकीय रामायण गेय है और लव-कुश ने—जैसा कहा जाता है—राम के सामने उसका सस्वर गान किया था। नीति या स्तोत्र पद्य-बद्ध होकर भी गीति-काव्य नहीं। कुछ खण्ड-काव्यों में भी गीति तत्त्व हैं, किंतु उन्हें गीति-काव्य नहीं कहा जा सकता। 'मेघदूत' में कालिदास ने व्यक्तिगत हर्ष-शोक की अभिव्यञ्जना की है; किंतु इस अभिव्यञ्जना के मूल में आख्यान-कथा का आग्रह है। इस कारण इसमें हम गीति-काव्य और आख्यान-काव्य के तत्त्वों का सम्मिश्रण पाते हैं। 'मन्दाक्रान्ता' छंद में एक ओर जहाँ विषाद की पूर्ण अभिव्यंजना हुई है, वहाँ उसकी मन्द-मन्थर गति के कारण कथा-प्रवाह में गति नहीं आ सकी। इस मिश्रण में गीतात्मक कथा (लिरिकल बैलेड) का आग्रह अधिक है—

मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतो—
  र्लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसन्दर्शनेषु।
पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां
  मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति॥

(प्रिय! स्वप्न में किसी तरह जब मैं तुझको पा जाता हूँ
शून्य गगन में आलिंगन को तब बाहँ फैलाता हूँ।
वन-देवियाँ दशा यह मेरी देख-देख दुख पाती हैं,
आँसू की मोती-सी बूँदें पत्रों पर बरसाती हैं।)

भित्वा सद्यः किसलयपुटान्देवदारुद्रुमाणां
  ये तत्क्षीरस्रुतिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः।

आलिंग्यन्ते, गुणवति मया ते तुषाराद्रिवाताः
पूर्वं स्पृष्टं यदि किल भवेदङ्गमेभिस्तवेति ।।

[देवदार की नई कोपलें चिटकाकर जो चली बयार
हिमगिरि से दक्षिण को लेकर उसके रस का सौरभ-सार।
गुणवन्ती ! मैं उसे भेंटता अपने दोनों बाहु पसार,
क्या जाने तेरे अंगों से मिल आई हो यही विचार।]

संक्षिप्येत क्षण इव कथं दीर्घयामा त्रियामा
सर्वावस्थास्वहरपि कथं मन्दमन्दातपं स्यात्।
इत्थं चेतश्चटुलनयने दुर्लभं प्रार्थनं मे
गाढोष्माभिः कृतमशरणं त्वद्वियोगव्यथाभिः ।।

[ऐसा क्यो न हो कि ये लम्बी रातें पल समान कट जायँ,
और दिवस के ताप पापमय सब प्रकार झटपट घट जायँ।
मृगनयनी ऐसी अनहोनी के पीछे जल रहा शरीर
तेरी विरह-वेदनाओं ने मेरा मन कर दिया अधीर। *

रीति-काव्य के प्रधान तत्त्व—संगीतात्मकता और आत्म-निष्ठता—इसमें हैं, किंतु चित्रमत्ता की बहुलता और स्थूल प्रेरणा द्वारा अनुभूति की अभिव्यक्ति के साथ कथात्मक आवेश इसे शुद्ध गीति-काव्य से भिन्न करते हैं। मेघदूत गीत-काव्य और कथा-गीत के बीच की लड़ी है। जयदेव के गीतगोविन्द के गीतों की परिगणना गीति-काव्य की कोटि में होती है। गीत और गीति-काव्य में यथेष्ट अन्तर है। गीत में एक ओर जहाँ संगीत का अधिक आग्रह है वहाँ आत्मानुभूति की अभिव्यंजना से अधिक वर्णनप्रियता और चित्रमत्ता का। जयदेव के गीतों के लिए ताल और राग का विधान है यद्यपि शास्त्रीय संगीत की दृष्टि से उनका पूर्ण निर्वाह नहीं हुआ है। गीतगोविन्द की रचना बहुत-कुछ नाटकीय ढंग पर हुई है, यद्यपि पात्रों की संख्या कुल तीन—कृष्ण, राधा और सखी—है। यह गीति-काव्य और गीति-नाट्य के बीच की रचना है जिसमें

*पं० केशवप्रसाद मिश्र कृत 'मेघदूत' के पद्यानुवाद से

गीति-काव्यात्मकता से अधिक गीत-तत्त्व-प्रधानता है। वर्णनात्मक आग्रह जयदेव के अति प्रसिद्ध गीतों में लक्षित होता है :—

[वसन्त राग]

ललितलवंगलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे
मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुंजकुटीरे।
विहरति हरिरिह सरसवसन्ते नृत्यति
युवति जनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते ॥ ध्रुवम् ॥
उन्मदमदनमनोरथपथिकवधूजनजनितविलापे।
अलिकुलसंकुलकुसुमसमूहनिराकुलबकुलकलापे ॥
विह....
मृगमदसौरभरभसवंशवदनवदलमालतमाले।
युवजनहृदयविदारणमनसिजनखरुचिकिंशुकजाले ॥
विह.......
मदनमहीपतिकनकदण्डरुचिकेशरकुसुम-विकासे।
मिलितशिलीमुखपाटलपटलहृत स्मरणतूणविलासे ॥
विह....

इस गीत में वसन्त-काल का वर्णन है। तिताला वसन्त राग है, मध्य एवं लय नामक छंद भी है। इसमें विप्रलम्भ शृंगार का वर्णन है। इनकी उपस्थिति में भी संगीत के अत्यधिक आग्रह, वैयक्तिकता के अपेक्षाकृत अभाव और स्वरूप-विधान के कारण इसे गीति-काव्य के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। गंगा-लहरी आदि के सम्बन्ध में भी यह कथन उपयुक्त है; यद्यपि पण्डितराज जगन्नाथ में गीति-प्रधानता का उन्मेष अवश्य दीख पड़ता है। इस दृष्टि से देखने पर संस्कृत में गीति-काव्य का अभाव-सा है और लोक-गीतों का इन पर प्रभाव पड़ा है; क्योंकि लोक-गीतों की स्थूल प्रेरणा से भावात्मक होने की प्रेरणा, चित्रमत्ता और वर्णनप्रियता इनमें लक्षित होती है। लोक-गीतों का संगीत-तत्व इनमें अधिकाधिक शास्त्रीय अवश्य हो गया है। गीति-काव्य की भूमिका

के रूप में इसके विकास-क्रम पर ध्यान देना आवश्यक होगा। प्रारम्भिक कथाओं के आधार पर कथा-काव्यों की रचना हुई; किन्तु वैयक्तिक भावना के अनुकूल न होने के कारण लोक-गीतों की परम्परा में साहित्यिक आग्रह द्वारा नये रूप-विधान का जन्म हुआ; जिसका विकास आख्यान-काव्य में वैयक्तिक सुख-दुःख के तत्वों के सम्मिश्रण और स्वतंत्र गीत के दो रूपों में हुआ और इन गीतों की परम्परा में गीति-काव्य का विकास हुआ। लोक-गीत और गीत में अनेक रूपों में समानता है, किंतु गीतिकाव्य की अवस्था में इन दोनों के स्वरूप में अन्तर आ जाता है, जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है।

प्राथमिक अवस्था में गीत मुख्यतया गेय थे। उनके भाव-प्रसार के लिए, काव्यत्व का आग्रह न था। मिलन-विरह, हर्ष-शोक, आनन्द-विषाद का चित्र भावुकता द्वारा नहीं, बल्कि संगीत की भावाकुलता, भावना की अनुरूपता तथा गेयता का आधार लेकर उपस्थित हुआ। आनन्द की रागात्मक अभिव्यक्ति विषाद की अभिव्यक्ति से विभिन्न है और इस प्रकार के गीतों में केवल इनकी अभिव्यक्ति का आग्रह था। शब्द का कोई महत्त्वपूर्ण स्थान ऐसी अवस्था में न था तथा विषय-विधान का सम्यक् विकास भी नहीं हो सका था। भाषा उस अवस्था में थी, जिसमें भाव-प्रकाश और विस्तार के लिए वाद्य-यंत्रों की सहायता अपेक्षित थी। वाद्य-यंत्रों का विकास भी उन्नतावस्था में न था। प्रारम्भिक अवस्था में प्रकृति की अनुकृति से मनुष्य प्रभावित था, यद्यपि उसकी क्षतिपूर्ति की चेष्टा प्रारम्भ हो गई थी। बर्बर जातियों के गीतों का अध्ययन भी इस दिशा में सहायक नहीं हो सकता क्योंकि उनमें भी विकास होता रहा है और युगों के अन्तराल से उनके वास्तविक स्वरूप की पहचान सम्भव नहीं। सामूहिक और वैयक्तिक भावना में अधिक अन्तर ऐसे युग में न था। गीतों में व्यक्त भाव का स्थान न था बल्कि उनके प्रभाव का कारण उनका संगीतत्व था, जिसमें अनुभूति का सहज प्रकाशन सम्भव था। प्रारम्भिक [illegible] के इन अनु-

भूति-बोधक गीतों का विकास होता रहा और आगे चलकर इनकी दो शाखाएँ हो गईं। एक शाखा का विकास संगीत की शास्त्रीय व्यवस्था के अन्तर्गत हुआ और दूसरी का काव्यात्मक प्रणाली के अन्तर्गत। काव्य में संगीत और चित्र दोनों का समन्वय है। काव्य का मूर्त-विधान चाक्षुष है; किन्तु उसके संगीत-तत्व के कारण श्राव्य मूर्त-विधान का आग्रह कम नहीं। इन दोनों प्रकारों के मूर्त-विधान के सामंजस्य और समन्वय में कवि की सफलता है। प्रारम्भिक गीतों के नमूने हमारे सामने नहीं, केवल उनके द्वारा प्राप्त साहित्यिक उन्मेष का आभास ही हमें यत्र-तत्र मिल सकता है। अतः उनके सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता।

गीति-काव्य-परम्परा की दूसरी लड़ी वहाँ से शुरू होती है, जहाँ संगीत और गीत का अन्तर आरंभ हो जाता है। संगीत में जहाँ शास्त्रीयता का आग्रह है, वहाँ गीतों में भावुकता और आत्माभिव्यंजन का आवेश। गीतों की सामूहिकता इसमें भी नष्ट नहीं हो सकी, किंतु उसकी वैयक्तिक विशिष्टता स्पष्ट होने लगी थी। संगीत में शब्दों का मूल्य केवल इतना है कि इनके द्वारा लय-विस्तार और प्रसार का आधार मिलता है। गीतों में शब्दों का केवल इतना ही महत्व नहीं तथा संगीत-जैसा स्वर और लय, स्वर-सामंजस्य और ताल-पद्धति की अपेक्षा नहीं। शब्द केवल लय-विस्तार के आधार रूप में नहीं आते। गीत वस्तुनिष्ठ आख्यान काव्य और शास्त्रीय संगीत दोनों के विरोध में वैयक्तिकता का आधार लेकर चला। इस युग में जन-गीतों का उन्नत स्वरूप हम पाते हैं जिसमें भाषा का नहीं, बल्कि भाव का; संगीत का नहीं, बल्कि रागात्मक अनुभूति का प्रबल आग्रह है। लोक-गीतों की स्वाभाविकता में काव्य के स्वीकृत विधान की कृत्रिमता के विरुद्ध विद्रोह की भावना है। जो आत्मीयता, संवेदनशीलता उनमें है, उतनी स्वीकृत काव्य में नहीं। कविता का प्रभाव अनेक अंशों में वैयक्तिक संस्कार और भावना के कारण है; इसी लिए जो लोग काव्यत्वपूर्ण काव्य

के पोषक हैं, उन्हें प्रगतिशील कही जाने वाली कविताओं से रस-बोध नहीं होता। लोक-गीतों में काव्यत्व का अभाव माननेवाले काव्य में कृत्रिमता का जिसे कला की संज्ञा दी गई है, अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान मानते हैं। कला यदि रागात्मक क्षणों की आवेशपूर्ण अभिव्यक्ति है, लोक-गीत निश्चयात्मक रूप से कलात्मक हैं। इनमें भावना और संगीत का समन्वय है :—

कारिक पियरि बदरिया झिमिकि दैव बरसहु।
बदरी जाइ बरसहु उही देस जहाँ प्रिय कोड़ करें।।
भीजै आखर बाखर तम्बुआ कनतिया।
अरे भितराँ से हुलसै करेज समुझि घर आवैं।।

ऐसे गीतों में कल्पना का विशद विस्तार नहीं, संगीत का शास्त्रीय विधान नहीं, छंद और अलंकार का तीव्र आग्रह भी नहीं होता, बल्कि साधारण शब्दों में अन्तर्वृत्ति का सहज स्वाभाविक मार्मिक प्रकाशन होता है। स्थूल वस्तुओं के दर्शन से भावना जागरित हो जाती है। प्रेरणा बाह्य रहती है। संगीत और काव्य के इस विच्छेद-युग में कला-गीतों पर संगीत का अधिक प्रभाव दीख पड़ता है यद्यपि भावोन्मेष का कम नहीं। भाव और संगीत में पारस्परिक सम्बन्ध और निर्भरता है। संगीतत्व के अभाव में भाव पूर्ण संवेग के साथ अभिव्यक्त नहीं होते और भाव के अभाव अथवा महत्त्व-हीनता में संगीत पूर्णता तक नहीं पहुँच पाता। भाव और संगीत एक-दूसरे के पूरक हैं। राग-विशेष द्वारा भावुकता और अनुभूति के विस्तार का प्रयत्न है; किन्तु संगीत क्रमशः अपना प्राधान्य खोता चला गया और भावाभिव्यक्ति प्रधान होती रही। वर्णन-विधान अलंकृत रूप-विधान का साधन न रह आत्माभिव्यक्ति का साधन रहा।

विकास-क्रम की तीसरी लड़ी में भाव और संगीत समान स्तर पर आ गये और पारस्परिक निर्भरता छूट-सी चली तथा एक के लिए दूसरे की हत्या भी नहीं हुई। भाव और संगीत, विषय और वर्णन-विधान के एकीकरण द्वारा गीतों में कलात्मकता का विकास हुआ।

और, गीत अपनी प्रकृति-भूमि पर आता दीख पड़ने लगा। दूसरी अवस्था में संगीत और काव्य की दो स्वतंत्र शाखाओं की चर्चा हुई है। काव्य छंद-बंधन स्वीकार कर संगीत का आग्रह ग्रहण कर लेता है, किंतु संगीतात्मकता की यह भावना परम्परागत और सांस्कारिक है। छंदों का संगीत बँधे और कठोर नियमों के अन्तर्गत चलता है, वैसे काव्य में एक ओर जहाँ भाव-प्रसारण की प्रवृत्ति होती है, वहाँ दूसरी ओर संगीत की शास्त्रीय संगति की भी। लोक-गीतों से विभिन्नता यहाँ दीख पड़ती है। उनमें भाव और संगीत की अन्विति है और यहाँ दोनों का सम्मिश्रण और एकीकरण है। संगीत-शास्त्र की रक्षा का प्रयास ऐसी अवस्था में आवश्यक है यद्यपि प्रत्येक अवस्था में उनकी रक्षा सम्भव नहीं हो सकती है। हिन्दी-साहित्य का मध्ययुगीन काव्य इसका साक्षी है। सूर, तुलसी, मीरा के पद एक ओर जहाँ भाव-भूमि के प्रसार में सचेष्ट हैं, वहाँ संगीत की शास्त्रीय चेतना से आविष्ट भी। इतना अवश्य है कि संगीत की रक्षा के लिए न तो काव्यत्व की हत्या हुई है और न काव्यत्व की रक्षा के लिए शास्त्रीय संगीत की। सूरदास के शब्दों के विकृत रूप का कारण संगीतात्मकता की रक्षा का आग्रह नहीं, बल्कि भाषा और छंद के विरोधी तत्त्व हैं। पद-शैली के गीतों में स्थूल प्रेरणा के द्वारा अनुभूतिगत अभिव्यक्ति, अलंकारत्व और वर्णन का मोह उनके लोक-गीत प्रभावित होने के प्रमाण हैं। मीरा के पदों में तीव्र अनुभूति की अभिव्यक्ति के कारण गीति-काव्यत्व विशेष है। कबीर के रागात्मक-पदों में भी ऐसा उन्मेष है। गीतगोविन्द के गीतों और मध्यकालीन गीतों में अधिक समता है यद्यपि मध्यकालीन गीतों में संस्कार भी कम नहीं हुआ है। दोनों विकास की एक ही लड़ी में हैं।

काव्य इन अवस्थाओं में अपने आधुनिक रूप में उपस्थित न हो सका था। काव्य मुख्यतया श्रव्य था, यद्यपि लिखकर रखने की प्रथा का पूर्ण प्रचलन था। छापे की कला के कारण कविता का पाठ्य-रूप

विकसित हुआ। गाकर पढ़ी जानेवाली कविता के स्थान में उसके मौन-पाठ का विस्तार हुआ; अतः संगीत-तत्त्व की प्रधानता खोती गई और विषय अथवा विचार की प्रधानता बढ़ती गई। इस तथ्य ने कविता और विशेषकर गीति-काव्य के स्वरूप और विधान में युगान्तर उपस्थित किया। परिवर्त्तन के अनेक कारणों में काव्य का चाक्षुष मूर्त्त विधान भी है। पहले का कवि जहाँ चाक्षुष एवं श्राव्य मूर्त्त-विधानों के समन्वय में संलग्न रहा, वहाँ आज का कवि अधिकाधिक चाक्षुष मूर्त्त-विधान उपस्थित करता रहा, यद्यपि पहली प्रवृत्ति का एकदम ह्रास नहीं हुआ, फलस्वरूप संगीत की शास्त्रीयता प्रधानता खोती गई। छंद के बंधन के त्याग में यही प्रवृत्ति थी यद्यपि मुक्त छंदों में भी कवि छंद-बंधन से एकान्त मुक्त नहीं हो सका।

चौथी अवस्था में आकर गीत संगीत के शास्त्रीय विधान का पल्ला छोड़कर गीति-काव्यत्व ग्रहण करता है। संगीत इस अवस्था में अनुभूति का अनुचर है, कुछ स्वतंत्र नहीं। संगीत के शास्त्रीय विधान की उपेक्षा के साथ ही आत्मतत्व, आत्मानुभूति और आत्माभिव्यंजन का मोह बढ़ता जाता है, इस प्रकार गीति-काव्य अधिकाधिक आत्मनिष्ठ होता गया। गीति-काव्य की तीसरी अवस्था में भावानुकूल संगीत की योजना है। छंद और राग विशेष द्वारा भाव-प्रकाशन में अद्भुत क्षमता आ जाती है। छंद-शास्त्र के विधायकों ने इसका विचार रखकर विशिष्ट रसों के लिए तदनुकूल छंदों का विधान किया था। काव्य पर संगीत की यह विजय थी। श्रृंगार के लिए शार्दूलविक्रीड़ित, वसन्ततिलका, मंदाक्रान्ता, मालिनी, द्रुतविलम्बित आदि छंदों का विधान शास्त्रकारों ने किया था। विरह-वर्णन के लिए अपनी रुक-रुककर चलनेवाली गति के कारण मंदाक्रान्ता अद्वितीय है जिसे कालिदास ने 'मेघदूत' में अमर कर दिया। सवैया और कवित्त के अति प्रचार के मूल में विषयों का सीमित होना भी है। संगीत का समन्वय तीसरी अवस्था में रहा। यद्यपि संगीत उसके शास्त्रीय विधान की रक्षा

नहीं हो सकी थी। चौथी अवस्था में संगीत के शास्त्रीय विधान का मोह छूट जाता है। शब्द में अपनी ध्वनि अतः, संगीत है। शब्दों के पारस्परिक संगठन और मेल के द्वारा उनके अन्तर्निहित संगीत का समन्वय अनुभूति—अभिव्यंजना के साथ होता है। मौन-पाठ का अर्थ है मन-ही-मन आवृत्ति। इस प्रकार विचार करते समय भी मनुष्य उच्चारण की प्रक्रिया में संलग्न है; कारण मानसिक बिम्बों के साथ उनका ध्वन्यात्मक साहचर्य भी रहता है। शब्द के उच्चारण में प्रयुक्त वाक्-क्रिया और तदनुरूप भावों के समन्वय में ही विचारों की स्थिति जान पड़ती है। गीति-काव्य के पाठ में भी यह प्रक्रिया कार्य करती है। संक्षेप में मन-ही-मन पाठ करने पर भी संगीतात्मकता का आग्रह बना रहता है। गीति-काव्य संगीत के शास्त्रीय विधान से भिन्न अन्तर्निहित संगीतात्मकता का आवेश ग्रहण करता है। इसके कारण विशिष्ट प्रभाव की योजना उसमें होती है। संगीत-तत्त्व के इस अनुबन्ध के कारण गीति-काव्य में भाव-प्रसारण और आत्माभिव्यंजन का अधिक सुयोग रहता है। इस कारण गीति-काव्य की गति में वैशिष्ट्य और प्रभाव में तीव्रता है। गीति-काव्य को शास्त्रीय संगीत के बंधन में ढालना उसे उसकी प्रकृति-भूमि से विच्छिन्न करना है। गीति-काव्य के प्रभाव का कारण संगीत नहीं, बल्कि संगीतात्मक अभिव्यंजना है। गीति-काव्य ऐसी अवस्था में पूर्ण इकाई है जिसके अंगों का विश्लेषण तो किया जा सकता है; किन्तु जिसमें रासायनिक एकता है। अन्विति इसकी आत्मा है। और, गीति-काव्य की यह है चरम परिणति।

—डाक्टर रामखेलावन पाण्डेय

साहित्य और कला

साहित्य की परिभाषा

साहित्य के अवयवों का विश्लेषण हर काल और हर देश में होता आया है। भविष्य में भी होता रहेगा। इसके मूल तत्त्व और गुणों की व्याख्या होती आई है और होती रहेगी। साहित्य क्या नहीं है इसका भी विवेचन परम्परा से होता चला आ रहा है, किन्तु जब कोई पुरुष इस पर गम्भीर रूप से विचार करने लगता है उसे सन्तोष नहीं होता। जब वह उसके मूल तत्त्व को जाँचने का प्रयत्न करता है, जब वह उस पर विभिन्न रूपों से दृष्टिपात करता है, तो उसे नैराश्य-सा हो जाता है। उसे साहित्य की कोई भी परिभाषा पूरी नहीं जँचती। पर कभी-कभी उसका अनुभव इतनी सौन्दर्य-मादकता से भरा होता है, उसका हृदय माधुर्य से इतना छलछला उठता है, उसकी आत्मा इतनी उद्भासित हो उठती है कि कम से कम एक क्षण के लिए वह अवाक् हो जाता है और उसका जीवनस्तर एक अकथनीय स्तर पर जा पहुँचता है।

साहित्यविवेकी कहेंगे कि साहित्य नित्य है, सत्य है; जो साहित्य नित्य नहीं, सत्य नहीं, वह साहित्य नहीं कहा जा सकता। पर मैं पूछता हूँ कि जिस साहित्य का एक सर्ग अथवा एक पंक्ति या एक वाक्य अथवा जिसकी किसी पंक्ति की एक शब्दावलि किसी पाठक के हृदय को या उसकी आत्मा को एक क्षण के लिए माधुर्य वा सौन्दर्य से ओत-प्रोत कर दे और उसके जीवन के स्तर को किसी अकथनीय स्तर पर पहुँचा दे, तो क्या हम उसे साहित्य नहीं कहेंगे ? प्रश्न उठता है—माधुर्य क्या है, सौंदर्य क्या है ? इस विषय पर भी हजारों ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं। कोमल कलाओं के ज्ञाताओं ने अपने-अपने ढंग से इसकी चर्चा की है। वैज्ञानिकों ने अपने-अपने ढंग से इसे चीर-फाड़कर इसके तत्त्व को समझने की चेष्टा की है। यंत्रशिल्पियों ने अपने ढंग से इसके अवयवों को एकत्र कर इसके

स्वरूप को अवगत करने का प्रयास किया है। धर्मग्रंथों के निर्माताओं ने इसके प्राकृतिक अंगों को भुलाकर इसे एक अज्ञात और अगोचर आवरण पहना कर इसे प्रदर्शित करने का साहस किया है। किन्तु अभाग्यवश यह सौन्दर्य शब्दों, विवेचनों वा व्याख्याओं से जान बचाकर हमेशा ही निकल भागा है और सभी हाथ मलते रह गये हैं। फिर जब सौन्दर्य इतना अबोधगम्य है, तो सौन्दर्य के बल साहित्य को कोई स्थूल रूप देना भूल से भरा, नहीं तो भ्रमात्मक अवश्य है। हाँ, इतना हो सकता है कि सौन्दर्य से आनन्द की अनुभूति होती है और यह आनन्द कल्याणकर हो सकता है।

किन्तु कल्याण! किसका कल्याण? कैसा कल्याण? यह तो व्यक्ति विशेष पर निर्भर करता है। किसी रुग्न व्यक्ति को, जिसे पूर्ण शांति की आवश्यकता है, यदि कोई वीर रस की कविता सुना दी जाय तो उत्तेजना के आधिक्य से उसका हृदयस्पन्दन बन्द हो जा सकता है और उसकी मृत्यु हो सकती है। उसी प्रकार यदि संग्रामप्रांगण में जुटे सैनिकों को शृंगार रस की कविता सुनायी जाय तो सिवा अकल्याण के और कुछ नहीं हो सकता। फिर यदि नैतिकता या धर्म-रूढ़ियों का पाठ पढ़ाना ही साहित्य के कल्याणकर होने की कसौटी हो तो संसार के साहित्य का बहुत बड़ा अंश, जिसमें स्त्री-पुरुष के अनियंत्रित प्रेम का खाका खींचा गया है, जो युग-युग की विचार-धाराओं को पार करता हुआ आज भी लोगों को अपने सौन्दर्य-भाव से आनन्द-विह्वल कर रहा है और सम्भवतः आगे भी करता रहेगा, साहित्य-क्षेत्र से लुप्त हो जाय।

सुतरां, साहित्य की परिभाषा 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' करके सन्तुष्ट हो जाना एक हल्की और सस्ती बात होगी। जिस प्रकार अभिज्ञ निराकार परब्रह्म परमात्मा की खोज के पहले किसी साकार मूर्त्ति को उपासना ही प्रारम्भ करते हैं, जिस प्रकार एक बालक सूत्रों से उलझने के पहले पशुओं और परियों की कहानियों को सुनकर तुष्टि प्राप्त करता है, उसी प्रकार साहित्य को 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की संज्ञा से सम्बोधित कर आनन्दित

ही सन्तोष कर सकते हैं। साहित्य और साहित्यिक वृत्ति सम्भवतः इन सब से परे है।

तनिक हम देखें, साहित्य सृष्टि के पहले साहित्य-सर्जना की प्रेरणा या विह्वलता क्या होती है। क्या यह प्रेरणा सभी जीवों में समान रूप से है? क्या इसकी विह्वलता हर अवस्था में एक-सी है? क्या यह नियंत्रण योग्य है? कृत्रिम है? नैसर्गिक है?

सौन्दर्य-अनुभव और सौन्दर्य-सृष्टि, दोनों दो विभिन्न शक्तियाँ हैं, पर दोनों ही आत्म-निहित प्राकृतिक शक्तियाँ हैं। पर भेद इतना है कि सौन्दर्य-अनुभव सब को होता है, सौन्दर्य सृष्टि की शक्ति सब को नहीं होती, और यह अभ्यास से भी नहीं आती; और यदि कुछ आती भी है तो उसके परिणाम सौन्दर्य-सृष्टि को सौन्दर्य की वस्तु न कह, उसे 'सौन्दर्य का मखौल' कह सकते हैं। जिस प्रकार कर्मेन्द्रियों की क्रिया और प्रतिक्रिया के कारण ज्ञान का अनुभव होता है, उसी प्रकार आत्म-निहित विशिष्ट अणु की प्रतिक्रिया के स्वरूप सौन्दर्य का अनुभव होता है। यहाँ वृद्ध, बालक, स्त्री, पुरुष, गोरे, काले, शिक्षित, अशिक्षित का भेद नहीं होता। रुचि और प्रकामता की भिन्नता हो सकती है, किन्तु सौन्दर्य--अनुभव सब में एक भाव से होता है। अनुभव होने पर आनन्द-विह्वलता, उद्विग्नता, एक प्रकार का सुखद नैराश्य न्यूनाधिक रूप से सब में होता है। पर जब यह अनुभव जोर पकड़ता है और अभिव्यक्ति के लिए बेचैन हो उठता है तब हम सौन्दर्य--सृष्टि के प्रदेश में पहुँच जाते हैं। पर यह शक्ति कुछ विरले लोगों में होती है और इसका प्रयोग भी विभिन्न रूपों में होता है।

सृष्टि में आनन्द-विभोर करनेवाली वस्तुओं का अभाव नहीं। अथवा सौन्दर्य-अनुभव उत्पन्न करनेवाली वस्तुओं की सृष्टि में भरमार है। वस्तु-स्थिति तो यह है कि जीवन और प्रकृति में कोई ऐसी चीज नहीं जिसने लोगों के हृदयों को अपनी बनावट से, अपने व्यक्तित्व से ओतप्रोत न कर दिया हो। सच पूछिए तो, साहित्यिक अर्थ में कुरूप कह कर कोई वस्तु ही नहीं।

जीवन में यौवन और सौन्दर्य को छोड़ दें फिर भी कितने ही वृद्ध, अपंग, अंधे, धूल-धूसरित भिखारी, भी अपने दैनिक अंश की झलक दिखा अनेक अमर साहित्य और अमर कला के साधन बन चुके हैं और भविष्य में भी बनेंगे। प्रकृति के सुन्दर पुष्पों और पक्षियों, ऊषा और संध्या, नक्षत्रों और चन्द्रमा को छोड़ भी दें तो काँटे, कुश, बन, उपवन, अँधेरी रात, भीषण तूफान, गंभीर गह्वर कन्दरायें उत्तम से उत्तम साहित्य की कथावस्तु श्रेष्ठ से श्रेष्ठ कलाओं की देह और प्राण बन चुकी हैं और बनेंगी। रचनात्मक, दार्शनिक अथवा बौद्धिक विचारों को छोड़ भी दें, तथापि हमारी अतृप्त आकांक्षाओं और भावनाओं ने साहित्य और सौन्दर्य का अनुपम से अनुपम संसार बसाया है।

स्पष्ट है कि जिन्हें हम, सर्वसाधारण की बोलचाल में, 'सुन्दर' कहते हैं, वे सर्वसाधारण ही के लिए 'सुन्दर' हैं। सृष्टि करनेवालों के लिए जिन्हें हम कुरूप, अभद्र, अस्पृश्य और घृणास्पद कहते हैं वे भी सौन्दर्य के उद्गम-स्थान हो सकते है और जिनके बल पर सुन्दर से सुन्दर, कोमल से कोमल और गरिमापूर्ण सृष्टि हो सकती है। सुतरां, यह सृष्टि करने की शक्ति निरी सौन्दर्य-अनुभव की शक्ति से भिन्न और परे है।

सृष्टि करने की यह शक्ति विश्वस्रष्टा की विशेष देन है। यह जीने, खाने-कमाने, देश या घर सँभालने, या कुछ सांस्कृतिक विशेषताओं के समझने की शक्ति से भिन्न है। निर्जीव या जीवधारी पशुओं को छोड़ दें, तोभी मनुष्य जाति में भी पुरुषों को ही इस शक्ति के पाने का सौभाग्य है, स्त्रियों को नहीं। मैं ऐसा कहकर स्त्री जाति का अपमान नहीं करता, पर बात ऐसी ही है। विश्व का इतिहास साक्षी है। लाखों और करोड़ों मनुष्यों में और सैकड़ों वर्षों के अभ्यन्तर के बाद एक-दो स्त्रियाँ हुई हैं जिनकी गणना विश्व के उच्च कोटि के स्रष्टाओं में हो सकती है। मनुष्य-सृष्टि के किसी विभाग को लीजिए——साहित्य, संगीत, चित्रकला, शिल्प; अथवा विज्ञान, दर्शन, गणित; अथवा संग्राम, राजनीति, पर्यटन किसी में भी ये स्त्रियाँ अंगुलियों पर गिनी जा सकती हैं। मैं जानता हूँ

सभी विषयों में एकाध नाम स्त्री का गिनाया जा सकता है; मैं यह भी जानता हूँ वे इसका कारण पुरुषों की परम्पराजनित 'निष्ठुरता' टिरैनो) बतलाती हैं। किन्तु यह सत्य है कि स्त्रियों का सृष्टिकर्तृ होना अपवाद मात्र है। संसार की कोई भी निष्ठुरता पुरुषों की धधकती प्रेरणा को नहीं रोक सकी, क्योंकि उनकी वह प्रेरणा आत्म-निहित थी, नैसर्गिक थी, और प्रचुर मात्रा में थी। स्त्रियाँ सर्वदा ही प्रतिष्ठा, प्रेम और अर्चना की पात्र बनी रही हैं; और इस पद से चाहे वे स्वयं अपने को च्युत कर लें, स्त्री-पुरुष की व्यर्थ की स्पर्द्धा की चर्चा चलाकर, पर वे सदा ही पुरुषों के प्रेम, प्रतिष्ठा और अर्चना की पात्र बनी रहेंगी। प्रकृति ने उन्हें ऐसा बनाया है। इसमें लज्जा या अपमान की कोई बात नहीं।

प्रकृति ने स्त्रियों को स्वभावतः सुन्दर बनाया है। उनकी शरीर-रचना में जो ललित रेखांकन है वह पुरुषों में नहीं। उनकी दृष्टि में जो स्निग्धता है, उनके गले में जो मिठास है, उनकी चाल में जो धीरता है, उनकी मुस्कुराहट में जो प्रकाश है, वह पुरुषों को उपलब्ध नहीं। जो यह कहता है कि स्त्री-पुरुष एक हैं, पूर्णतः भ्रमात्मक है। उनकी प्रतिक्रियाएँ भी पुरुषों से भिन्न हैं। उनके प्यार करने का तरीका सक्रिय नहीं प्रत्युत अक्रिय है। उसी प्रकार उनकी कल्पना और हृदयगत आवेग भी अधिक से अधिक ग्रहण करने के गुणों से आभूषित हैं, किसी रचनात्मक वृत्ति से नहीं। इन सब कारणों से प्रकृति ने उन्हें कुछ विषयों में पुरुषों से भिन्न और क्षीण कर दिया है और कुछ विषयों में पुरुषों से कहीं तीक्ष्ण और प्रबल कर दिया है। स्त्रियाँ वास्तव में सृष्टिकर्तृ नहीं, सृष्टि करने की प्रेरणा हैं। अधखिले पुष्प और लजीले नयन, प्रस्फुटित गुलाब और मुस्कुराता हुआ मुखड़ा, पूर्णिमा का चाँद और नवयौवना का हास्य, अँधेरी रात और लम्बे केशपाश, किसलय और अँगुलियाँ, वसन्त का सौरभ और कामिनी के निश्वासों की खुशबू, कपास के फूलों से ढके खेत और सफेद बालोंवाली बूढ़ी दादी—कितने गिनायें जायँ—ये सब के सब सृष्टि करने की प्रेरणा देते हैं—हृदय को विह्वल कर, आत्मा को उत्तेजित कर, मन और प्राण को

एक ऐसे स्थल पर पहुँचा देते हैं जहाँ केवल सृष्टिकर्त्ता होता है और जहाँ केवल उसकी सृष्टि होती है।

मैं पहिले ही कह आया हूँ कि पुरुषों में भी बिरले ही को यह सृष्टि-शक्ति प्राप्त है। जिन लोगों को प्राप्त भी है उन सब में यह साहित्य या कला का रूप नहीं लेती। उदाहरणार्थ एक सुन्दर पुष्प को ले लें। इसका प्रभाव आत्मा पर एक विकलता, विह्वलता उत्पन्न करने का होता है। कवि शब्दों द्वारा, चित्रकार रंगों द्वारा, संगीतकार ध्वनि द्वारा, नृत्यकार अपने अवयवों द्वारा अपनी आत्मा की विकलता, विह्वलता को प्रकट करता है। किन्तु एक जीव-विज्ञान का वैज्ञानिक इसकी पंखुरियों में, इसके रजकणों में, इसके तन्तुओं में एक विचित्र शक्ति का आभास पा उस विचित्र शक्ति की खोज में, उन्मत्त-सा हो उस पुष्प को टुकड़े-टुकड़े कर डालता है। सुगन्धि का निर्माता उसके अति सूक्ष्म और कोमल सौरभ के ऐश्वर्य से पराभूत हो, उसे पकड़ शीशियों में बन्द करने के प्रलोभन को संवरण नहीं कर सकता और वह उन पुष्पों को गर्म पानी में उबाल डालता है। एक भक्त उस पुष्प को देख और उसे ईश्वर की अवर्णनीय लीला समझ ईश्वर में और भी अधिक तल्लीन हो जाता है। सुतरां, किसी प्रेरक की क्रिया एक रहने पर भी प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न होती है। कोई तो साहित्य का रूप धारण करता है, कोई कला का, कोई विज्ञान का, और कोई ध्यान का।

साहित्य में भी इसका रूप एक सा नहीं होता। कोई गद्य होता है, कोई पद्य, कोई नाटक, कोई महाकाव्य, कोई संगीत, कोई गीति-काव्य इत्यादि। तनिक सोचा जाय तो पता लगेगा कि भाव और रूप सृष्टि-कर्त्ता की झक पर निर्भर नहीं करते। भाव के अनुरूप ही जो रूप होते हैं वे ही स्वाभाविक रूप होते हैं। मनमाना आवरण पहनानेवाले भूल करते हैं और सच्चे सृष्टिकर्त्ता नहीं होते। यदि भाव सच्चा है तो वह स्वतः अपना रूप ले लेता है। हवा में रहनेवाले पक्षियों का रूप जल में

रहनेवाली मछलियों-का-सा नहीं होता। पानी में चलनेवाले जहाज का

रूप स्थल में चलनेवाली गाड़ी और हवा में उड़नेवाले वायुयान के रूप सा नहीं होता। उसी प्रकार सच्चा भाव भी एक अपना नैसर्गिक रूप धारण करता है।

किन्तु ये तो हुए उसके स्थूल स्वरूप। जहाज, मोटर या वायुयान का प्राण उसके लोहे में नहीं होता। पक्षी या मछली का प्राण उसके पंख अथवा चोंयटे में नहीं होता। प्राण अति सूक्ष्म वस्तु है, कण से भी सूक्ष्म, अणु से भी सूक्ष्म।

आखिर सच्चा साहित्य क्या है? सच्ची कला क्या है? जिस साहित्य या कला को आज सत्य और नित्य कहते हैं वह कल असत्य और अनित्य हो जाती है; और जिसे आज अनित्य कहते हैं, वह कल पुनः जीवित हो उठती है। जिस कला या साहित्य को हम कल्याणकर कहते हैं वह असुन्दर हो सकता है; जिसे हम सुन्दर कहते हैं वह अकल्याणकर हो सकता है। फिर कल्याण और सौन्दर्य की कोई सीमा नहीं, कोई मर्यादा नहीं, कोई दिशा नहीं। अतएव इन कसौटियों पर साहित्य को कसकर हम उसके हीर तक नहीं पहुँच सकते।

पहिले कहा जा चुका है कि सृष्टि करने की शक्ति नैसर्गिक रूप से आत्मा में निहित है। जब इस आत्मा को यथोचित वस्तु या विचार से सम्पर्क होने के कारण एक अद्भुत प्रेरणा मिलती है यह आत्मा एक नयी चेतनता से प्रज्वलित हो उठती है; और इस नये प्रकाश और नयी चेतनता में जो इसके अनुभव होते हैं वे ही साहित्य या कला का रूप धारण करते हैं। इसी प्रबुद्ध आत्मा के प्रकाश में कवियों ने चिड़ियों के संगीत में अमरता देखी, बच्चों की मुस्कान में स्वर्ग देखा, काँटों में ईश्वरता देखी, पत्तों की झोपड़ियों में ऐश्वर्य देखा और कुबरी में सौन्दर्य की चरम सीमा देखी। जब यही प्रकाश दूसरी आत्मा से टकराता है तो वह उसके गुप्त प्रकाशको प्रस्फुटित कर देता है और वह उस आत्मा को प्रोज्ज्वल और भासमान बना देता है। जिस प्रकार किसी स्त्री की शोभा उसके लावण्य में है, उसके आभूषण तो बाहरी अंग हैं और आडम्बर मात्र हैं, उसी प्रकार

साहित्य या कला में सौन्दर्य की बात आडम्बर मात्र है। साहित्य की शोभा या उसका प्राण उसका प्रकाश है, उसकी नयी चेतनता है। जिस प्रकार टिमटिमाती दीपशिखा उकसा देने पर एकाएक जोरों से भभक उठती है और तिमिराच्छन्न वातावरण को प्रकाश से भर देती है, उसी प्रकार सच्चा साहित्य या सच्ची कला आत्मा के आकस्मिक ओज से विकसित होती है और किसी समुचित पात्र की आत्मा में आभा बिखेर देती है।

--विश्वमोहनकुमार सिंह

साहित्य का प्रयोजन

मानव जीवन के कुछ प्रश्न ऐसे हैं, जो प्रायः प्रत्येक युग में पूछे जाते हैं और जिनका समाधान प्रत्येक युग को स्वतन्त्र रूप में ढूंढ़ना पड़ता है। प्रसिद्ध है कि दर्शन तथा आचारशास्त्र के अनेक प्रश्न इस कोटि के होते हैं; 'साहित्य का प्रयोजन क्या है?' यह प्रश्न भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत है। बात यह है कि साहित्य के प्रयोजन तथा जीवन के प्रयोजन या अन्तिम लक्ष्य की समस्याएं एक दूसरे से असंबद्ध नहीं हैं और जहाँ साहित्य-दर्शन जीवन-दर्शन से प्रभावित होता है, वहाँ वह जीवन-दर्शन के निर्माण के लिए महत्त्वपूर्ण तथ्य (data) उपस्थित करता है। यही कारण है कि विभिन्न साहित्य-विचारक उसके स्वरूप एवं प्रयोजन के विषय में एक-दूसरे से इतना विवाद, इतनी कटु आलोचना-प्रत्यालोचना करने लगते हैं।

अस्तु, अब हम अपने प्रश्न को कुछ अधिक मूर्त्त रूप देने की कोशिश करें। क्या मानवता के विशाल जीवन के लिए साहित्य की कोई उपयोगिता है? क्या वह मानव सभ्यता को किसी तरह आगे या पीछे बढ़ाता है? साहित्य का जीवन के अन्य महत्त्वपूर्ण अंगों, मनुष्य के आचार-विचार, उसकी धर्म-भावना एवं जीवन-दृष्टि से क्या सम्बन्ध है? अथवा यह मानना चाहिए कि साहित्य-मात्र व्यक्तिगत आनन्द या मनोविनोद की वस्तु है और उसका मनुष्य के सामूहिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है? यहाँ कतिपय पुराने प्रश्न बड़े उग्र रूप में सामने आ जाते हैं, जैसे कला और नैतिकता (Art and Morality) के सम्बन्ध का प्रश्न।

जैसा कि हमने ऊपर संकेत किया इन प्रश्नों पर मत-विभिन्नता का अन्त नहीं है। क्रोचे के अनुयायी अमेरिकन आलोचक स्पिनगार्न ने 'नवीन

आलोचना' शीर्षक निबन्ध में यह बतलाते हुए कि नई समीक्षा ने किन-किन अन्धविश्वासों का परित्याग कर दिया है, लिखा है :—

We have done with all moral judgement of art...Some said that poetry was meant to instruct some merely to please; some to do both. Romantic criticism first enunciated the principle that art has no aim except expression; that its aim is complete when expression is complete; that 'beauty is its own excuse for being.'

अर्थात् कला की परीक्षा नैतिक दृष्टि से करना अन्ध परम्परा है, जिसे अब हम छोड़ चुके हैं। काव्य-साहित्य का उद्देश्य न केवल शिक्षा या केवल आनन्द देना है, न दोनों; कला का एक ही लक्ष्य है, अभिव्यक्ति। अभिव्यक्ति के पूर्ण होते ही कला का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है; सौन्दर्य स्वयं अपना साध्य है, उसके अस्तित्व के प्रयोजन की खोज वांछनीय नहीं है। आगे स्पिनगार्न कहता है कि सौन्दर्य की दुनिया सत्य और शिव दोनों क्षेत्रों से अलग है और कला को नीति-विरोध कहना वैसा ही है जैसा किसी गीति या इमारत को आचारशून्य घोषित करना। इसी प्रकार ऐ० सी० ब्रेडले ने अपने प्रसिद्ध, 'कविता कविता के लिए' निबन्ध में यह प्रतिपादित किया है कि काव्यकला स्वयं अपना साध्य है, वह धर्म, संस्कृति, नैतिक शिक्षा, मनोवेगों को मृदु बनाने आदि का साधन नहीं है।

दूसरे विचारकों ने उक्त मान्यताओं के ठीक उलटे उद्गार प्रकट किये हैं। प्रसिद्ध उपन्यासकार टाल्स्टाय का मत है कि कला की मुख्य कसौटी नीति और धर्म है, अर्थात् यह विचारना कि कहाँ तक उसका जीवन पर अच्छा या बुरा प्रभाव पड़ता है। वे कहते है—In every age and in every human society there exists a religious sense of what is good and what is bad common to that whole society, and it is this religious con-

ception that decides the value of the feelings transmitted by art.[१] मैथ्यू आर्नल्ड का विचार है कि 'जो काव्य नैतिकता के प्रति विद्रोही है वह स्वयं जीवन के प्रति विद्रोही है' और जो काव्य नैतिकता से उदासीन है, वह स्वयं जीवन से उदासीन है।[२]

यहाँ प्रश्न उठता है कि उक्त दो विरुद्ध मतों में से किसे स्वीकार किया जाय? इससे भी महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि इन विरोधी मान्यताओं की परीक्षा कैसे की जाय; किस पद्धति से, किस आधार पर, उक्त विवाद का निपटारा किया जाय?

संभवतः कुछ लोग, जिन्होंने तर्कशास्त्र पढ़ा है, सोच सकते हैं कि दो विरुद्धों के बीच तीसरी स्थिति संभव नहीं है—"परस्पर विरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः।" किन्तु वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं है। कुछ परीक्षकों ने एक तीसरी ही कोटि के विचार प्रकट किये ह। आधुनिक काल का प्रसिद्ध कवि और आलोचक टी० एस० इलियट पहली साँस में कहता है :—

And certainly poetry is not the inculcation of morals, of the direction of politics, and no more is it religion or an equivalent of religion, except by some monstrous abuse of words·· अर्थात् शब्दों का भयंकर दुष्प्रयोग किये बिना यह नहीं कहा जा सकता कि कविता नीति की शिक्षा, राजनैतिक मार्ग-दर्शन अथवा धार्मिकता या उसका समकक्ष कुछ और है। किन्तु आगे चलकर वह इस एकांगी सम्मति में संशोधन कर देता है।

On the other hand poetry as certainly has something to do with morals, and with religion, and

१. दे० What is Art (Oxford), पृ० १२८-२९

२. A Poetry of revolt against moral ideas is a poetry of revolt against *life* : a poetry of indifference towards moral ideas is a poetry of in differnce towards *life*.

even with politics perhaps, though we cannot say what (The Sacred wood, 1928 Edn,) अर्थात् कविता का नैतिकता, धर्म-भावना और संभवतः राजनीति से भी कुछ सम्बन्ध अवश्य है, यद्यपि हम नहीं जानते कि वह सम्बन्ध क्या है। डा० आई० ए० रिच-र्ड्स का मत भी कुछ इसी प्रकार है।[१] आचार्य मम्मट ने काव्य के अनेक प्रयोजन बतलाते हुए इस बात पर विशेष गौरव दिया है कि वह आनन्द के लिए (सद्यः परनिर्वृतये) है; साथ ही उनका कथन है कि वह कान्ता-संमित उपदेश के लिए भी है। मेरे विचार में कान्ता-संमित विशेषण का प्रयोग इस बात का द्योतक है कि मम्मट, इलियट की भाँति, यह ठीक-ठीक बताने में असमर्थ है कि किस प्रकार काव्य-कला नैतिक शिक्षण का कार्य सम्पन्न करती है। रिचर्ड्स की 'किसी विशिष्ट अर्थ में' (in some special senses) व्यंजना भी इसी असमर्थता का द्योतक है।

मैं समझता हूँ कि उन परीक्षकों की तुलना में जो काव्य और नैतिकता एवं धर्म-भावना में कोई सम्बन्ध नहीं देखते, दूसरी श्रेणी के विचारक जिनमें आर्नल्ड तथा टॉल्स्टॉय के अतिरिक्त प्लेटो, अरस्तु, होरिस, दान्ते, मिल्टन, शेली आदि पश्चिम के तथा भरत, आनन्द-वर्धन, अभिनवगुप्त आदि भारत के विचारक सम्मिलित हैं, सत्य के अधिक समीप हैं। साथ ही मेरा विश्वास है कि काव्य के नैतिक, धार्मिक तत्त्वों का निरूपण युग विशेष के स्वीकृत नीतिशास्त्र तथा धर्म-भावना द्वारा ही नहीं हो सकता। जिस अन्तर्दृष्टि पर काव्य-साहित्य निर्भर करता है, वह प्रचलित नीतिवाद से आगे और कभी-कभी उसके विरुद्ध भी चली जाती है। इस दृष्टि से इलियट और मम्मट की यह भावना कि काव्य और नैतिकता का सम्बन्ध

---

१. तु० की० Culture, religion, instruction *in some special senses*, *poetic* softening of the passions, and the furtherance of good causes may be directly concerned in our judgments of the *poetic* values of experiences. (प्रथम इटैलिक हमारे हैं)। Principles of literary criticism, पृ० ७४।

ठीक-ठीक व्याख्येय नहीं है, वस्तुस्थिति के अधिक निकट है। आप कहेंगे कि मैंने ऊपर की सम्मति सिद्धान्तवादी (Dogmatic) ढंग से प्रकट कर दी है, उसे स्वीकार करने का, कोई कारण उपस्थित नहीं किया है। वास्तव में अवशिष्ट लेख में हमें इन कारणों का ही निरूपण करना है। साहित्य का प्रयोजन क्या है, उसका सभ्यता, नैतिकता या धर्म-भावना से क्या सम्बन्ध है—इसका उचित उत्तर पाने के लिए हमें साहित्य के स्वरूप की कुछ जानकारी होनी चाहिए। साहित्य के सम्बन्ध में प्रस्तुत विषय से लगाव रखनेवाला मुख्य प्रश्न यह है—साहित्य की विषयवस्तु क्या है, साहित्य में किस चीज को अभिव्यक्ति देने की चेष्टा की जाती है ?

अभिव्यंजनावादी का यह कथन कि साहित्य अभिव्यक्ति या अभिव्यक्ति की कला है, साधारण लोगों को ही नहीं, दार्शनिकों को भी एक पहेली मालूम पड़ता है।

क्रोचे के दार्शनिक सिद्धान्त भी कुछ ऐसे ही हैं। अभिव्यंजनावाद का एकमात्र सत्य पहलू यह सिद्धान्त है कि साहित्य या कला-विशेष पदार्थों की सफल या स्पष्ट अभिव्यक्ति, उन्हें अनुभव से मूर्त्त कर देना है। किन्तु उस सिद्धान्त का यह परिणाम कि प्रत्येक वस्तु—रेल के इंजन का धुआँ अथवा बुद्ध का महाभिनिष्क्रमण—समान रूप मे कला का विषय बन सकती है यदि कलाकार उसे अनुभव में पूर्णतया मूर्त्त कर सके, उसे यथार्थवाद का एक उग्रतम रूप दे देता है और उसका हमारी मूल्य-भावना (Sense of values) से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता।

एक दूसरा प्रचलित एवं पुराना मत यह है कि साहित्य में हमारी संवेदनाओं (Feelings) तथा आवेगों (Emotions) की अभिव्यक्ति होती है। वर्ड्सवर्थ ने कविता को वेगपूर्ण संवेदनाओं का सहज उद्गार (Spontaneous outburst of powerful feelings) अथवा शान्त क्षणों में स्मृत आवेग (Emotion recollected in tranquillity) वर्णित किया है। टॉल्स्टॉय के अनुसार कला का

जन्म तब होता है जब एक व्यक्ति अनुभूत आवेग को दूसरों तक पहुँचाने में समर्थ होता है। भारतीय रसवाद के अनुसार विभाव, अनुभावादि के द्वारा रहस्यमय स्थायी भावों की अभिव्यक्ति को रस और रसमय वाणी को काव्य कहते हैं।

साहित्य-सम्बन्धी उक्त मान्यताएँ बड़े-बड़े विचारकों के नाम से संबद्ध हैं, और उनके पीछे दीर्घ-परम्परा का बल है। मेरे पास इतना अवकाश नहीं है कि इन मान्यताओं का लम्बा विवरण और विस्तृत परीक्षा प्रस्तुत करूँ। संक्षेप में मैं आपका ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ कि स्वयं कवियों की तथा आलोचकों और रसज्ञ पाठकों की एक बड़ी संख्या यह मानती चली आई है कि साहित्य में मनुष्य के हृदय की अथवा उसके भीतर की किसी चीज की अभिव्यक्ति होती है। उस भीतरी चीज को किसी ने संवेदना, किसी ने आवेग और किसी ने कुछ और नाम दिया है।

यदि मैं आपसे कहूँ कि मैं इन मान्यताओं को बहुत दूर तक भ्रम-मूलक मानता हूँ, तो आप सहसा सतर्क हो जायँगे, और मेरे प्रति सहानुभूति का भाव धारण कर लेंगे। पर मैं आपसे निवेदन करूँगा कि आप अधीर न हों और इन मान्यताओं के कतिपय निष्कर्षों पर तटस्थ भाव से विचार करें।

यदि साहित्य केवल भीतरी आवेगों, संवेदनाओं अथवा स्थायी भावों की अभिव्यक्ति है, तो यह स्पष्ट है कि मुझे साहित्य-सृष्टि के लिए अपने आवेष्टन—अपने चारों ओर के स्त्री-पुरुषों तथा शेष संसार से सम्पृक्त होने की, उनमें अभिरुचि लेने की बिलकुल जरूरत नहीं है। मेरा काम, साहित्यकार होने की हैसियत से केवल यह है कि मैं अपने भीतर झाँकूँ और अपनी भीतरी प्रतिक्रियाओं को छन्दोबद्ध या गद्यात्मक भाषा में प्रकट कर दूँ। उक्त मान्यताओं का ही दूसरा निष्कर्ष यह भी है कि कलाकार को संसार के मनीषी विचारकों के चिन्तन से किसी प्रकार का लाभ उठाने की आवश्यकता नहीं [illegible] चाहिए, क्योंकि उसका लक्ष्य उन आवेगों या संवेदनाओं

को व्यक्त करना है, जो पहले से ही उसके भीतर मौजूद हैं। इसीलिए कुछ लोगों का---और उनमें संभवतः उपन्यासकार जैनेन्द्र भी हैं—विचार है कि कलात्मक सृष्टि के लिए, विशेष शिक्षा-दीक्षा आवश्यक नहीं है, कलाकार अपनी जन्मजात प्रतिभा के बल पर साहित्य-सर्जना करता है।

आपको शायद यह परिणाम अप्रिय लगे; आपमें से कुछ यह भी कह सकते हैं कि मैंने उक्त सिद्धान्त के साथ पूर्ण न्याय नहीं किया है; क्योंकि रसवाद स्थायी भाव की अभिव्यक्ति में विभावों को—अर्थात् आवेष्टन (Environment) की जिसमें नर-नारी सम्मिलित हैं—उपादेयता स्वीकार करता है। मेरा उत्तर है कि रसवाद के अनुसार भी जो इन सिद्धान्तों में सबसे पुष्ट है, आवेष्टन के सम्पर्क का स्थान नितांत गौण है; और वहाँ प्रायः किन्हीं भी आलंबन एवं उद्दीपन विभावों से काम चल सकता है। वर्ड्सवर्थ तथा टॉलस्टॉय के विवरणों में आवेष्टन का इतना भी महत्त्व नहीं है, और डा० रिचर्ड्स के अनुसार अन्तर्वृत्तियों का समंजस संगठन ही कला का एकमात्र लक्ष्य है।

यहाँ प्रसंगवश मैं भारतीय रस-सिद्धान्त के सम्बन्ध में एक बात कह दूं; उसने आवेग-संवेदनावाद के एक बड़े दोष के परिहार का यत्न किया है। शुद्ध संवेदना या आवेग, अन्तःप्रवृत्ति (Impulse) या स्थायी भाव की अभिव्यक्ति संभव नहीं है, इस पर रसवाद के आचार्यों का ही ध्यान गया और उन्होंने विभावादि को अभिव्यक्ति का साधन कथन किया। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार संवेदना और आवेग, विशेषतः द्वितीय, शरीर की आकुलित अवस्था का नाम है जिसमें आमाशय तथा उसके पार्श्ववर्ती अंगों में विशेष हलचल होने लगती है। इस शारीरिक आकुलता एवं हलचल को आवेगयुक्त पुरुष अन्य भाव से महसूस करता है; पर यह कहना निरर्थक है कि वह उसे समझता है, और इसीलिए वह उसे वाणी द्वारा अभिव्यक्त करने में भी असमर्थ होता है। वस्तुतः जब कोई व्यक्ति अपने क्रोध को वाणी से प्रकट करता है, तो वह अपने शारीरिक परिवर्तनों का विवरण नहीं देता, अपितु उन प्रतिकूल परिस्थितियों का वर्णन

करता है, जो उसके क्रोधोदय का कारण हुई हैं---जैसे क्रोध-भाजन व्यक्ति के दुर्व्यवहार अथवा हानिकारक व्यापारों का।

इस प्रसंग को हम यहीं छोड़ें। मेरा तात्पर्य यह है कि साहित्य केवल किसी भीतरी वस्तु की अभिव्यक्ति नहीं होता। अतः साहित्य का प्रयोजन अन्तःप्रवृत्तियों के संगठन या समंजसकरण भी नहीं है, जैसा कि डा० रिचर्डस का मत है। वस्तुतः विज्ञान की भाँति साहित्य भी आवेष्टन (Environment) के प्रति प्रतिक्रिया है और उसका उद्देश्य मनुष्य का आवेष्टन से विशेष सम्बन्ध स्थापित करना है। अवश्य ही विज्ञान और साहित्य नामक प्रतिक्रियाओं में भेद है और उनके द्वारा स्थापित मनुष्य और आवेष्टन के सम्बन्ध भी भिन्न हैं। विज्ञान का क्षेत्र भौतिक आवेष्टन है जहाँ वह मुख्यतः कार्य-कारण-सम्बन्धों का उद्घाटन या स्थापना करता है; इसके विपरीत साहित्य का क्षेत्र मुख्यतः मानव-जीवन है जहाँ वह शुभ-अशुभ, सुन्दर-असुन्दर आदि तत्त्वों को ढूँढता और उनसे मनुष्य का रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है। विज्ञान मनुष्य को भौतिक आवेष्टन का आधिपत्य देता है, साहित्य उसे मानव-जीवन के सौन्दर्य का उपभोग; विज्ञान आवेष्टन को हमारा बना देता है, साहित्य उसे हमारे अस्तित्व का अंश। साहित्य में जड़ प्रकृति भी सुन्दर और सजीव बनकर हमारे जीवन या अस्तित्व का अंग बन जाती है।

आप पूछेंगे कि हमारी इस स्थापना का प्रमाण क्या है? मेरा उत्तर है---कलाकार के साहित्य-सृष्टि के क्षणों का सतर्क निरीक्षण कीजिए और आप देखेंगे हमारा मत ही वस्तुस्थिति का सच्चा विवरण प्रस्तुत करता है। शकुन्तला के सौन्दर्य अथवा दुष्यंत के मानसिक द्वन्द्व का वर्णन करते समय कालिदास की अभिरुचि एवं चिन्ता का केन्द्र क्या होता है? अवश्य ही शकुन्तला का शरीर और दुष्यन्त का मन न कि अपने भीतरी विकार। इसी प्रकार 'रामचरितमानस' की वर्णना का विषय, उसकी कला-पद्धति का केन्द्र राम है न कि तुलसी। यह कहना कि 'मानस' लिखते समय तुलसीदास [illegible] राम की लीलाओं पर न होकर अपनी संवेदनाओं, [illegible]

या भाव-पद्धति की ओर था, वस्तुस्थिति का सही उल्लेख न होगा। इसी प्रकार गोर्की के 'माँ' उपन्यास में अभिव्यक्ति का विषय रूस के कुछ मजदूरों का जीवन है, स्वयं गोर्की के स्थायी भाव या आवेग नहीं।

यहाँ एक प्रश्न उठता है। यदि साहित्य का काम आवेष्टनगत सौंदर्य-असौंदर्य—अर्थात् मूल्यों का उद्घाटन है, तो विचारकों और स्वयं साहित्यकारों को यह भ्रम क्यों होता है कि वे किसी भीतरी चीज को अभिव्यक्ति दे रहे हैं? उत्तर यह है कि आवेष्टन या बाह्य जगत् भी हमें प्रतीति के रूप में ही प्राप्त होता है--कलासृष्टि के समय वह हमें चित्तवृत्ति के रूप में ही उपलब्ध होता है, इसीलिए यह भ्रम होता है। वास्तव में काव्य-साहित्य का विषय आन्तरिक आवेग न होकर वे अर्थवत् (Significant) छवियाँ हैं जो हमारे अन्तःकरण ने बाह्य जगत् में से चयन करके संचित कर रक्खी हैं। दूसरे शब्दों में साहित्य आवेष्टनगत अर्थवत्ता या मूल्यों का ही उद्योतन अथवा विवृति करता है।

यहाँ हम आवेष्टन शब्द का प्रयोग बड़े व्यापक अर्थ में कर रहे हैं। हमारे आवेष्टन में भौतिक प्रकृति की ही नहीं, नर-नारी और उनके व्यापार ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण मानवता के सब प्रकार के विचार-विकार, संशय-सन्देह, सुख-दुःख, आशाकांक्षाएँ, मानवता का सम्पूर्ण इतिहास और स्मृतियाँ सम्मिलित हैं। इस प्रकार राम-कृष्ण तथा बुद्ध और ईसा कीं जीवनियाँ उनके भक्तों के ही नहीं, हमारे सांस्कृतिक आवेष्टन का भी महत्त्वपूर्ण भाग बन गई है। यही नहीं, गीतिकाव्य में स्वयं हमारे व्यक्तिगत सुख-दुःख तथा मनोविकार ज्ञान या अनुभूति का विषय बनकर हमारे सामने आते हैं और हम उन्हें वैसे ही देखते हैं जैसे आवेष्टन के अन्य तत्त्वों को। उस समय उन्हें अभिव्यक्ति देनेवाला कवि (विषयी) उन्हें अनुभव का विषय बनाकर उनके सौन्दर्यासौन्दर्य की विवृति करता है। इसके विपरीत उपन्यास में इस विवृति का विषय पात्रों की मनोदशाएँ होती हैं।

आवेष्टन की यह विविधता ही विश्वसाहित्य की जटिल विविधता

की व्याख्या कर सकती है। कहा जाता है, और यह ठीक भी है कि हमारे आवेग तथा संवेदनाएँ वही रहती हैं; हमारे स्थायी भाव भी वही हैं; तो क्या यह मानना चाहिए कि साहित्य-प्रक्रिया में कोई विकास नहीं होता, और परवर्ती युगों के साहित्यकार अपने पूर्ववर्ती काव्य-प्रयत्नों की आवृत्ति-मात्र करते आये हैं? क्या आज के साहित्यकार वही कह रहे हैं, जो प्राचीन कवि कहते थे? क्या वाल्मीकि से रवीन्द्र तक मानवता ने काव्य-साहित्य के क्षेत्र में कोई प्रगति नहीं की? क्या टॉल्स्टॉय और वाणभट्ट, गोर्की और दण्डी, जेम्स-ज्वायस तथा गाल्सवर्दी और सुबन्धु के उपन्यासों में एक ही बात कही गयी है, एक ही चीज अभिव्यक्त हुई है—वे ही सीमित आवेग संवेदनाएँ, वे ही स्थायी भाव? क्या साहित्य की विशाल विविधतामात्र भ्रम है? सचमुच ही हमें यह निष्कर्ष बड़ा विचित्र, बड़ा अद्भुत अथच भ्रामक प्रतीत होता है, और हमारा विश्वास है कि आप भी उसे ग्रहण करने को तैयार नहीं हैं।

तो काव्य साहित्य का विषय साहित्यकार की चेतना के सामने फैला हुआ आवेष्टन है, और इस आवेष्टन का प्रमुख भाग मानवता का जीवन है। यह आवेष्टन प्रत्येक युग में बदलता रहता है; इसीलिए प्रत्येक युग में नये साहित्य की जरूरत होती है। अवश्य ही आवेष्टन के कुछ भाग—भौतिक प्रकृति, नर-नारी की प्रणय-लीला, माँ और बालक का पारस्परिक सम्बन्ध—विशेष परिवर्तित नहीं होते, पर उन्हें देखनेवाली आँखें, उनके सौन्दर्य की विवृति करनेवाला मन बदल जाता है। इसीलिए प्रत्येक युग को अपना प्रकृति-काव्य और प्रणय-काव्य फिर से लिखना पड़ता है; इसीलिए सूर की बाल-संबंधिनी कविता और रवीन्द्र के शिशु-काव्य में भेद है।

कला-सृष्टि मानवता की एक खामखयाली चेष्टा नहीं है, वह निष्प्र-योजन भी नहीं है। कला द्वारा मनुष्य अपने आवेष्टन के उन पहलुओं को समझने की कोशिश करता है, जो उसके सुख-दुःख, राग-द्वेष से घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध हैं। जीवन में, आवेष्टन में, क्या शुभ है और क्या अशुभ,

क्या सुन्दर है और क्या असुन्दर, से ठीक से देखे-जाने बिना हम अपने प्रयत्नों को ठीक दिशा में नहीं मोड़ सकते; इस प्रकार कला हमारे व्यापारों का दिशा-निर्देशन करती है। साथ ही उस अपार विश्व से जो साक्षात् हमारे प्रयत्नों का क्षेत्र नहीं है—रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करके कला हमारे अस्तित्व का प्रसार करती है। अस्तित्व की प्रसारक होने के कारण सब प्रकार की कला, शाकुन्तल की सुरभित कॉमेडी और हार्डीकृत 'टेस' की करुणा-विगलित ट्रेजेडी हमारे आनन्द का हेतु होती हैं। अतः हम मम्मट से सहमत हैं कि काव्य साहित्य का एक प्रमुख उद्देश्य आनन्दानुभूति है।

और कला का दूसरा प्रयोजन हम में मानव-जीवन के मूल्यांकन की क्षमता उत्पन्न करना है। व्यक्ति-विशेष का जीवन जिस अनुपात में महत्त्व-पूर्ण होता है, उस अनुपात में वह उसकी मूल्य-भावना से नियंत्रित रहता है। विश्व के श्रेष्ठतम पुरुष अहर्निश जीवन-सम्बन्धी मूल्यों का अनुचिंतन एवं अभिमत आदर्श की उपलब्धि का प्रयत्न करते हैं। जीवन और सभ्यता की जटिलतर वृद्धि के साथ कलाकार का कार्य भी जटिलतर होता जाता है, जिसे सम्पन्न करने के लिए उसे अपने पूर्ववर्ती कलाकारों तथा अन्य प्रतिभा-मनीषियों से अधिकतम सहायता लेनी पड़ती है।

अब हमें देखना चाहिए कि किस प्रकार कलाकार अन्य कोटि के विचारकों से सहायता लेता और स्वयं मानवता के मूल्यानुचिन्तन को आगे बढ़ाता है। जड़ घटनाओं के क्षेत्र में ही नहीं, मूल्य जगत् में भी सब प्रकार के वादों और सिद्धान्तों का आधार कतिपय तथ्य (Facts) होते हैं, जो कथंचित् प्रत्यक्ष दृष्टि से जाने जाते हैं। प्रत्येक वाद या सिद्धान्त तथ्यों अर्थात् वास्तविकताओं की व्याख्या का प्रयत्न है और उसकी कसौटी भी तथ्य या वास्तविकताएँ ही हैं। कलाकार वादों का अध्ययन मुख्यतः अपनी दृष्टि के प्रसार के लिए करता है। स्वयं कलाकार का काम अपनी परिष्कृत दृष्टि से नई मार्मिक छवियों को प्रकाश में लाना है। देखने की बात यह है कि कलाकार की दृष्टि मुख्यतः विशेषोन्मुखी होती है।

सामान्य सिद्धान्तों की अपेक्षा उसे विशेष वास्तविकताएँ ज्यादा प्रिय होती हैं, और उसकी दृष्टि प्रायः ऐसी वास्तविकताओं को ढूँढ़ निकालने की अभ्यस्त है। एक उपन्यास या नाटक के रूप में कलाकार अपनी बिखरी हुई दृष्टियों का एकत्रीकरण या सामंजस्यपूर्ण संगठन कर सकता है; पर यह संगठन या समन्वय भी विचारक के सामान्य सिद्धान्त से भिन्न कोटि की चीज होता है। सारांश यह कि कलाकार की प्रतिभा सदैव मूर्त्त विधान ही करती है, अमूर्त सिद्धान्त-सूत्रों का विधान नहीं। इस सम्बन्ध में हमें क्रोचे का सिद्धान्त मान्य है।

कलाकार की दृष्टि पूर्ववर्ती विचारकों के अध्ययन से परिष्कृत और विस्तृत होती है, वह उनसे बँधती नहीं। साधारण व्यक्ति और प्रतिभाशाली का यह एक प्रमुख भेद है। वाद या सिद्धान्त साधारण व्यक्ति का दृष्टि-विस्तार नहीं करते। वे रंगीन चश्मे की भाँति उसकी दृष्टि को विकृत कर देते हैं। इसके विपरीत प्रतिभाशाली विचारक या कलाकार वादों से आबद्ध नहीं होता। वह उनकी आधारभूत वास्तविकताओं से परिचित होकर नवीन वास्तविकताओं को देखता-खोजता आगे बढ़ जाता है। इससे स्पष्ट है कि प्रतिभाशाली कलाकार किसी मतवाद का पोषक या अनुयायी नहीं बन सकता।

पूर्ववर्ती विचारकों तथा कलाकारों की सहायता से अपनी दृष्टि का परिष्कार करके कलाकार फिर उस दृष्टि में विश्वास रखता हुआ आगे बढ़ता है और स्वयं नवीन मार्मिक छवियों का उद्घाटन करके मानवता के दृष्टि-प्रसार में सहायक होता है। इस प्रकार कलाकार की क्रान्तदर्शिनी दृष्टि पद-पद पर दूसरों के तथा अपने लिए भी आश्चर्यजनक नूतनताओं का आविष्कार करती चलती है। कला नीति और धर्म-भावना की विरोधी नहीं है; पर कभी-कभी वह जीवन की ऐसी छवियों में सौन्दर्य देखने लगती है, जो नीति-धर्म द्वारा अशुभ घोषित की जा चुकी है अथवा जिनके सम्बन्ध में आज तक के विचारक उदासीन रहे हैं। विश्व का सांस्कृतिक इतिहास बतलाता है कि ऐसे अवसर पर नैतिक-धार्मिक रूढ़ियों

की अपेक्षा कलाकार का नेतृत्व अधिक विश्वसनीय होता है। कारण यह है कि कलाकार की दृष्टि अधिक संवेदनशील, जीवन से अधिक संपृक्त और अधिक निष्पक्ष होती है; तरह तरह के वादों, सिद्धान्तों और तंत्रों के प्रभाव से वह यांत्रिक नहीं बन जाती।

प्रकृति-प्रेम से हमें क्या लाभ है, इसका बौद्धिक विवरण प्राप्त किये बिना ही हम सदा से प्रकृति-काव्य का आनन्द लेते आये हैं; और फ्रायड से सहस्राब्दियों पहले से कलाकार नर-नारी के सम्बन्ध का महत्त्व घोषित करते रहे हैं। साहित्य में प्रेम-काव्य एवं प्रेम-तत्त्व की प्रधानता इस बात की द्योतक है कि नर-नारी का प्रणय एवं पारस्परिक प्रेम-भावना मानवता के अस्तित्व के लिए बहुत जरूरी है। इसी प्रकार कवियों ने वात्सल्य-भावना को जीवित रखने के लिए भी बहुत कुछ किया है। आज आप सुनते हैं कि कुछ देशों की जन्म-संख्या कम हो रही है और वहाँ के नेता इसके लिए चिन्तित हैं, और तब शायद आपके ध्यान में आ सकता है कि मानव-सभ्यता की दृष्टि से शिशु-सम्बन्धी काव्य का क्या महत्त्व है। बर्ट्रण्ड रसेल ने कहीं कहा है कि कुछ काल बाद लोगों का बौद्धिक विकास इतना अधिक हो जायगा कि सन्तानोत्पत्ति का काम करने को बहुत थोड़े लोग तैयार हुआ करेंगे। मतलब यह है कि उन्नत बुद्धि के लोगों को नारी आकर्षित नहीं करेगी। इसका स्पष्ट फल यह होगा कि कम विकसित मस्तिष्क के लोग ही सन्तान उत्पन्न करेंगे। और सभ्यता की प्रगति में बाधा पड़ेगी। पर मेरा विश्वास है कि मानव-जाति का प्रेमकाव्य इस दुष्ट संभावना से उसकी रक्षा करेगा।

कलाकार की मूल्य-दृष्टि सदैव स्वीकृत नीतिवाद की तुला पर नहीं तौली जा सकती, पर प्रायः वह उससे अधिक गहरी होती है। प्रगतिशील मानव सभ्यता पुराने नीतिवादों को छोड़ती या उनमें संशोधन करती जाती है, पर प्राचीन कला-कृतियों में उसका प्रेम बढ़ता जाता है। मनु आज पुराने पड़ गये, पर कालिदास चिर-नवीन हैं। कला जहाँ गहरी अन्त-र्दृष्टि की अभिव्यक्ति होती है, वहाँ वह प्रचलित नीतिवादों पर आधारित

न होकर स्थायी मानव नीति का आधार बन जाती है। शेली ने ठीक ही कहा है—Ethical science arranges the elements which poetry has created and propounds schemes and proposes examples of civil and domestic life… अर्थात् नीति-शास्त्र का काम काव्य द्वारा उपस्थापित तत्वों को श्रृंखला-बद्ध करके सामाजिक एवं कौटुम्बिक जीवन के लिए योजनाएँ प्रस्तुत करना हैं। अन्यत्र उसी कवि ने कलाकार मानवता का अज्ञात नियामक (Unacknowledged legislator) कहा है, जो उचित ही है।

अब यदि आप मुझसे पूछें कि क्या आज के लेखकों को मार्क्सवाद या तथाकथित प्रगतिवाद का आश्रय लेना चाहिए, तो मेरा उत्तर स्पष्ट है। जहाँ तक मार्क्सवाद कतिपय महत्त्वपूर्ण वास्तविकताओं की ओर हमारा ध्यान ले जाता है, वहाँ तक दृष्टि-प्रसारक होने के कारण, वह ग्राह्य है। इसके अतिरिक्त, वाद के रूप में वह कलाकार की दृष्टि को सीमित या बद्ध ही करेगा, ऐसी आशंका है। मार्क्सवाद का अनुयायी बनकर जो कलाकार प्रकृति, दाम्पत्यजीवन एवं माँ और शिशु के सम्बन्ध में सौन्दर्य देखने से इनकार करेगा, वह स्वयं अपनी दृष्टि और कला के पूर्णोन्मेष में बाधक होगा। साथ ही हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि पीड़ित मानवता के क्रन्दन की ओर से नेत्र और कान मूँदकर हम सभ्यता और कला का कोई उत्कर्ष नहीं कर सकते। कला का काम हमारे सम्पूर्ण आवेष्टन, सम्पूर्ण जीवन का मूल्यांकन और व्याख्या करना है। जीवन से आँख बचाकर नहीं, जीवन को उसकी पूर्णता में रागात्मक निरीक्षण और अनुभूति का विषय बनाकर ही कलाकार अपने काम को पूर्णतया संपादित कर सकता है। श्रेष्ठ कलाकार बनने के लिए अनुभूति में गहराई और व्यापकता दोनों ही गुणों का सन्निवेश होना चाहिए। महान् कलाकार अपने युग का पूर्ण प्रतिनिधि, सम्पूर्ण व्याख्याता होता है। उसकी वाणी में युग के सारे संघर्ष, सारे राग-विराग, समस्त प्रश्न और सन्देह, मूर्तिमान होकर बोलते या ध्वनित होते हैं।

टॉल्स्टॉय ने कहा है कि कला मनुष्यों को समान संवेदना या आवेग से अनुप्राणित करके मिलाती या एक करती है। हम टॉल्स्टॉय के कार्य-निर्देश से सहमत हैं, पर उनके कारण-निर्देश से हमारा मतभेद है। कला मनुष्यों में एक मूल्य-दृष्टि, एक मूल्य-भावना उत्पन्न करती है, जिसके फलस्वरूप वे सांस्कृतिक तादात्म्य का अनुभव करते हैं। एकता का स्थायी आधार आवेग नहीं, दृष्टि है; यह ज्ञान या भावना कि वे ही वस्तुएँ या स्थितियाँ मानवमात्र के लिए शुभ या अशुभ, सुन्दर या असुन्दर, ग्राह्य अथवा त्याज्य हैं। विज्ञान भी दृष्टि की एकता उत्पन्न करता है, पर उसकी प्रणाली दूसरी है। वस्तुतः विज्ञान और कला मनुष्यों में दृष्टिगत एकता अथवा सांस्कृतिक तादात्म्य स्थापित करने के दो महत्त्वपूर्ण साधन हैं जिनका महत्त्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता जायगा; इसके विपरीत संकीर्ण धार्मिकता एवं नैतिकता से विमुख राजनीति मनुष्यों को लड़ानेवाली शक्तियाँ हैं जिनके ह्रास अथवा कम-से-कम प्रयोग में ही मानवता का कल्याण है।

—डा० देवराज

कला का परिचय

किसी कार्य को करने के कौशल का नाम कला है। इसी को फारसी में 'हुनर' और अँगरेजी में 'आर्ट' कहते हैं। काम-शास्त्र में इसके ६४ भेद बतलाये गये हैं जिनमें गीत, वाद्य, नृत्य आदि के अतिरिक्त वृक्षों के रोगों की चिकित्सा, यन्त्रनिर्माण और छन्दों का ज्ञान भी सम्मिलित है। ललित विस्तर में ऐसी लगभग ८६ कलाओं का विवरण उपलब्ध होता है जिनकी शिक्षा सिद्धार्थ को दी गई थी। इनमें भी काम-शास्त्र की उक्त ६४ कलाओं के सदृश ६४ काम-कलाएँ गिनाई गई हैं। प्रबन्धकोश में ७२ कलाओं की सूची दी गई है। कादम्बरी में चन्द्रापीड़ की शिक्षा के प्रकरण में जिन कलाओं का उल्लेख किया गया है उनमें ज्योतिष-विज्ञान भी शामिल है।

इसी प्रकार प्राचीन भारतीय साहित्य में १४ विद्याओं का भी विवरण मिलता है तथा विद्याओं और कलाओं के भेद को सामान्यतः स्वीकार किया गया है। तदनुसार विद्याएँ ज्ञानात्मक हैं और कलाएँ क्रियात्मक। इसमें सन्देह नहीं कि एक ही विषय को---उदाहरणार्थ संगीत को---प्रकरणानुसार उसके सैद्धान्तिक पक्ष का निर्देश करने के लिए हम संगीत-विद्या भी कह सकते हैं और उसी के क्रियात्मक पक्ष का निर्देश करने के लिए उसे संगीत-कला भी कह सकते हैं; तथापि कला के बहुविध भेदों की सूचियों में छन्दोज्ञान और ज्योतिष-विज्ञान जैसे ज्ञानात्मक विषयों को स्थान देना एक आधुनिक समीक्षक को अधिक युक्ति-संगत नहीं प्रतीत होता।

आधुनिक विद्वान् कला को दो विभागों में विभक्त करते हैं। इनमें से एक का नाम उपयोगी कला है और दूसरे का ललित कला। उपयोगी

कला के उदाहरण बढ़ई, लुहार, कुम्हार, दर्जी आदि के व्यवसाय हैं—ललित कला में मूर्त्तिकला, चित्रकला और नृत्यकला आदि सम्मिलित हैं। उपयोगी कलाएँ हमारी भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करती हैं जैसे बढ़ईगीरी से हमें मेज, कुर्सी, पलंग, चौखट, किवाड़, अलमारी आदि नाना प्रकार की उपयोगी वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार दर्जीगीरी द्वारा सब प्रकार के सिले हुए वस्त्र और पाककला द्वारा विविध स्वादिष्ट और स्वास्थ्यकर भोजन उपलब्ध होते हैं। इसके विरुद्ध ललित कलाएँ हमारी किसी आध्यात्मिक आवश्यकता की पूर्त्ति करती हैं। मनुष्य के स्वभाव में सौन्दर्य-प्रेम प्रकृति द्वारा निहित है। ललित कलाएँ मनुष्य की इसी भावना की तृप्ति करती हैं। सृष्टि में जो रूप-सौन्दर्य है उसे चित्रकला तूलिका द्वारा कपड़े या कागज जैसे किसी अनुकूल आधार पर प्रदर्शित करके मनुष्य के आनन्द का साधन बनती है। इसी प्रकार संगीतकला स्वरों के क्रमबद्ध आरोह और अवरोह के द्वारा ध्वनिगत सौन्दर्य को अभिव्यक्त करती है। यदि उपयोगी कलाओं द्वारा हमें इस बात का ज्ञान होता है कि अमुक जाति ने सभ्यता के क्षेत्र में कहाँ तक उन्नति की है तो ललित कलाओं द्वारा हमें उसके सांस्कृतिक विकास का परिचय मिलता है। सभ्यता और संस्कृति मनुष्य के विकास ही के दो नाम हैं। सभ्यता का सम्बन्ध उसके आधिभौतिक विकास से है और संस्कृति का उसके आध्यात्मिक विकास से।

इसमें संदेह नहीं कि सभ्यता का स्थान भी काफी महत्त्वपूर्ण है किन्तु संस्कृति का स्थान उससे भी अधिक महत्व का है। कारण इसका यह है कि शरीर से मन का स्थान अधिक ऊँचा है और मन से आत्मा का। भौतिक जगत् का सम्बन्ध शरीर से है और आध्यात्मिक जगत् का मन और आत्मा से। शरीर से मन सूक्ष्म है और मन से सूक्ष्म आत्मा है। इसी कारण उपयोगी कलाओं का स्थान ललित कलाओं की अपेक्षा कम महत्त्व का है और उनके उत्कर्ष एवं अपकर्ष को समझ सकना भी ललित कलाओं के उत्कर्षापकर्ष की अपेक्षा अधिक आसान है।

ललित कलाएँ पाँच हैं जिनके नाम निम्नलिखित हैं:—

(१) मूर्त्तिकला,

(२) चित्रकला,

(३) नृत्यकला,

(४) संगीत-कला,

(५) काव्य-कला।

कुछ विचारक वास्तुकला को भी ललित कलाओं में सम्मिलित करने की चेष्टा करते हैं किन्तु हमने उपयोगी कलाओं और ललित कलाओं के भेद की जो कसौटी ऊपर प्रस्तुत की है उसके अनुसार वास्तुकला को उपयोगी कलाओं ही में रखना युक्ति-संगत होगा, क्योंकि यह भी अन्य उपयोगी कलाओं के समान गृह आदि के निर्माण द्वारा मुख्य रूप से हमारी एक भौतिक आवश्यकता की ही पूर्त्ति करती है न कि आध्यात्मिक आवश्यकता की। उपयोगी वस्तुएँ उपयोगी होने के अतिरिक्त सुन्दर भी हो सकती हैं—इस तथ्य से किसी को इनकार नहीं हो सकता। तदनुसार उदाहरणार्थ मकान भी सुन्दर बनाये जाते हैं और कपड़े सीने में भी इस बात का ध्यान रक्खा जाता है कि वे सुन्दर हों किन्तु इसके विपरीत चित्रकला में अथवा संगीतकला में इस बात का कोई विचार नहीं किया जाता कि चित्रों द्वारा मकान की आवश्यकता भी साथ-साथ पूरी हो सके अथवा संगीत द्वारा शरीराच्छादन की समस्या भी साथ-साथ हल हो सके। ये दोनों तो ललित कलाएँ हैं। इनका प्रादुर्भाव सौन्दर्योपासना द्वारा मनुष्य की उस वृत्ति का सन्तोष करने के लिए हुआ है जिसे सौन्दर्य-प्रेम कहते हैं। वास्तुकला, दर्जीगीरी तथा अन्य उपयोगी कलाओं में सौन्दर्य की भावना का समावेश पीछे का है और गौण है। उनका मुख्य ध्येय भौतिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति ही है। अतः उनकी 'उपयोगी कला' यह संज्ञा युक्त ही है और प्राचीन भाषा-शास्त्रियों के 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस सिद्धान्त पर आश्रित है जिसका अर्थ यह है कि वस्तुओं का नामकरण प्रधानता के अनुसार किया जाता है।

ऊपर गिनाई गई ललित कलाओं में सबसे उत्कृष्ट स्थान काव्यकला का है और सबसे अपकृष्ट मूर्त्तिकला का। कलाओं के आधार की मूर्त्तता का न्यूनाधिक होना उनके पारस्परिक उत्कर्ष और अपकर्ष की कसौटी है, अर्थात् जिस कला का आधार जितना कम मूर्त्त होगा वह उतनी ही अधिक उत्कृष्ट मानी जायगी एवं जिसका आधार जितना अधिक मूर्त्त होगा वह उतनी ही अधिक अपकृष्ट समझी जायगी।

निम्नलिखित तालिका के अध्ययन से ललित कलाओं के पारस्परिक तारतम्य के सम्बन्ध में कहे गये इस सिद्धान्त को समझने में पाठकों को सहायता मिलेगी :—

संख्या (उत्कर्ष के चढ़ते क्रम से)	ललित कला का नाम	ललित कला का आधार
१.	मूर्त्तिकला	पत्थर, धातु, मिट्टी, लकड़ी आदि
२.	चित्रकला	कागज, कपड़े आदि की भित्ति अथवा चित्रपट
३	नृत्तकला	गति
४.	संगीत-कला	नाद।
५.	काव्य-कला	शब्द-संकेत

(१) मूर्त्तिकला में पत्थर, धातु अथवा मिट्टी जैसे मूर्त्त द्रव्य को काट-छाँट कर अभीष्ट व्यक्ति के आकार को प्रकट रूप दे दिया जाता है। द्रव्य के परिमाण में काट-छाँट के कारण कुछ कमी अवश्य आ जाती है किन्तु द्रव्य की मूर्त्तता वैसी की वैसी बनी रहती है। तदनुसार काट-छाँट के बाद तैयार की गई मूर्त्ति के भी तीनों परिमाण—अर्थात् लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई—यथापूर्व अपनी सत्ता बनाये रखती हैं। इसी कारण मूर्त्तिकला का चित्रण बहुत सीमित है। इसमें वस्तु या व्यक्ति के प्रायः बाह्य स्वरूप का ही प्रदर्शन किया जा सकता है। मनोदशा का बहुत कम। इसके अतिरिक्त एक प्रस्तर-खण्ड द्वारा अनेक व्य

की मूर्त्तियाँ स्पष्टरूप में प्रस्तुत करना कठिन है और उनकी परिस्थिति का आभास देना तो मूर्त्तिकला के क्षेत्र के बाहर की बात हो जाती है। अतः मूर्त्तिकला का प्रभाव भी बहुत सीमित रूप में ही पड़ता है।

(२) चित्रकला का स्थान मूर्त्तिकला से ऊँचा है क्योंकि इसका आधार चित्रपट मूर्त्तिकला की अपेक्षा कम मूर्त्त है। इसमें लम्बाई और चौड़ाई—ये दो ही परिमाण रहते हैं। मोटाई यहाँ सच्चे अर्थ में लुप्त हो जाती है। उसका प्रदर्शन चित्रकार अपनी तूलिका या लेखनी द्वारा छाया डालकर करता है। समतल चित्रपट पर ही चित्रकार को वस्तु का भराव भी दिखलाना पड़ता है और उसका पोलापन भी। वह पर्वत की ऊँचाई भी दिखला सकता है और कुएँ की गहराई भी। वह एक व्यक्ति का भी प्रदर्शन कर सकता है और पचास हजार का भी। वह चित्रित व्यक्ति की बाह्य परिस्थिति का भी अंकन कर सकता है और किसी हद तक उसकी आन्तरिक मनोदशा का भी—और मूर्त्तिकला की अपेक्षा अधिक सफलतापूर्वक।

अतः चित्रकला का मूर्त्तिकला की अपेक्षा उत्कर्ष निःसन्देह अधिक है।

यहाँ चित्रपट शब्द पेंसिल तथा रंग आदि अन्य सभी ऐसे द्रव्यों का उपलक्षक है जिनसे चित्र अंकित किया जाता है।

(३) नृत्तकला को अविशेषज्ञ लोग प्रायः 'नृत्यकला' ऐसा कह और लिख दिया करते हैं किन्तु 'नृत्तकला' और 'नृत्यकला' दो भिन्न वस्तुएँ हैं।* विस्तार में न जाकर हम इस संक्षिप्त निबन्ध में इतना ही कहकर सन्तोष करेंगे कि 'नृत्तकला' वह वस्तु है जिसे साधारण भाषा में नाच कहते हैं। 'नृत्यकला' के लिए हम हिन्दी में 'मूक अभिनय' शब्द का व्यवहार किया करते हैं।

एक शब्द में नृत्तकला का आधार है गति। यहाँ यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि इस कला में आकर आधार की सूक्ष्मता का स्तर

*दे० धनञ्जय का दशरूपक १-९ (अन्यद् भावाश्रयं नृत्यं नृत्तं ताललयाश्रयम्।)

एकाएक बहुत ऊँचा उठ जाता है। यह याद रहे कि गति किसी पत्थर या कागज जैसे मूर्त्त पदार्थ का नाम नहीं प्रत्युत वस्तु के एक ऐसे अस्थायी धर्म का नाम है जिसे हम देख तो सकते हैं किन्तु जिसकी लम्बाई चौड़ाई आदि के विषय में हम लौकिक भाषा में निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते। नृत्तकला में नर्तक पैरों और हाथों आदि की गति द्वारा मनुष्य के मनोवेगों का प्रदर्शन करता है। वह अपने कौशल से नृत्तकला को हठात् मनुष्य के बाह्य शारीरिक चित्रण के क्षेत्र से निकालकर मानसिक चित्रण की उच्च भूमि पर लाकर बैठा देता है।

'नृत्त' अंगों की उस गति का नाम है जिसका नियन्त्रण ताल और लय करते हैं और जिसमें अभिनय नहीं रहता; अभिनय का सन्निवेश होने पर उसका नाम 'नृत्य' हो जाता है। हाथों के प्रहार-विशेष का नाम ताल है। ताल काल की उस अवधि का बोधक है जिसमें कोई स्वर-समूह गाया या बजाया जा सके। लय का सम्बन्ध गाने या बजाने की रफ्तार या वेग से है जो तीन प्रकार का होता है—द्रुत, मध्यम और विलम्बित। इस प्रकार अंगों की विशेषकर पैरों और हाथों की—क्रिया ताल और लय द्वारा नियन्त्रित होकर एक ऐसी संगीतात्मक गति की सृष्टि करती है जिसे हम नृत्तकला के नाम से पुकारते हैं।*

नृत्त दो प्रकार का होता है। गति के मधुर होने पर उसे लास्य कहते हैं और उसके उद्धत होने पर ताण्डव।

नृत्तकला का प्रभाव पूर्वोक्त मूर्त्तिकला और चित्रकला—दोनों की अपेक्षा अधिक गहरा होता है क्योंकि इनका आधार उनकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है और यह मनोवेग जैसी सूक्ष्म वस्तु का अभिव्यंञ्जन करती है।

*दे० धनञ्जय के दशरूपक पर धनिक की टीका :—

तालश्चञ्चत्पुटादिः, लयो द्रुतादिः, तन्मात्रापेक्षोऽङ्गविक्षेपोऽभिनयशून्यो नृत्तमिति।

किन्तु भारतीय नाट्य-शास्त्रियों के अनुसार नाटक आदि रूपकों में सिर्फ शोभा-वृद्धि के लिए नृत्त का उपयोग किया जाता है।

(४) संगीत कला का आसन पूर्वोक्त तीनों कलाओं से ऊँचा है। इसका आधार नाद है। इसकी अमूर्त्तता का इससे प्रबल प्रमाण और क्या हो सकता है कि जहाँ हम पूर्वोक्त तीनों कलाओं के सौन्दर्य का अनुभव, नेत्रेन्द्रिय द्वारा करते थे वहाँ संगीत कला के सौन्दर्य को देखने के लिए हमारी आँखें बेकार हो जाती हैं। यह कला आँख का विषय नहीं है। इसका आनन्द तो कानोंवाले ही ले सकते हैं। इसका कारण यह है कि इसका आधार 'नाद' कानों का विषय है। अतः नाद की अमूर्त्तता अर्थात् निराकारता सर्वथा निर्विवाद है। संगीतज्ञ निराकार सात स्वरों के उलट-फेर से श्रोता के कानों द्वारा उसके हृदय में पैठकर जिन-जिन रसों की सृष्टि करता है उनका क्या कोई लेखक कभी शब्दों द्वारा वर्णन कर सकता है? संगीत कला मनुष्य के रति, शोक, उत्साह और निर्वेद सदृश सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति इस प्रकार करती है कि चाहे कोई शास्त्रज्ञ हो या अशास्त्रज्ञ, नहीं नहीं—चाहे कोई मनुष्य हो अथवा पशु—प्राणिमात्र सभी समानरूप से इसकी मोहिनी शक्ति द्वारा वशीभूत हो जाते हैं। इसके प्रभाव से साक्षात् काल-रूप काला नाग भी अपनी प्रकृति-सिद्ध हिंसा की भावना को छोड़कर मन्त्रमुग्ध हो झूमने लगता है। मनुष्य के सांस्कृतिक विकास के इतिहास में काव्यकला को छोड़कर एक साथ इतना गहरा और व्यापक प्रभाव उत्पन्न करनेवाली दूसरी कला का आविष्कार आज तक नहीं हो सका है।

(५) काव्यकला का स्थान सब ललित कलाओं में श्रेष्ठ है। इसका आधार है शब्द-संकेत। शब्द-संकेत का अर्थ है शब्दात्मक चिह्न। किसी शब्द का उच्चारण करने पर उसके अर्थ का बोध होता है। 'घट' कहने पर हमारे सामने साक्षात् घड़ा आकर उपस्थित नहीं होता प्रत्युत उसका एक चित्र मस्तिष्क में उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार ये शब्दचिह्न

मनुष्य के व्यवहार में उन-उन पदार्थों का प्रतिनिधित्व करने लगते हैं

जो कि घट, पट आदि शब्दों के वाच्य अर्थ हैं। तदनुसार भौतिक घट मानसिक घट के रूप में उपस्थित होता है। दूसरी ओर 'घट' शब्द जब हमारे सामने लिखित रूप में आता है तब वह उच्चारित 'घट' का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार जब हम कहते हैं कि काव्य-कला का मूर्त्त आधार शब्द-संकेत है तब हमारा तात्पर्य घट पटादि उन सार्थक ध्वनियों से होता है जिन्हें समाज ने उन-उन भाव-चित्रों के प्रतिनिधि के रूप में व्यवहार के लिए स्वीकार कर लिया है।

ये लिखित या उच्चारित ध्वनियाँ मूर्त्त अर्थात् साकार नहीं हैं क्योंकि लिपिबद्ध ध्वनियाँ तो उच्चारित ध्वनियों के संकेत मात्र हैं और उच्चारित ध्वनियाँ आँखों का विषय नहीं। प्रत्येक शब्द-संकेत में दो तत्त्व रहते हैं--(१) ध्वनितत्त्व और (२) अर्थतत्त्व। इनमें से प्रथम तत्त्व तो श्रोत्रेन्द्रिय-ग्राह्य है और द्वितीय बुद्धि-ग्राह्य। अतः शब्द-संकेतों की अमूर्त्तता उभयथा निर्विवाद है। इतना ही नहीं, उत्तम कोटि के काव्यों में प्रधानता अर्थ-सौन्दर्य की होती है। जिन काव्यों में शब्द-सौन्दर्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता उन्हें आचार्य काव्यों की अधम कोटि में रखते हैं। अतः अधम कोटि के काव्यों को छोड़कर काव्य-कला का आधार चक्षुरिन्द्रिय-ग्राह्य नहीं होता इतना ही नहीं--क्योंकि यह विशेषता तो संगीतकला में भी रहती है--प्रत्युत किसी भी स्थूल इन्द्रिय का विषय नहीं होता फिर चाहे वह श्रोत्रेन्द्रिय हो अथवा कोई भी अन्य इन्द्रिय। वह तो केवल मानस प्रत्यक्ष का गोचर होता है। इस प्रकार यदि काव्यकला का प्रभाव इतर ललित कलाओं की अपेक्षा सबसे गहरा, स्थायी और व्यापक हो तो यह स्वाभाविक ही है। यदि 'नमक का दारोगा' जैसी कहानियाँ और 'जागृति' जैसी फिल्में, 'शकुन्तला' जैसे नाटक और 'रामचरित-मानस' जैसे प्रबन्ध-काव्य मनुष्य को राक्षसत्व के निम्नतम धरातल से ऊपर उठाकर देवत्व के पद तक पहुँचा सकें तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

इस प्रकार ललित कलाएँ आधार...

हो जाती हैं। जिन उपकरणों द्वारा इन ललित कलाओं का द्रष्टा के मन के साथ सम्पर्क स्थापित होता है वे चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय हैं। प्रथम तीन में--अर्थात् मूर्त्तिकला, चित्रकला और नृत्त-कला में--द्रष्टा सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा करता है और पिछली दो में--अर्थात् संगीत-कला एवं काव्य-कला में--वही कार्य श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा सम्पन्न होता है।

इस दृष्टि से उक्त पाँचों ललित कलाओं को हम दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं।

प्रथम वर्ग---जिसमें ललित कलाएँ नेत्रेन्द्रिय की मध्यस्थता द्वारा द्रष्टा के मन के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करती हैं।

द्वितीय वर्ग---जिसमें श्रोत्रेन्द्रिय उक्त मध्यस्थता का कार्य सम्पन्न करती ह।

जो तत्त्व इन पाँचों ललित कलाओं के मूल में सामान्य रूप से निहित है उसका नाम अनुकरण-तत्त्व है। मनुष्य की प्रकृति ही कुछ इस प्रकार की है कि उसे अनुकरण में अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है। वास्तव में लँगड़ा होना दोष है। कोई व्यक्ति नहीं चाहता कि मैं लँगड़ा हो जाऊँ, किन्तु जब कोई स्वस्थ टाँगोंवाला दूसरे की नकल में लँगड़ाकर चलता है तब उसे देखकर गम्भीर से गम्भीर प्रकृति का व्यक्ति भी खिलखिला कर हँस पड़ता है और एक विचित्र आनन्द का अनुभव करता है। अनुकरण के द्वारा लौकिक वस्तु अलौकिक बन जाती है। वह लोक की परिधि से निकलकर कला की वस्तु बन जाती है। इस अनुकरण के कारण दोष भी आकर्षक बन जाते हैं। जो अनुभव लोक में दुःख और घृणा उत्पन्न करते हैं, वे अनुकरण के बल पर सभी सुखोत्पादक हो जाते हैं। यही कारण है कि यद्यपि लोक में शोक और जुगुप्सा जैसे भाव प्रतिकूलवेदनीय होते हैं तथापि उनसे उत्पन्न होनेवाले करुण और वीभत्स सदृश काव्य-रस अन्य रसों के समान ही ब्रह्मानन्द सहोदर बन जाते हैं। अनुकरण जितना पूर्ण होगा तज्जन्य आनन्द भी उतना ही सजीव और अखण्ड होगा।

संसार की सब ललित कलाएँ इसी के द्वारा सौन्दर्य का अनुभव कराकर मनुष्य की मानसिक तृप्ति करती हैं। उनमें से प्रत्येक अपने-अपने आधार और उपकरण की सीमाओं में रहकर अपने-अपने ढंग से उक्त उद्देश्य की पूर्त्ति करती है।

—ईश्वरदत्त

12.8.5

उपन्यास

हिन्दी-उपन्यास

हिन्दी-उपन्यास का इतिहास, किसी भी देश के उपन्यास के इतिहास की तरह, हिन्दी-भाषी क्षेत्र की सभ्यता और संस्कृति के नवीन रूप के विकास का साहित्यिक प्रतिफलन है। समृद्धि और ऐश्वर्य की सभ्यता महाकाव्य में अभिव्यंजना पाती है, जटिलता, वैषम्य और संघर्ष की सभ्यता उपन्यास में। हिन्दी-उपन्यास के लिए जैसे जैसे कच्चा माल तैयार होता गया वैसे-वैसे पश्चिम की तथा-कथित भौतिक सभ्यता हमारी वाणी और वेश-भूषा को ही नहीं प्रत्युत् हमारी दृष्टि और चेतना को भी आक्रान्त करने में सफल होती गई। हमारे उपन्यास यदि आज पश्चिमी उपन्यासों के समकक्ष सिद्ध नहीं होते तो मुख्यतः इसलिए कि हमारी वर्तमान सभ्यता अपेक्षया आज भी कम जटिल, कम उलझी हुई और कहीं ज्यादा सीधी-सादी है।

उपन्यास सर्वत्र ही साहित्य का उपेक्षित अंग रहा है। उद्देश्य की दृष्टि से वह मात्र मनोरंजन का साधन बनकर रह जाता था। साहित्यिक उत्कर्ष के लिए उसे 'गद्य-काव्य' बनकर उन गुणों से मण्डित होना पड़ता था जो वस्तुतः काव्य के हैं। कथा सरित्सागर, अलिफ लैला, डिंका मेरन मनोरंजन के साधन-मात्र थे; हर्षचरित या कादम्बरी की विशेषता यह है कि उनमें वे गुण हैं जो संस्कृत-काव्य के लिए शोभाकर होते हैं। शताब्दियों की प्रतीक्षा के बाद साहित्य का यह अन्त्यज अपनी छिपी सम्भावनाओं को लेकर अपनी सामर्थ्य का परिचय दे सका है और अब तो आभिजात्य का भी दावा कर सकता है। देवकीनन्दन खत्री से लेकर 'अज्ञेय' तक के हिन्दी-उपन्यास का इतिहास एक सामान्य तथ्य का दृष्टान्त है।

उपन्यास आज भी गल्प (Fiction) की व्यापक श्रेणी में रखा जाता है, किन्तु आज वह नाम को ही गल्प रह गया है। जब तक उपन्यास गल्प-मात्र था तब तक उसका मुख्य-उद्देश्य मनोरंजन और गौण उपदेश रहता था। आज गल्प, गल्प नाम के बावजूद, सत्य और केवल सत्य की, नाना दृष्टियों से गृहीत और अनेकानेक पद्धतियों से अंकित चित्र-शृंखला बन चुकी है। आज भी गल्प की एक शाखा गल्प बनी हुई है और मनोरंजन का लोकप्रिय साधन है, उदाहरण के लिए जासूसी-उपन्यास, किन्तु इस विवेचन में उसे ध्यान में नहीं रखा गया है। हिन्दी-उपन्यास की छोटी अवधि में भी अँगरेजी या फ्रेंच भाषा के उपन्यास के विस्तीर्ण इतिहास की विकास-प्रक्रियाओं की संक्षिप्त परन्तु पूर्ण रूप-रेखा वर्तमान है। गल्प किस तरह सत्य बन गया यह हिन्दी में थोड़े में ही देखने को मिल जाता है।

हिन्दी-उपन्यास के स्वल्प-परिसर इतिहास के अध्ययन के लिए काल-विभाजनों को, जिन्हें साहित्यिक इतिहासकारों ने 'उत्थान'[१] की संज्ञा दी है, मैं निष्प्रयोजन पाता हूँ। इसी प्रकार उपन्यासकारों के नामानुसार विभिन्न 'स्कूलों' और साहित्यिक व्यक्तित्व के आधार पर पुकारे जानेवाले युगों को भी अपने उद्देश्य के लिए, मैं महत्त्वरहित विभाजक चिह्न-मात्र मानता हूँ। हिन्दी-उपन्यास के विकास की सीमा-रेखाएँ उसके भीतर ही मिलती हैं, हालाँकि उन्हें सावधानी के साथ पहचानने और साफ करने की चेष्टा नहीं हुई है।

ये सीमा-रेखाएँ अधिक नहीं हैं, मुख्यतया केवल दो ही हैं, और दोनों ही केवल एक ही उपन्यासकार में निहित हैं। अवश्य वह उपन्यासकार प्रेमचन्द ह।

'गोदान' के पहले तक के प्रेमचन्द हिन्दी-उपन्यास के अतीत की चरम परिणति के पथ-चिह्न हैं। 'गोदान' के रचयिता प्रेमचन्द ही हिन्दी के

---

१. शुक्ल जी

वर्तमान और भविष्य के निर्देशक हैं। प्रेमचंद उस शिखर के समान हैं जिसके दोनों ओर पर्वत के दो भागों के उतार-चढ़ाव हैं। हमें पर्वत के दोनों भागों और उसके शिखर को, दूर से और समीप से, अवलोकन का प्रयास करना है।

हिन्दी में उपन्यास-रचना का प्रारम्भ हुआ तो उसका सम्बन्ध प्राचीन औपन्यासिक परम्परा से नाम-मात्र का भी नहीं था। इस दृष्टि से हिन्दी-उपन्यास की स्थिति हिन्दी काव्य से सर्वथा भिन्न है। संस्कृत के प्राचीनतम काव्य से लेकर अधुनातन हिन्दी-काव्य की परम्परा अविच्छिन्न है, किन्तु हिन्दी का उपन्यास साहित्य का वह पौधा था, जिसे अगर सीधे पच्छिम से नहीं लिया गया हो तो उसका बँगला कलम तो लिया ही गया था, न कि सुबन्धु, दण्डी और वाण की लुप्त परम्परा पुनरुज्जीवित की गई थी।

इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि हिन्दी-उपन्यास अपने पैरों पर खड़ा होने के पहले घुटनों के बल भी काफी दिनों तक चलता रहा था। अपने इन आरम्भिक दिनों में उपन्यास मुख्यतः मनोरंजन का साधन था, यद्यपि वह नीति और उपदेश का स्वाँग भी भरता था। जिस जमाने में हिन्दी का उपन्यास ही नहीं, हिन्दी का पाठक भी, शैशवावस्था में था तो देवकीनन्दन खत्री के औपन्यासिक खिलौने मनोरंजन के परम लोकप्रिय साधन थे, किन्तु उन्हें उनके निर्माता ने नीतिवादी आलोचकों का मुँह बन्द करने के लिए, उपदेशप्रद भी सिद्ध कर दिखाया था।[१] उपन्यास के उद्देश्य के सम्बन्ध में इस दृष्टिकोण का वास्तविक रूप कुछ बाद के एक उपन्यास के विज्ञापन की इन पंक्तियों में देखा जा सकता है.... "इनमें मनोरंजन के अलावा उत्तम शिक्षा की भी पूर्ण मात्रा है। कोई परिच्छेद ऐसा नहीं जिसके पढ़ने से कोई न कोई

---

१. देवकीनन्दन खत्री के पत्र का एक लम्बा अंश डॉ० वार्ष्णेय की पुस्तक में उद्धृत है।

उत्तम शिक्षा न मिलती हो।"[१] समासतः देवकीनन्दन खत्री के ऐयारी या तिलस्मवाले उपन्यास[२] हों या किशोरीलाल गोस्वामी के एतादृश अथवा ऐतिहासिक—रूमानी उपन्यास[३] या गोपालराम गहमरी के जासूसी उपन्यास,[४] सभी उपन्यास का अल्प नाम सार्थक करते थे।

किन्तु साहित्य का यह रूप जन्मना निम्न श्रेणी का होने पर भी कितना महत्त्वाकांक्षी था, यह इसी से पता चलता है कि जब वह मनोरंजन का साधन बनकर लोकप्रिय हो रहा था, तभी वह सामाजिक जीवन के सत्य का वाहक बन सकने के लिए भी प्रयास कर रहा था, यद्यपि उसे पूर्णतः कृतकार्य होने के लिए तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ी जब तक प्रेमचन्द ने उसका अछूतोद्धार नहीं कर दिया। प्रेमचन्द के पूर्व श्रीनिवासदास, बालकृष्ण भट्ट और राधाकृष्ण दास ने उपन्यास को मनोरंजन के स्तर से ऊपर जरूर उठाया था, किन्तु उन्होंने प्रेमचन्द को प्रत्याशित या प्रभावित किया था,[५] यह उद्‌भावन निराधार है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में हिन्दी-उपन्यास की ये दोनों धाराएँ सहसा एक होकर अतिशय महत्त्वपूर्ण बन जाती हैं। प्रेमचन्द के उपन्यास आपाततः मनोरंजन के साधन भी हैं और सत्य के वाहक भी। स्वयं प्रेमचंद के उपन्यासों में भी 'गोदान' इसका अपवाद है—वह मात्र सत्य का वाहक है।

---

१. गया से प्रकाशित होनेवाली 'लक्ष्मी' नामक मासिक पत्रिका के जनवरी १९१७ के अंक में लाला भगवानदीन के उपन्यास 'अटल घटना' के विज्ञापन से। 'हिन्दी पुस्तक साहित्य' में इस उपन्यास का उल्लेख नहीं है।

२. उपन्यासों के नाम 'हिन्दी पुस्तक-साहित्य' में देखे जा सकते हैं। वार्ष्णेय की पुस्तक में तथा उपन्यास-सम्बन्धी दूसरी पुस्तकों में, कुछ ब्यौरे मिलते हैं, आलोचना नगण्य है।

३. उपरिवत्।

४. उपरिवत्।

५. रामविलास शर्मा, 'भारतेन्दु-युग' में।

प्रेमचन्द में हिन्दी-उपन्यास की क्षीण और लक्ष्यहीन धाराएँ सम्मलित होकर महानद बनीं और उनके जीवन-काल में ही वे अनेक मन्द-तीव्र धाराओं में विभक्त भी हो गईं। मुख्य धारा से हटकर स्वयं प्रेमचन्द भी एक सर्वथा नवीन दिशा की ओर मुड़े थे। यह उनका सबसे महत्त्व-पूर्ण, मौलिक और महान् प्रयास था, लेकिन इसके लिए ऐसे व्यापक अनुभव, मानवीयता और स्थापत्य-कौशल की जरूरत थी कि इसमें प्रेमचन्द अकेले ही रह गये; उनके इस प्रयोग का अनुकरण उस तरह अनगिनत उपन्यासकारों ने नहीं किया जिस तरह उनके पूर्ववर्ती उपन्यासों का किया था। 'गोदान' हिन्दी की ही नहीं स्वयं प्रेमचन्द की भी एक अकेली औपन्यासिक कृति है, जिसके उच्चावच, विराट् विस्तार, निर्मम, तटस्थ यथार्थता और सरलता की पराकाष्ठा तक पहुँचकर अत्यन्त विशिष्ट बन गई शैली एक भारतीय उपन्यास में एकत्र नहीं मिलती।

हिन्दी के आलोचकों ने एक स्वर से [१] 'गोदान' की यह आलोचना की है कि उसकी कथावस्तु असम्बद्ध है। वस्तुतः यही 'गोदान' के

---

१. (क) "केवल निर्माण की दृष्टि से स्वयं प्रेमचन्द 'सेवा सदन' को फिर न पा सके।"
—रामविलास शर्मा

(ख) " 'गोदान' का कथानक किसान-महाजन-संघर्ष को लेकर रचा गया है, उच्च वर्ग केवल चरित्र की पूर्णता के लिए है।"

(ग) " 'गोदान' ग्रामीण जीवन का चित्र है।"
—प्रकाशचन्द्र गुप्त

(घ) "इस उपन्यास का बृहत् शरीर जिस देहाती जीवन के मेरुदण्ड पर खड़ा है उसकी प्रचुरता और विदग्धता को देखते हुए इतर प्रसंग 'क्षेपक' से लगते हैं, इन क्षेपकों के कारण ही उपन्यास स्थूलकाय हो गया है।"
—शान्तिप्रिय द्विवेदी

(ङ) " 'गोदान' में गाँव के चित्र अधिकारी (आधिकारिक) रूप से तथा शहर के चित्र प्रासंगिक रूप से आये हैं।"
—गुलाबराय

स्थापत्य की वह विशेषता है जिसके कारण उसमें महाकाव्यात्मक गरिमा आ जाती है। नदी के दो तट असम्बद्ध दीखते हैं पर वे वस्तुतः असम्बद्ध नहीं रहते--उन्हीं के बीच से जल-धारा बहती है। इसी तरह 'गोदान' की असम्बद्ध-सी दीख पड़नेवाली दोनों कहानियों के बीच से भारतीय जीवन की विशाल धारा बहती चली जाती है।

भारतीय जन-जीवन का, जो एक ओर तो नागरिक है और दूसरी ओर ग्रामीण, और जो एक साथ ही अत्यन्त प्राचीन भी है और जागरण के लिए छटपटा भी रहा है, इतने बड़े पैमाने पर इतना यथार्थ चित्रण हिन्दी में ही क्यों, किसी भी भारतीय भाषा के किसी उपन्यास में नहीं हुआ है। यदि 'गोदान' का स्थापत्य कृत्रिम रूप से सुसंघटित रहता तो अवश्य ही वह भारतीय जीवन के वैविध्य और आँखों के सामने चलनेवाली, अतः अस्पष्ट, परिवर्तन की प्रतिक्रियाओं की व्यस्तता का चित्रागार नहीं बन पाता। बहुत पहले (प्रेमाश्रम) में, फिर 'रंगभूमि' में प्रेमचन्द ने इन प्रक्रियाओं को पकड़ने की कोशिश की थी किन्तु तब वे पात्रों के विलक्षण व्यक्तित्व के चित्रण और स्थापत्य के कृत्रिम बन्धन के अतिक्रमण की सामर्थ्य अपने में विकसित नहीं कर सके थे। 'गोदान' में अपने 'प्रौढ़ि-प्रकर्ष' के कारण प्रेमचन्द ने 'पुराण-रीति' का 'व्यतिक्रम' किया और हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए यदि हिन्दी के रूढ़िवादी विद्वान् इसे उनकी असफलता मान बैठे।

प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती और समसामयिक उपन्यासकारों के लिए ही नहीं, स्वयं प्रेमचन्द के लिए भी, भाषा दुर्लंघ्य विघ्न-पाषाण सिद्ध होती रही। इस सम्पूर्ण अवधि के हिन्दी-उपन्यासकार अँगरेजी गद्य की बारीकियों को समझ सकने में असमर्थ थे, क्योंकि उनका अँगरेजी का ज्ञान अत्यन्त अल्प और अधिकतर नहीं के बराबर था। जिस प्रतिवेशी भाषा, बँगला के उपन्यासों से हिन्दी के लेखक उपन्यास-रचना की प्रत्यक्ष प्रेरणा पाते थे और ज्यादा तो उसके उपन्यासों के अनुवाद ही कर जाते थे, स्वयं

उसका गद्य भी अनुकरणीय आदर्श नहीं उपस्थित करता था। उस पर भी

संस्कृत गद्य का वह प्रभाव था जिसका मोह हिन्दी के लेखकों को छोड़ देना आवश्यक भी था पर जिसकी ओर उनकी ललचाई आँखें दौड़ ही पड़ती थीं। श्रीनिवासदास प्रभृति, लेखक, जो उपन्यास को साहित्य के सार्थक और गम्भीर रूप की दृष्टि से ग्रहण करते थे, नाटक के कल्याणकर प्रभाव के परिणामस्वरूप उपन्यासों में भी स्वाभाविक भाषा में कथोप-कथन प्रस्तुत करते थे, किन्तु अपनी ओर से वर्णन करने का अवसर मिला नहीं कि उनका गद्य, संस्कृत के गद्य-काव्य की विडम्बना करने लग जाता था। किशोरीलाल गोस्वामी-जैसे पाठकों के मनोरंजनार्थ लिखनेवाले उपन्यासकार में भी हम भाषा-सम्बन्धी यह भ्रान्त दृष्टिकोण पाते हैं।[१] यदि अपवाद हैं तो देवकीनन्दन खत्री, जो निष्प्राण पर निराडम्बर गद्य लिखते थे और निस्सन्देह इसी लिए हर-दिल-अजीज बन सके थे। बाद के बहुतेरे ऐयारी और तिलस्मवाले उपन्यासों में भी लच्छेदार भाषा मिलती है। देवकीनन्दन खत्री की लोकप्रियता और सफलता की चाह रखनेवाले लेखक यह नहीं समझते थे कि खत्रीजी का रहस्य सुरंग और लखलखा नहीं था बल्कि भाषा की वह सादगी थी जो अमोघ सिद्ध होती थी। प्रेमचन्द ने, जिन्होंने अपने समय के असंख्य युवकों की तरह देवकीनन्दन खत्री की पुस्तकें चाव से पढ़ी थीं, भाषा की इस सादगी को शैली की विशिष्टता में रूपान्तरित और उन्नत किया था। यह प्रेमचन्द के लिए तब सम्भव हुआ जब उन्होंने उर्दू-गद्य का आकर्षक दोष, जबानदराजी का मोह, कठिनता से, पर कठोरतापूर्वक, धीरे-धीरे बिलकुल छोड़ दिया। 'गोदान' में प्रेमचन्द की शैली उर्दू-गद्य की अलं-कारिकता के निर्मोक से सर्वथा मुक्त हो गई है। 'गोदान' की महानता का, स्थापत्य कौशल के अतिरिक्त, शैली मुख्य कारण है——वह शैली जिसकी ओर

---

१. बाद तक हिन्दी-उपन्यास में गद्य का यह रूप देखने को मिलता रहता है——'प्रसाद' और 'निराला' में, अपने प्रकृष्ट रूप में और चण्डीप्रसाद हृदयेश एवं किशोर शिवानी में अन्तिम साँस लेता हुआ।

ध्यान भी नहीं जाता, यहाँ तक कि विद्वानों ने उसका उल्लेख भी अनावश्यक समझा है, यों भाषा की सादगी के नाम पर चलते-चलाते प्रशंसा के कुछ शब्द भले कह दिये हों।

प्रेमचन्द के समसामयिक सुदर्शन भी प्रेमचन्द की तरह उर्दू से हिन्दी में आये थे। उन्हें और 'कौशिक' को निरपवाद रूप से 'प्रेमचन्द-स्कूल' के लेखकों के रूप में स्मरण किया जाता है।[१] ये वस्तुतः प्रेमचन्द की तरह मुहावरेदार, चलती, सरल और टकसाली भाषा लिखते थे, पर इनकी भाषा के ये गुण विशिष्ट शैली-स्तर पर कभी नहीं पहुँच सके। फलतः प्रमचन्द के साथ इन गल्पकारों की तुलना ऊपर से दीख पड़नेवाली समानता के आधार पर ही की जा सकती है।

प्रेमचन्द के समकालीनों में इनसे कहीं अधिक उल्लेखनीय हैं—जयशंकर 'प्रसाद'[२] और बेचन शर्मा 'उग्र', जिनके 'स्कूलों' की भी चर्चा हिन्दी के साहित्यिक इतिहास की पाठ्य-पुस्तकों में अवश्य कर दी जातीः है। ये दोनों ही उपन्यासकार विरोधाभास के विलक्षण दृष्टान्त हैं' काव्य और नाटक में परम आदर्शवादी बने रहनेवाले 'प्रसाद' 'कंकाल में घोर प्रकृतिवादी का रूप ग्रहण कर लेते हैं और सुधार की भावना से लिखने की प्रतिज्ञा करनेवाले 'उग्र' वर्जित विषयों पर लिखकर 'घासलेटी',[३] अर्थात् तथाकथित अश्लील साहित्य के रचयिता के रूप में पाठकों के प्रिय और सम्पादकों के कोप-भाजन बनते हैं। इन दोनों

---

१. सुदर्शन ने केवल कहानियाँ लिखी थीं; कौशिक भी कहानीकार के रूप में ही प्रसिद्ध थे यद्यपि 'माँ' तथा 'भिखारिणी' नामक उनके दो उपन्यास भी हैं। 'भिखारिणी' 'हिन्दी पुस्तक-साहित्य' में कहानी के अन्तर्गत निर्दिष्ट है किन्तु यह गलत है, वह उपन्यास ह न कि कहानी-संग्रह।

२. 'प्रसाद' के 'तितली' और 'इरावती' नामक उपन्यास सर्वथा महत्त्व-रहित हैं। उन्हें केवल 'कंकाल' के कारण ही उपन्यासकार के रूप में स्मरण किया जा सकता है।

३. घासलेटी साहित्य का प्रयोग अश्लील साहित्य के अर्थ में, कदाचित् 'उग्र' के बारे में ही सर्वप्रथम किया गया था। इस शब्द के निर्माण

उपन्यासकारों ने जीवन के सत्यों को उद्घाटित करने का निर्भीक साहस दिखाया था---प्रथम ने सत्य का श्वासावरोध करनेवाली फीलपाँवी भाषा में और दूसरे ने पर्चेबाज के 'जोश'[१] के साथ। इनके विषय की यथार्थता इनकी भाषा की अयथार्थता के कारण मारी जाती है और उपन्यासकार के रूप में ये उस महत्त्व के अधिकारी नहीं बन सके जिसके आसानी से बन सकते थे।

'प्रसाद' अपनी अलंकृत शैली के कारण बाद की पीढ़ी के उपन्यासकारों के द्वारा अनुकृत नहीं हुए, यद्यपि यथार्थवाद, मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद और साम्यवादी यथार्थवाद की द्विविध धाराओं में विकसित हुआ। 'उग्र' की नाटकीय शैली का असफल अनुकरण कोक-साहित्य के कुछ लेखकों ने किया, किन्तु उनमें न तो उनके आदर्श लेखक की सोद्देश्यता थी, न मर्मभेदी दृष्टि, जिनसे शैली की कृत्रिमता या विषय की तथाकथित अश्लीलता अंशतः क्षम्य हो जाती है।

प्रेमचन्द के 'गोदान' का अनुकरण असम्भव-प्राय कार्य था और वह हुआ भी नहीं। किन्तु उसके पूर्व के प्रेमचन्द का खूब ही अनुकरण हुआ। हिन्दी के कुछ महत्त्वपूर्ण और अधिकतर साधारण उपन्यासकारों के लिए प्रेमचन्द ने एक सुगम मार्ग उद्घाटित कर दिया था। 'देहाती दुनिया' के लेखक शिवपूजन सहाय ऐसे उपन्यासकारों में श्रेष्ठ हैं। राधिकारमण

का श्रेय, जहाँ तक मेरा अनुमान है, बनारसीदास चतुर्वेदी को है। शब्द भोंडा और ग्राम्य है पर थोड़े दिनों तक उसने सनसनी खूब फैलाई थी। प्रस्तुत लेखक के निबन्ध-संग्रह 'दृष्टिकोण' में साहित्य में अश्लीलता और ग्राम्यता पर सामान्य रूप से और 'उग्र' पर विशेष रूप से विवेचन किया गया है।

१. 'उग्र' ने अपने बहुत बाद के एक निबन्ध में, जो प्रयाग से प्रकाशित होनेवाले 'कर्मयोगी' में छपा था, 'जोश' को साहित्य का बहुत बड़ा गुण सिद्ध किया था। 'जोश' इस प्रसंग में उन्हीं का शब्द है, उसकी महिमा अवश्य नहीं मानी गई है।

प्रसाद सिंह, चतुरसेन शास्त्री, प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त', अनूपलाल मण्डल और भगवतीचरण वर्मा भी इस श्रेणी में परिगणनीय हैं।

हमने हिन्दी-उपन्यास-साहित्य को चढ़ाव के पार कर लिया है और उसके शिखर 'गोदान' को तनिक ठहरकर, ध्यान के साथ, देखने में समय लगाया है। शिखर के इस पार का देश हमारे लिए इतना परिचित, इतना समीप है कि हम उसकी बहुत-सी बातों को देख भी लेते हैं तो सम्यक् पर्यवस्थिति के अभाव में समझ नहीं पाते। पर इतना तो है ही कि यहाँ रेत है तो हरियाली की भी कमी नहीं है, गड्ढे और दलदल हैं तो छोटी-मोटी चोटियाँ भी जरूर हैं।

१९३६ में प्रेमचन्द का 'गोदान' प्रकाशित हुआ था;[१] १९३६ में ही जैनेन्द्र की 'सुनीता' प्रकाशित हुई थी। प्रेमचन्द ने अपने दशाधिक उपन्यासों की उपलब्धि को एक ओर रखकर 'गोदान' में व्यापक से व्यापकतम भारतीय जीवन को विषय के रूप में आकलित किया। जैनेन्द्र ने प्रेमचन्द की, और अगर प्रेमचन्द की नहीं तो समस्त हिन्दी-उपन्यास-साहित्य की, उपलब्धि का प्रत्याख्यान करने का मौलिकतापूर्ण साहस दिखाया और 'गोदान' के रचयिता प्रेमचंद से उन्हें सबसे अधिक प्रश्रय और प्रोत्साहन मिला। जैनेन्द्र ने गाँव, खेत, खुली हवा और सामाजिक जीवन के विस्तारों को छोड़कर शहर की गली और कोठरी की सभ्यता को, व्यक्ति के आभ्यन्तर जीवन की गुत्थियों और गहराइयों को, और भी पहले से अपने उपन्यासों का विषय बनाना शुरू कर दिया था। 'सुनीता' में उपन्यासकार मरजीवा ने सबसे गहरी डुबकी लगाई थी। पश्चिम के मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों की किंवदन्ती सुन रखने-

---

१. प्रकाशन-काल-सम्बन्धी ऐसी समस्त सूचनाओं के लिए, मेरे पास सुलभ आकर-ग्रंथ है 'हिन्दी-पुस्तक-साहित्य'। यदि उसमें छोटी-मोटी भूलें भी हों तो उनसे वैसी कोई हानि नहीं होगी, क्योंकि मैं अपने [illegible] कृतियों के [illegible] के लिए ही प्रयास कर रहा हूँ। विवरण तो बहुत कम ही दे पाया हूँ।

वाले हिन्दी के आलोचकों ने जैनेन्द्र के उपन्यासों पर फ्रायड का प्रभाव घोषित कर अपनी पण्डितम्मन्यता को सन्तुष्ट किया; स्वयं जैनेन्द्र ने ईमानदारी का परिचय देते हुए सदैव इस आरोपित प्रभाव को अस्वीकार किया। सत्य भी यही है कि व्यक्ति-केन्द्रित होने पर भी जैनेन्द्र के उपन्यासों में मनोविश्लेषण की प्रणाली की छाया भी नहीं है। जैनेन्द्र में, वस्तुतः हिन्दी ने एक शरच्चन्द्र के अभाव की पूर्ति पा ली। हिन्दी-भाषी क्षेत्र के पिपठित्सु पाठक उन दिनों राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों के कारण और अपनी सांस्कृतिक एवं बौद्धिक वयःसन्धि के फलस्वरूप, अपरिणत, कुण्ठाग्रस्त और भावुकता के शिकार थे। प्रेमचन्द ने शरच्चन्द्र की तरह स्त्रैण भाव को अपनाने में अपनी अरुचि कबूल की थी।[१] कुछ छायावादियों ने, विशेष रूप से गौण छायावादियों ने, काव्य के माध्यम से शरच्चन्द्र की अश्रु-पंकिल भावुकता का समावेश हिन्दी में किया था, पर वह अपर्याप्त सिद्ध हुआ था। उनकी अव्याख्येय पीड़ा की तुलना में जैनेन्द्र के आत्म-पीड़न सुख के लोभी पात्रों की कारुणिकता खूब ही लोकप्रिय हुई। फिर भी यह उल्लेखनीय है कि इस फन के उस्ताद शरच्चन्द्र की अनूदित पुस्तकें इस जमाने में जितनी संख्या में बिकीं उसकी तुलना में जैनेन्द्र की भी लोकप्रियता नगण्य थी।

यदि जैनेन्द्र ने 'परख' या 'त्यागपत्र' आदि उपन्यास ही लिखे होते, और सुनीता नहीं लिखी होती, तो वे शरच्चन्द्र की छायामात्र बनकर रह जाते। किन्तु जिस तरह 'गोदान' लिखकर प्रेमचन्द अपने दूसरे उपन्यासों की औसत से अच्छी साधारणता से बहुत ऊपर उठ सके थे, उसी तरह जैनेन्द्र 'सुनीता' के लेखक के रूप में शरच्चन्द्र की छाया से अधिक महत्त्व के अधिकारी बन जाते हैं। सुनीता की नग्नता को कम मानकर यशपाल ने 'दादा कामरेड' लिखा था और शायद उसे ही चुनौती

---

१. प्रेमचन्द ने अपने एक निबन्ध में इसका स्पष्टता के साथ निर्देश किया है। द्रष्टव्य—प्रेमचन्द : कुछ विचार।

मानकर द्वारिकाप्रसाद ने, हाल में, 'घेरे के बाहर' लिख डाला है। किन्तु नग्न सुनीता की प्रतिमा गढ़ने में जैनेन्द्र ने जैसा तरुण-कौशल प्रदर्शित किया है वह महान् उपन्यासों में भी क्वचित् कुत्रचित् ही देखने को मिल पाता है।

जैनेन्द्र की भाषा की भी बहुत बड़ी विशेषता है उसकी सादगी, किन्तु वह न तो देवकीनन्दन खत्री, सुदर्शन और कौशिक की भाषा की सादगी है, न प्रेमचन्द जी ही। पहले वर्ग के उपन्यासकारों की तुलना में जैनेन्द्र जी भाषा की सादगी में प्रत्यभिज्ञेय वैशिष्ट्य है; प्रेमचन्द की सहज सरलता के विपरीत जैनेन्द्र में सचेष्ट असचेष्टता है। जैनेन्द्र के गद्य की शैली उनकी भाषा के इसी गुण से रूप ग्रहण करती है, किन्तु असचेष्टता की अतिशयता के कारण बार-बार पाठक का ध्यान आकृष्ट करती है और लेखक के गुर,-ढंग के रूप में पहचान में आ जाती है। जैनेन्द्र सत्य को स्वयं बोलने के लिए छोड़कर सन्तुष्ट नहीं रह जाते, जैसा प्रेमचन्द अपनी बाद की रचनाओं में सहज भाव से करते थे, बल्कि सत्य पर अपनी धार चढ़ाकर सामने रखते हैं। फलतः विषय के सत्य की तीक्ष्णता शैली की तीक्ष्णता के कारण गौण पड़ जाती है और समूची कृति क्षति-ग्रस्त हो जाती है।

१९१९ में 'सौन्दर्योपासक' लिखकर ब्रजनन्दन सहाय ने उल्लेखनीय व्यक्तिपरक उपन्यास प्रस्तुत किया था। १९२३ में अवधनारायण का भावुकता-प्रधान उपन्यास 'विमाता' प्रकाशित हुआ था। जैनेन्द्र के भावुकता-प्रधान व्यक्तिपरक उपन्यासों में ये धाराएँ समन्वित हो गई हैं। बाद के कुछ उपन्यासकारों ने जैनेन्द्र की भावुकता और शैली का अनुकरण किया पर वे हिन्दी के अत्यन्त गौण उपन्यासकार हैं।[1]

जैनेन्द्र पर न तो फ्रायड का ही प्रभाव था, न अन्य पाश्चात्य

१. उदाहरणार्थ, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, सियारामशरण गुप्त आदि।

साहित्यिक धाराओं का ही। जैनेन्द्र के साथ और बाद में ऐसे प्रभावों का आधिक्य दीख पड़ता है।

१९३२ में कृपानाथ मिश्र का 'प्यास' शीर्षक उपन्यास प्रकाशित हुआ था, जिसमें आधुनिक अँगरेजी उपन्यासकारों और अँगरेजी गद्य की प्रमुख विशेषताएँ सफलतापूर्वक सन्निविष्ट थीं। जेम्स ज्वायस और वर्जीनिया वुल्फ के युगान्तरकारी प्रयोगों का इस उपन्यास में बड़े अधिकार के साथ समावेश किया गया था। फिर 'अज्ञेय' ने 'शेखर: एक जीवनी' में कुछ फ्रायड, क्राफ्ट-एर्विग, हैवेलाक एलिस और कुछ लारेंस से अनेक उपादान लेकर कोनराड की प्रत्यग्दर्शन-प्रणाली का उदाहरण उपस्थित किया। 'अज्ञेय' इस उपन्यास में न तो प्रत्यग्दर्शन-प्रणाली के कठिन स्थापत्य का निर्वाह कर पाते हैं, न उपन्यास के मुख्य पात्र के प्रति निर्लिप्तता का। उनके सद्यःप्रकाशित उपन्यास का नाम, 'नदी के द्वीप' चेतना के प्रवाह, का रूपान्तर है। 'नदी के द्वीप' नदी का एक उल्लेखनीय मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास है। जिस डी० एच० लारेंस की कविताएँ कण्ठस्थ और समय-असमय उद्धृत करते 'नदी के द्वीप' के पात्र थकते नहीं, यदि उसकी स्पष्टवादिता का शतांश भी 'अज्ञेय' में होता तो वे हिन्दी के लारेंस कहलाने के अधिकारी होते--और यह कम गौरव की बात न होती।[१]

इलाचन्द्र जोशी ने 'प्रेत और छाया' में मनोविश्लेषण-विज्ञान के कुछ प्रचलित पारिभाषिक शब्दों का चर्वित-चर्वण कियाँ है किन्तु इस विज्ञान की प्रणाली का लाभ उपन्यास के लिए वे उठा नहीं पाये हैं। 'अज्ञेय' और इलाचन्द्र जोशी की तुलना में द्वारिकाप्रसाद ने 'घेरे के बाहर' मनोविश्लेषण की शास्त्रीय प्रणाली अपनाई है और 'रोगी का इतिहास' (case book) ही तैयार कर दिया है।

---

१. 'शेखर: एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' पर मैंने तनिक विस्तार से त्रैमासिक 'साहित्य', जनवरी १९५२, में विचार किया है।

द्वारिकाप्रसाद ने 'अज्ञेय' की तरह मौन जीवन के तथ्यों पर कवित्व-पूर्ण शैली और वर्णनों का रेशमी आवरण नहीं रखा है, न ताली की सूराख से शयनागार की झाँकी भर दिखाकर निर्भीकता का श्रेय लेने की कोशिश की ह। किन्तु, दूसरी ओर, खल्वाट् शैली के कारण उनका उपन्यास अधिकतर 'रोगी का इतिहास' मात्र बनकर रह जाता है। यह निःसंदिग्ध है कि इन सभी कृतियों में केवल 'नदी के द्वीप' में ही यत्र-तत्र हिन्दी का ऐसा दृढ़बन्ध, प्रौढ़ और परिष्कृत गद्य मिलता है जिसमें अँगरेजी गद्य का उत्कर्ष आत्मसात् हो गया है।

विदेशी साहित्य की साम्यवादी धारा ने भी हिन्दी के समसामयिक उपन्यासों को प्रभावित किया है। साम्यवादी विचार-धारा को यशपाल ने अपने बहुसंख्यक उपन्यासों में अन्तर्भुक्त करने का प्रयास किया है, किन्तु वे घूम-फिरकर व्यक्ति की उस वर्जित परिधि में बँध जाते हैं जिससे बचकर सामूहिक जीवन का चित्रण करने का सिद्धान्त साम्यवादी लेखक दुहराते रहते हैं। साम्यवादी दृष्टिकोण से लिखे गये राहुल सांकृत्यायन के ऐतिहासिक उपन्यास भी उपन्यास कम और जीवन-दृष्टि से पुनर्निर्मित इतिहास अधिक हो गये हैं। हिन्दी के साम्यवादी साहित्यिक किसान-मजदूर के लेखक रूप में प्रेमचन्द की वीर-पूजा करते हैं। इस वर्ग के सम्बन्ध में प्रेमचन्द ने सचमुच ही आश्चर्यजनक ज्ञान और अनुभव के साथ लिखा भी है। उनके बाद किसी उपन्यासकार ने किसान-मजदूर-वर्ग से सम्बद्ध उल्लेख्य उधन्यास नहीं लिखा है—घोर साम्यवादी उपन्यासकारों ने भी नहीं।

हिन्दी-उपन्यास की एक ही अन्य ऐसी धारा है जो क्षीण होने पर भी विचार के योग्य है। वृन्दावनलाल वर्मा, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', राहुल सांकृत्यायन और हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ऐसे ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं जिनसे हिन्दी में स्काट, राखालदास वंद्योपाध्याय या मुंशी के अभाव की प्रांतः पूर्ति हो जाती है। किन्तु उपन्यास के लिए इतिहास

का एकमात्र महत्त्व यह है कि वह विषय को बहुत दूर पर रखकर

अवलोकनीय बना सकता है। अब जब तक इस दृष्टिकोण से ऐतिहासिक उपन्यास नहीं लिख जाते तब तक उनका विशेष महत्त्व नहीं माना जा सकता।

शिवचन्द्र, उपेन्द्रनाथ 'अश्क,' रामचन्द्र तिवारी, विष्णु प्रभाकर, देवराज और ऐसे तो अनेक दूसरे नाम हैं--हिन्दी उपन्यास को बना-बिगाड़ रहे हैं। यह नव-निर्माण की अनिवार्य प्रक्रिया है।

--नलिन विलोचन शर्मा

उपन्यास में वास्तविकता

कलकत्ते में गुजराती भाषा-भाषियों का एक साहित्य-समाज है। हर पखवाड़े वे लोग मिलते हैं। इधर एक उपन्यास मिल-जुलकर पूरा किया जा रहा है। उसका आरम्भ एक सदस्य ने किया, अगला खण्ड दूसरे ने लिखा और सुनाया, इस तरह सात या आठ बार में वह उपन्यास पूरा होगा। और उतने ही व्यक्ति क्रमशः उसे आगे बढ़ायेंगे।

यह संवाद मुझे बहुत रुचिकर हुआ। देखा कि इससे सजीवता रहती है। ऐसे एक ही सूत्र के सहारे सब अलग रहकर भी एकत्र और अनुबद्ध होने का रस पाते हैं।

उस समाज में एक सदस्य ने पूछा कि उपन्यास में वास्तविकता कितनी चाहिए? यह सवाल इस ढंग से पहले सामने नहीं आया था। इससे अपने को टटोलने की जरूरत हुई।

वास्तविकता से मतलब इन्द्रियगम्य तथ्यहीन? जो हमें आँखों से दीखता है, स्पर्शादि से जान पड़ता है, और तर्क, बुद्धि से मान्य होता है, उतना ही हमारे लिए वास्तव है।

स्पष्ट है कि हमारे वास्तव से आगे और परे भी कुछ तो है ही। उसे हम अवास्तव कह सकते हैं, पर क्या उसे असत्य भी कह सकते हैं? असत्य कहें तो जिन्दगी हमारे लिए व्यर्थ हो जानी चाहिए और भविष्य कुछ न रहना चाहिए। भविष्य, व्यतीत, उन्नति, विकास इत्यादि शब्द हैं तो इसका यही मतलब है कि वास्तव पर सत्य की सीमा नहीं है। वास्तव से परे भी सत्य है। इसलिए हमारे वास्तव की सीमा असल में हमारी ही सीमा है, सत्य तो असीम है।

अक्सर दो शब्द एक दूसरे के सामने यहाँ तक कि विरोध में रखकर देखे ज़ाते हैं। वे हैं यथार्थ और आदर्श (The real and the ideal)। आदर्श यथार्थ में नहीं है, वह उससे बाहर होकर ही है। और यथार्थ आदर्श का निषेधक होने को लाचार है, क्योंकि उसके पास कोई साधन नहीं है कि अपने से परे किसी अस्तित्व को वह जाने अथवा मान सके।

Exp

इस द्वैत के आधार पर ही दो दर्शन हुए। एक वह जिसके लिए ब्रह्म ही सत्य और संसार सब माया है। वास्तव जो है झूठ है, और जिसका कोई प्रमाण नहीं, जो सब युक्तियों और साक्षियों से अतीत है, परब्रह्म ही सत्य है। यह आध्यात्मिक दर्शन है।

दूसरा भौतिक दर्शन है। उसके लिए यह रूपाकारमय जगत् न केवल है, बल्कि वही है। इससे अतिरिक्त और भिन्न होकर किसी अज्ञेय तत्त्व को मानना वहाँ कोरा भ्रम और जड़ता है।

पहले के लिए जगत् स्वप्न है और ब्रह्म ही सत्य है। दूसरे के लिए जगत् सत्य है और आत्मा-परमात्मा बहम है।

इन दोनों के बीच की सच्चाई आँकने की ओर जाने की मेरी वृत्ति नहीं है। वह मेरा वश भी नहीं। व्यक्ति स्वभावानुसार बरतता है। मौखिक चर्चा-विवाद से अदलता-बदलता कोई विरला ही होगा। अक्सर चर्चाएँ आवर्तचक्र ही रचती हैं और हर पक्ष को अपने माने हुए सत्य के आचरण से दूर डालती हैं।

भक्त अपनी भक्ति से अपनी मूर्त्ति बना लेता है। मूर्त्ति का सत्य भक्त का आत्मार्पण है। उपासक के स्वार्पण से अलग होकर मूर्त्ति पत्थर है। इसीलिए नास्ति को दृढ़ता से माननेवाला नास्तिक परम आस्तिक की भाँति व्यवहार करता दीखता है। और जिनके जीवन में तत्परता नहीं ऐसे अनेक आस्तिक जन नास्तिक आचरण करते देखे ही जाते हैं। नास्तिक शहीद हो गये हैं और आस्तिक कलदार बटोरने में लगे हुए हैं। इससे प्रश्न यह मानने अथवा वह मानने का नहीं, बल्कि जो मानो तो उसे पूरी सच्चाई और तत्परता से मानने का ही है। सच्चा भक्त शून्य

की उपासना से भी फल पा जायेगा। जबकि उपासना ही शंकित हो तो कोई उपास्य उपासक को तार नहीं सकेगा।

इसलिए केवल बौद्धिक धारणाओं को छोड़ दिया जाय। बौद्धिक प्रयोजन ही उनसे सध सकता है, जीवन का कुछ काम नहीं निकल सकता। एक धारणा दूसरी धारणा से अपने आप में गलत या सही नहीं होती। उसे माननेवाले के जीवन की सच्चाई अथवा झुठाई की अपेक्षा ही उन धारणाओं में सत्यता या मिथ्यात्व आता है।

पर हमें तो यहाँ उपन्यास में वास्तविकता कितनी चाहिए—इसी बात से मतलब है।

इसके लिए आवश्यक है कि उपन्यास से हम क्या चाहते हैं—यह जानें। उपन्यास से क्या हम गति चाहते हैं? उत्कर्ष चाहते हैं? क्या हम उसे व्यक्तिगत और लोक-जीवन के विकास का साधन बनाना चाहते हैं?

या यह हम उससे नहीं चाहते? तो क्या सामाजिक धरातल की स्थिति-पोषक वस्तु चाहते हैं? यानी खबरें चाहते हैं? अनुरंजन चाहते हैं? अपने परिचय की विस्तृति चाहते हैं?

उपन्यास के बारे में मेरी अपनी धारणा यह है कि वह जीवन में गति देने के लिए है। गति यानी चैतन्य। गति धक्के की नहीं। पीठ की ओर से धक्का दीजिए तो उसमें व्यक्तित्व आगे की ओर बढ़ता तो जरूर है, पर बिगड़ता भी बहुत है। तीव्र और आकस्मिक धक्के हों तो औंधे गिरने की सम्भावना है। इसी लिए गति को चैतन्य के अर्थ में कहा। अर्थात् आगे के रास्ते को साफ-साफ आँखों में उँगली डालकर बतानेवाला उपन्यास उपन्यास नहीं और साहित्य साहित्य नहीं। गति की सेवा उपन्यास इस पद्धति से नहीं करता। जिसे इस ओर लोभ हो उसको फिर प्रचार-वादी साहित्य (Propagandist Literature) कहना होगा। प्रोपेगेंडा बढ़ाता है, गति देता है, लेकिन परिणाम में उससे प्रतिक्रिया भी होती है। इसी से सत्‌साहित्य से प्रचार-साहित्य कहीं गर्वीला होता है, अधिक प्रभविष्णु और कुछ अधिक स्पष्ट भी मालूम होता है। क्योंकि

तरह-तरह की मान्यताओं के बीच सबको गिराकर किसी एक को प्रतिष्ठित करने की चुनौती की चमक उसमें है। सत्साहित्य में वह आवेश नहीं। उसमें नम्रता की लचक है। उसे तो समभाव और सहानुभति का प्रसार करना है न। अतः, विग्रह में जो एक गर्मी और तेजी होती है, वह उसे नहीं चाहिए। विग्रही भाव गमक तथा चमक ले आता हो और प्रभाव को तात्कालिक भी बना देता हो, फिर भी साहित्य उससे लाभ नहीं उठाता। क्योंकि सच पूछिए तो यह प्रभाव एक प्रकार के अहंकार के उत्तेजन से आने के कारण स्थायी नहीं होता।

तब रह जाती है वह गति जो आदमी उत्तेजनावश नहीं, बल्कि स्वतः स्फूर्ति से करता है। उस गति का वह स्वयं स्वामी होता है। साहित्य की वही गति इष्ट है। अर्थात् साहित्य चैतन्य को ही उद्बोधन पहुँचाता है। उस उद्बोधन के प्रकाश में, अपनी परिस्थितियों की अपेक्षा, व्यक्ति फिर स्वयं अपना मार्ग पाता और उस पर बढ़ चलता है। सबके लिए एक रास्ता तो नहीं है; क्योंकि सब एक जगह नहीं हैं। पर साहित्य सबके लिए है। अतः साहित्य उन दिशाओं से संबंध नहीं रखता जो परस्पर विपरीत हो सकती हैं; बल्कि उसका उस चतन्य के विकास सम्बन्ध है जो किसी भी दिशा में गति करने की सामर्थ्य को समृद्ध करता है। इसी से बाहरी बातों में साहित्य की रुचि-अरुचि तनिक भी बँटी हुई नहीं देखी जाती।

जीवन की गति को इस प्रकार चहुँ ओर प्रवृत्त करने का काम साहित्य से अनायास संपन्न होता है। कारण वह व्यक्ति के अंतश्चैतन्य को तीव्र करता है। दृष्टिगोचर होनेवाले सब जगद्-व्यापार वास्तव में उसी भीतरी प्राणों की अभिव्यक्ति होने के कारण स्वयमेव साहित्य के बल से मुखरित और उद्भासित होते हैं।

यही कारण है कि साहित्य गति देते हुए भी स्थिति का भंग नहीं करता। उससे गति को वेग मिलता है तब स्थिति को समर्थन भी प्राप्त होता हैं। दुनिया में स्थिति-पालन और सुधारक नाम के दो पक्ष परस्पर

समक्ष खड़े होकर एक दूसरे को ललकारते देखे जाते हैं। साहित्य दोनों के लिए सहारा है। देखा जाता है कि जिन शास्त्रों को लेकर पुराणवादी अपने पक्ष को पुष्ट करते हैं अधुनातनवादी भी अपने समर्थन में उन्हीं शास्त्रों का प्रमाण देते हैं। बेशक उन दोनों के हाथों शास्त्र का अपलाप होता है। तो भी यह शास्त्र का गुण है कि उसमें दोनों को अपना-अपना अभिमत समर्थित दिखायी दे। इस विशेषता के कारण शास्त्र को निकम्मा ठहरा सकते हो, तो भी वह ऐकान्तिक नहीं है। एक वर्ग या एक पक्ष को दूसरे की तुलना में नीचा या गलत बतालाने का सीधा काम शास्त्र या साहित्य नहीं करेगा।

कर्म-पक्ष के लोगों में साहित्य तथा शास्त्र के लिए जो उपेक्षा और अवहेला देखी जाती है उसका कारण भी यही है। राज-नीति भेद पर चलती है। एक की विजय यहाँ दूसरे की पराजय पर ही होती है। शक्ति-संपादन की पद्धति ही कुछ ऐसी है। पड़ोसी अपेक्षाकृत निर्धन न हो, तब तक धन में सुख कहाँ ? दायें-बायें करोड़पति हों तो अपने लाख में लखपति को संतोष किसी तरह न हो सकेगा। कर्म-संकुल सतह पर जो एक फेन दिखायी देता है, वह यही है। अहंकारों का एक घमसान चल रहा है। सब बढ़ावढ़ी में लगे हैं। नौ को पीछे डाल जो दसवाँ आगे दीख सकता है, वही कुछ है। पर चूँकि कोई ग्यारहवाँ उससे आगे है इससे नौ की पराजय में उसे संतोष नहीं रहता। सांसारिक गति इसी परस्पर की स्पर्धा से उत्तेजना पाकर आवेगमयी दीखती ह।

पर वह भ्रमित गति है। वह कहीं पहुँचाती नहीं, भरमाती ही है। मुक्ति उससे पास नहीं आती, जगजाल ही बढ़ता है। यद्यपि इस तरह संसार में चकराता प्राणी प्रतिक्षण अपने को चलता हुआ अनुभव करता है, पर जरा सोचे तो देख पाये कि वह कोल्हू के बैल की तरह से चलता हुआ भी वहीं का वहीं है।

इसी कारण यह कहकर भी कि उपन्यास का इष्ट गति है, यह
[illegible] उसी तरह समझ लेना होगा कि इस गति का सम्बन्ध बाहरी किसी दिशा

से नहीं है। स्थल दृष्टि से कहें तो उपन्यास का लक्ष्य बाह्य गतियों को मन्द करना भी कहा जा सकता है। वासनाओं के वशीभूत होकर जो अहंकृत दौड़-धूप की जा रही है, उपन्यास उसकी तो व्यर्थता ही प्रगटाता है। एक आदमी ने जिन्दगी के तीस-चालीस बरस बिताकर इस दुनिया में खूब रुपया बनाया और इज्जत बनायी। आस-पास के लोग उसकी उन्नति पर चकित हैं। पर उपन्यास तो उसे इन्सानियत के तराजू पर ही तौल कर बतलायेगा। तब बिल्कुल सम्भव है कि जगत् में जो लखपति होने के कारण आपकी आकांक्षा का विषय था, उपन्यास में इन्सानियत में दिवालिया होने के कारण वही आपकी करुणा का पात्र बन जाता है।

फिर भी यह स्पष्ट रहे कि गति-विरोधी स्थिति का समर्थन भी उपन्यास में नहीं है। मात्र स्थिति जड़ता है। पत्थर, सौ दो सौ पाँच सौ वर्ष हो जायँगे, वैसा का वैसा ही पत्थर रहेगा। इसी से तो वह पत्थर यानी जड़ है। आदमी पैदा होगा और बढ़ेगा। वह क्षण-क्षण बदलेगा। यहाँ तक कि गिनती के पचास-साठ-सौ सालों के निरंतर परिणमन के बाद उसकी चरम परिणति होगी, मृत्यु। इस मृत्यु के कारण ही वह सजीव है। जो मर नहीं सकता, वह जीवित भी नहीं है। फल, आज खिला है, कल मुर्झा जायगा। वह मुर्झाने की शक्ति ही फूल की असलियत है। नहीं तो दो साल से कागजी-फूलों का गुलदस्ता ज्यों का त्यों मेरे आले में रखा है। जो है उससे वह कुछ भी और नहीं हो सकता। इसी से वह फूल नहीं है, छल है। सच्चाई उसमें नहीं है, सिर्फ कला उसमें है।

इस ढंग से देख सकते हैं कि मात्र स्थिति सदोष है। चैतन्य को प्रबुद्ध और गहन करने की वृत्ति जिस उपन्यास में नहीं है और जो सिर्फ मनोरंजन करता है, वह स्थिति-तुष्टि देता है। स्थिति-तुष्टि तामसिक है। इसलिए स्थिति के प्रति एक प्रकार का असंतोष तो साहित्य के फल-स्वरूप व्यक्ति में जागना ही चाहिए। केवल मनोरंजन से असंतोष उल्टे सोता है। अनुरंजन साहित्य की शर्त तो है, क्योंकि नीरस कोई वस्तु [illegible]

हमारी चेतना का संस्कार नहीं होगा। यदि हमारी सद्वृत्तियों को चेतानेवाला कोई प्रभाव होगा तो वह हमें थकाने और उकतानेवाला नहीं हो सकता। जरूर वह प्रभाव बौद्धिक से गहरे तल तक जानेवाला होना चाहिए। रस वह है जो बुद्धि के स्तर पर चुक नहीं जाता; वह उससे नीचे के स्तरों को भी छूता और भिगोता है। इसी से शास्त्र निरे प्रतिपादन नहीं हैं, वरन् उनमें प्रसाद है, ऋत है, ऋजुता है, और वर्णन का सौन्दर्य भी है।

इस प्रकार उपन्यास स्थिति से परिबद्ध नहीं होना चाहिए। स्थिति का भंग उसमें इष्ट हो सो नहीं। समाज की रीति-नीति को ध्वस्त करने का कोई क्रांतिकारी लक्ष्य उपन्यास अथवा साहित्य का नहीं हो सकता। क्योंकि स्थिति उखड़ी तो गति ही औंधी गिरी। क्रांति इस तरह साहित्य के निकट एक आलंकारिक (Romantic) शब्द से अधिक नहीं है। उसके पीछे चलना मृगतृष्णा के पीछे भागना है। उसमें उपलब्धि नहीं है, सिर्फ तृष्णा है। पर आज की प्रचलित रीति-नीति में बन्द होकर बैठना भी नहीं हो सकता। उसके प्रति आलोचना और अतृप्ति की वृत्ति जरूरी है। जिसमें यह नहीं वह उपन्यास अपना दायित्व पूरा नहीं करता।

इस जगह आरम्भ के प्रश्न को लिया जा सकता है। अगर उपन्यास जीवन के विकास-साधन के लिए है, तो वास्तविकता उसकी मर्यादा नहीं हो सकती। वास्तविकता का धरातल उठेगा उससे जो स्वयं उससे ऊँचा होगा। इससे उपन्यास को वास्तविकता पर नहीं, उससे ऊँचे पर होना होगा। मैं मानता हूँ कि यह आवश्यक है। उपन्यास वास्तविक होने के लिए नहीं है। वह वास्तविक होना नहीं चाहिए। वास्तविक होने की कोशिश करके वह अपने को निरर्थक ही कर सकता है। उपन्यास के पात्र भी यदि हम आपकी तरह डेढ़-डेढ़, दो-दो मन के होने लगेंगे तो इससे दुनिया का कुछ नहीं होगा। उनसे सच्चे अर्थ में हम लोग तो तभी कुछ होगा जब वे हमसे कम मांसल और अधिक मानसिक होंगे। उनमें आत्मा

अधिक होगी और पंचभूत कम होगा। इसके लिए आवश्यक है कि उपन्यास के पीछे एक आदर्श की प्रेरणा हो। आदर्श की प्रेरणा को कोई रोमांटिक कहे तो कोई आपत्ति नहीं। आसानी से मैं यह मान लूंगा कि उपन्यास के लिए रोमान्टिक-वृत्ति आवश्यक है। यानी वास्तविकता से परे, अलग, ऊँचे जानेवाली वृत्ति। उसे बचाव (Eseape) तक कहा जाय तो मुझे भय नहीं। उस अर्थ में पलायन-वृत्ति भी उपन्यासकार में नितान्त आवश्यक है। जो एकदम वास्तविकता में लिप्त है—फिर चाहे वह कितना भी बड़ा आदमी माना जाता हो—सफल उपन्यास नहीं लिख सकता। एकदम जरूरी है कि वह कुछ अबोध भी हो, मिस्टिक भी हो। ज्ञात और वास्तविक के प्रति किंचित् उपेक्षाशील वह हो सके और अज्ञात के प्रति उन्मुख। कर्त्तव्य के साथ वह कुछ स्वप्न भी रखता हो। जरूरी है कि स्वप्न के लिए वह वास्तव को बलिदान कर सकता हो। ऐसा नहीं तो उपन्यास चित्र-विचित्र घटनाओं या पात्रों का आकलन भर हो जायगा। यह स्वप्न-शील आदर्श-प्राणता न होने पर कितनी भी तत्व-चिंता अथवा मनःसमीक्षा का चातुर्य उपन्यास में डाला जाय, वह लोगों के मन को नहीं जीत सकेगा, न कोई उत्कर्ष साधन कर सकेगा।

इस दृष्टि से मैंने उन भाई को खुले कह दिया कि उपन्यास में वास्तविकता नहीं चाहिए। अब यह व्यक्ति के ऊपर है कि वह वास्तव से किस हद तक छुट्टी पा सकता है। असमर्थ व्यक्ति देवताओं की कथा नहीं लिख सकता। ऐसे असमर्थ को वास्तविकता की धरती नहीं छोड़नी चाहिए। पर जिसमें सामर्थ्य है और अपनी कल्पना के जोर से देवताओं को मनुष्य से भी अधिक प्रबल और प्रभावक रूप में चित्रित कर सकता है, वास्तविकता के नाम पर उसे इस काम से रोका नहीं जा सकेगा। हमको जानना चाहिए कि हमसे अधिक हमारे देवता जीते हैं। उनकी आयु अधिक है, उनकी शक्ति अधिक है। केवल उनमें शरीर कम है। वे आदर्श-प्राण और भावनामय होने के कारण ही क्या अधिक सत्य नहीं हैं? तुलसी से तुलसी के राम नहीं अधिक [illegible] हैं। क्योंकि तुलसी इतिहास

रा खोजे और पहचाने जा सकते हैं, पर उनके राम के संबंध में तो ऐसा मालूम होता है कि उनके पिता दशरथ, माता कौशल्या और पत्नी सीता कथा-लोक के ही प्राणी हैं, स्थूल जगत् के हैं ही नहीं। राम अनैतिहासिक, अनाधिभौतिक हैं। लगभग वे पूर्णतया आध्यात्मिक हैं। तभी तो वे इतने अधिक सत्य हैं कि आज हिन्दुस्तान का जीवन उनके नाम के बिना चल ही नहीं सकता।

यहाँ वास्तव और सत्य के अन्तर को चीन्हना होगा। वास्तव है Fact और सत्य Truth, उपन्यास सत्य की शोध है। उसकी लगन सत्य की दिशा में है। वास्तव (Factual) से उपन्यास आगे सत्य (Truth) की ओर गति करता ह। अर्थात् वास्तव पर केवल उपन्यास के पैर चाहिए। उसकी अभिलाषा वास्तव में नहीं हो सकती। उपन्यास का हार्द सत्य है, केवल उसका शरीर वास्तव है। जीने के लिए बेशक शरीर चाहिए, पर वह आत्मा के मन्दिर के रूप में हो। अर्थात् शरीर आत्माभिव्यक्ति के साधन रूप में ही है। यों वह अपने आपमें बाधा है। शरीर की अधिकता जीवन के उत्कर्ष को रोकती है। शरीर को जिसने लाड़ लड़ाया, वह जीवन में महत्त्व सम्पादन नहीं कर सका। इसी तरह वह उपन्यास जिसने जगत् के यथार्थ और वास्तव के आगे माथा झुकाया, उसी कारण हीन रह गया। सिर तो हवा में ही रहता है, हाँ, पैर जरूर धरती पर चाहिए।

इसलिए मैंने वहाँ उन भाई से कहा कि उपन्यास में वास्तविकता यथावश्यक से अधिक बिलकुल न होनी चाहिए। यथावश्यकता का कोई परिमाण नहीं, जितनी न्यून हो उतना भला। वह तो सिर्फ सत्य-प्रतीति को पाठक तक वहन करने के लिए है। वह वाहन है, उसकी पीठ पर अधिष्ठित होना चाहिए सत्य। उदाहरण और रूपक से नीति-शिक्षा और अध्यात्मसार लोगों के हृदयों में डालना है। वह उदाहरण जितना अधिक आडम्बर से हीन हो और अपने समूचेपन में उस सार को ही व्यक्त करता हो, उतना ही श्रेष्ठ है। रूपक की अपनी सत्ता ही नहीं है। जो

पात्र वहाँ सामने आते हैं, वे व्यक्ति नहीं व्यक्तिकरण हैं। वे प्रतीक भर हैं। सामाजिक मनुष्य के निकट सत्य-तत्त्व की प्रतीति पहुँचाने में सुविधा सामाजिक पात्रों को वाहन बना कर कथा रचने से होती हैं, इसलिए उसके चारों ओर सामाजिकता का वातावरण भी रचा जाता है। ताकि पाठक को ऐसा न लगे कि कुछ बताने से लिए मेरे आगे गढ़न्त गढ़ा जा रहा है। उसे ऐसा लगे कि यह सब कुछ उसके सामने किया नहीं जा रहा है, बल्कि सचमुच हो ही रहा है।

इसी में से यह परिणाम हाथ आता है कि रचनाकार को अपनी रचना के पीछे एकदम लुप्त रहना चाहिए। उसे अपनी ओर से कुछ नहीं कहना है। सारे पात्र उसी को तो कह रहे हैं। उनसे अलग होकर उपन्यास में यदि और कुछ कहा जाता है तो वह उपन्यास की श्रेष्ठता को नहीं बढ़ाता, किंचित् उसको ऋणी ही करता है। पात्रों का कार्यकलाप ही बस है। उस द्वार के अतिरिक्त जैसे लेखक स्वयं पाठक के हाथ में आने को उद्यत नहीं। कला की इस आवश्यकता के कारण सामाजिक उपन्यास के बाह्य रूप को बेशक अत्यन्त वास्तविक होकर सामने आना चाहिए। ध्यान रहे कि वास्तविक होने की यह आवश्यकता कला की आवश्यकता ही है। वह स्वयं वास्तविकता की आवश्यकता नहीं। शरीर स्वच्छ, नीरोग, और पुष्ट चाहिए। इसलिए नहीं कि वह पंचभौतिक है, अथवा उसे सुन्दर दिखाना है, बल्कि केवल इसलिए कि आत्मा उसमें स्वस्थ रहे। एक तरह से देह धारण करके देही को अलक्ष्य रहने में सुविधा होती है। शरीर है, इसी से उसके भीतर हृदय प्रकट होकर भी छिपा रह सकता है। माया की यही सार्थकता है कि वह ईश्वर को छिपाकर धारण करे।

जैसे अंगूर पर छिलका होता है, वैसे ही उपन्यास पर वास्तविकता का परिधान चाहिए। छिलका केवल रस की सुरक्षा के लिए है। जिसे रस चाहिए वह छिलके को देखेगा भी नहीं। रस पीना है तो उसे छान कर छिलका फेंकने के लिए तैयार होना होगा। यह सही है कि छिलका

न होने पर रस एकत्र होने का अवसर ही न पायगा। लेकिन बस, इससे

अधिक उस छिलके का प्रयोजन नहीं। वास्तविकता का प्रयोजन भी इससे अधिक नहीं है।

यह भी मुझे जान पड़ता है कि कार्य के पीछे के कारण को और घटना के पीछे के हेतु को पकड़ने के लिए बाहरी बहुत-कुछ छोड़ते जाना होगा। अशर्फी के लिए कौड़ी छोड़नी होगी। अमरता के लिए शरीर को मरने देना होगा। इसी तरह जो ऐक्य इस तमाम अनेकता को धारण कर रहा है उसको पाने के लिए एक-एक को छोड़ते भी जाना होगा।

तभी तो है कि नित्य-नैमित्तिक जीवन की स्थूल घटनाओं का लेखा उपन्यास में नहीं मिलता। उपन्यास के पात्र रोज सबेरे सात बजे ही स्नान करते नहीं दिखाये जाते, न उनके दाँतुअन करने और भोजन करने आदि का जिक्र है। उपन्यास अपने चरित्र को जानने और जतलाने के लिए इन सब स्थूल व्यापारों के पार देखेगा। इन सब व्यापारों की सम्भावना और उद्भावना को धारण करनेवाली जो उस चरित्र की मानसिकता है, उसके व्यक्तित्व की भीतरी व्यथा और सत्यता है, उसे दिखलाने का उपन्यास प्रयासी होगा।

पत्तों की गिनती में वृक्ष का सत्य निहित नहीं है। उसकी शोध में गहरे जाना हो, तो उसका रस लेना होगा। उस रस की बूंद में ऊपर से यह भी पता न चलेगा कि यह किस वृक्ष का है और इसके कैसे पत्ते रहे होंगे। रस की बूंद में पेड़ की लम्बाई-चौड़ाई और उसकी विविधता का कुछ भी प्रभाव नहीं रह जाता। उस रस के पृथक्करण से इसीलिए वृक्ष का अधिक सत्य प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि वहाँ उसकी रूपाकारमय बृहत्ता एकदम गौण वस्तु रह जाती है।

उपन्यास में वास्तविकता का भी यही स्थान है। सुधी पाठक के लिए वह वाहन भर है। रसोपलब्धि की दृष्टि से वह परिहार्य तक ठहरती है। धरती पर का आदमी जिन तरह-तरह की लाचारियों के कारण उभर नहीं सकता, क्या उन लाचारियों में उपन्यास के नायक को भी बँधना ही होगा ? मैं मानता हूँ कि उपन्यास के नायक हमारे भीतर की सम्भावनाओं

के चित्र अधिक हैं। वे हमारी अपूर्णता की पूर्त्तियाँ हैं। वे हमारे फोटोग्राफ नहीं हैं, उससे अधिक हैं। चित्र फोटोग्राफ से अधिक होता है। उपन्यास का लेखक भी फोटोग्राफर नहीं है—वह चित्रकार है, यानी उसमें विवेक है। इस विवेक द्वारा वास्तव के पर्याप्त अंश को वह छोड़ देता है।

जानता हूँ कि आजकल यथार्थ का एक वाद भी है। तो भी मैं नहीं मानता कि आदर्श को हक नहीं है कि यथार्थ को अस्वीकार करे। उपन्यास वास्तव में उस आदर्श की ओर उठने के प्रयास में ही बनना चाहिए। यथार्थ से उठना और यथार्थ को उठाना नहीं है तो उपन्यास का प्रयोजन ही क्या? हाँ, प्रयोजन खोज ला सकते हैं और उन पर उपन्यास लिखे भी जा सकते हैं पर क्या सचमुच उनको उपन्यास कहना ही होगा?

—श्री जैनेन्द्रकुमार

('साहित्य का श्रेय और प्रेय' से)

———

निबंध और समीक्षा

हिन्दी का निबन्ध-साहित्य

साहित्यिक रचनाओं के विभिन्न प्रकारों में एक प्रकार निबंध है। यह भी साहित्य का एक अंग है, किन्तु अन्य अंगों से सर्वथा भिन्न। भिन्न इस अर्थ में कि काव्य-नाटक, उपन्यास और गल्प के माध्यम से संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने के लिए जिन सब कलात्मक विधियों का ध्यान रखकर चलना पड़ता है निबंध रचना के लिए वे आवश्यक नहीं समझी जातीं। निबंध होता है सर्वथा निराभरण। काव्य या नाटक की तरह उसकी कोई विशिष्ट प्रणाली नहीं होती। पाठकों के मन को मुग्ध करने के लिए वह किसी कला का आश्रय ग्रहण नहीं करता। इसमें लेखक स्वयं अपने को अभिव्यक्त करता है। जिस गद्य भाषा में हम बोलते हैं वही भाषा निबंध का वाहन होती है। हाँ, यह संभव है कि लेखक विशेष द्वारा वह भाषा अधिक परिमार्जित एवं विशुद्ध रूप ग्रहण करे। निबंध की परिभाषा को लेकर पण्डितों में मतभेद होना स्वाभाविक है, [किन्तु निबंध की उपर्युक्त विशिष्टता प्रायः सर्वजनसम्मत है। अँगरेजी साहित्य के विख्यात लेखक डा० जानसन ने निबंध की जो परिभाषा की है उसमें उन्होंने निबंध को लेखक के मन में उठनेवाली विचारतरंग बताया है। यह विचारतरंग अनियमित और विश्रृंखल होती है।] "A loose sally of mind, an irregular, indigested piece, not a regular and orderly performance.

[किन्तु निबंध-रचना चाहे जितनी सरल एवं निराभरण हो उसकी अभिव्यक्ति नाना रूपों में हो सकती है और होती है। हिन्दी साहित्य को ही ले लीजिए। भारतेन्दु हरिश्चन्द से लेकर आजतक जितने निबंध-लेखक हुए हैं उन सबकी रचनाओं में हम निबंध का नवीन रूप पाते

हैं। एक-एक समय में एक-एक चिन्ताशील लेखक के मन की विशिष्ट छाप को लेकर निबंध साहित्य ने अभिनव रूप ग्रहण किया है। युक्ति-प्रवण निबंधकार के हाथ में पड़कर निबंध का जो रूप होगा वह रूप एक कल्पना-प्रवण कवि के निबंध में नहीं होगा। इनमें एक का निबंध वस्तु-निष्ठ एवं गंभीर होगा, दूसरे का भावरसातुर कोमल। इसी प्रकार निबंधकार यदि रूपशिल्पी होगा तो उसके निबंध में शब्दों की रूपछटा एवं चित्रमयता होगी। और वाक्पटु मनमौजी लेखक के हाथ में पड़कर निबंध का रूप कुछ और ही होगा। उसमें विचारतरंगों की गुंथी हुई माला होगी। ऊपर निबंध के जितने रूप बताये गये हैं उनमें एक बात समान रूप से पायी जाती है। वह है बिना किसी छलना के लेखक द्वारा अपने विचारों को व्यक्त करने की आकांक्षा। भारतेन्दु युग के निबंधकारों ने भावात्मक, विचारात्मक तथा वर्णनात्मक सभी प्रकार के निबंध लिखे हैं। तत्कालीन सामाजिक एवं राष्ट्रीय परिस्थितियों का जैसा प्रभाव उनके मन पर पड़ा उसी की सहज, सरल अभिव्यक्ति उन्होंने अपने निबंधों में की। इन निबंधों में लेखकों की तर्कसंगत, आत्मनिर्भर स्वाधीन दृष्टि का परिचय मिलता है। लेखक ने अपनी विवेचना के अनुसार समस्याओं का विश्लेषण किया है। उनकी दृष्टिभंगी व्यक्तिकेन्द्रिक है। स्वयं भारतेन्दु ने राजनीति, समाज, संस्कृति आदि विषयों पर विभिन्न शैलियों में निबंध लिखे हैं। इन निबंधों में एक ओर यदि उन्होंने विचारविश्लेषण एवं युक्तिनिष्ठा का परिचय दिया है तो दूसरी ओर उन्होंने ऐसे निबंध भी लिखे जिनमें प्राकृतिक दृश्यों के सजीव एवं गत्यात्मक चित्र उपस्थित किये गये हैं। यात्रा-सम्बन्धी उनके लेखों में उनकी गंभीर पर्यवेक्षणशक्ति का परिचय मिलता है। देश एवं जाति की भावना से अनुप्राणित होकर उन्होंने एक महत् एवं स्वस्थ जीवन की कल्पना की थी। धर्म एवं नीति में आडम्बर एवं अंधविश्वासों का समावेश हो जाने के कारण जीवन में जो दुर्बलता, समाज में जो [illegible] आ गयी थी उसका

परिहार करके समाजसेवा एवं जनकल्याण का कर्ममय आदर्श ग्रहण

करना होगा और समाज को एक नूतन रूप देना होगा। भारतेन्दु समसामयिक तथा परवर्ती निबंधकारों में पं० बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण 'प्रेमघन', प्रतापनारायण मिश्र, पं० अम्बिकादत्त व्यास, पं० राधाचरण गोस्वामी, बाबू बालमुकुन्द गुप्त इत्यादि प्रमुख थे। इनमें प्रतापनारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट के व्यक्तिगत निबंध विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रतापनारायण मिश्र में विनोदवृत्ति एवं रसिकता अधिक पायी जाती थी। इसलिए इनके निबंधों में सजीवता एवं स्वच्छन्द प्रवाह है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रतापनारायण मिश्र की तुलना अँगरेजी साहित्य के व्यंग्य लेखक स्वीफ्ट से की है। मिश्रजी ने अपनी व्यंग्य विनोदपूर्ण शली में साधारण विषय—जैसे "दाँत", "भौं", "धोखा", और "बात", "आप" इत्यादि पर निबंध लिखे हैं। इनमें बड़े रोचक ढंग से देश और समाज की उन्नति से सम्बन्ध रखनेवाली गम्भीर बातें कही गयी हैं। प्रतापनारायण मिश्र अपने निबंधों द्वारा पाठकों से अपना हार्दिक संपर्क स्थापित कर लेते थे। कहावतों और मुहावरों का प्रयोग उन्होंने खुलकर किया है जिससे उनमें ग्रामीणता भी आ गयी है। इसमें सन्देह नहीं कि मिश्रजी के निबंध स्थानीयता लिये हुए हैं। उनमें एक अजीब मस्ती और मन की तरंग पायी जाती है। इनके निबंध के विषय चाहे सामयिक या काल्पनिक, गम्भीर या लघु हों उनमें सर्वत्र हास्य एवं विनोद की एक उच्छल रसधारा प्रवाहित होती रहती है और पाठक उसमें तन्मय हो जाता है।

बालकृष्ण भट्ट ने भी मिश्रजी की तरह 'नाक, 'कान', 'आँख', 'नहीं', 'बातचीत' जसे लघु विषयों पर निबंध लिखे हैं। किन्तु इनके निबंधों में मिश्रजी की अपेक्षा गाम्भीर्य कुछ अधिक है। व्यंग्य और वक्रता इनके लेखों में भी पायी जाती है किन्तु इनकी शैली अपेक्षाकृत परिमार्जित एवं भावात्मक है। भट्टजी की भाषा बड़ी जानदार और सूझ विलक्षण है। इनके विचारात्मक निबंधों में तथ्यों के साथ-साथ युक्तियों का उचित समावेश हुआ है। दृष्टान्त एवं यथायोग्य युक्तियों

के परिमाण का समन्वय करके इन्होंने अपने निबंधों को समृद्ध बनाया है।

बालमुकुन्द गुप्त उर्दू भाषा के सुलेखक थे और उर्दू के क्षेत्र से ही हिन्दी में आये थे। इसलिए उनके हाथों में पड़कर भाषा का रूप और भी निखर गया। उसमें प्रवाह और प्राञ्जलता आ गयी और उसकी व्यञ्जनाशक्ति बढ़ गयी। यों तो एक पत्रसंपादक के रूप में उन्होंने विभिन्न सामयिक विषयों पर कितने ही लेख लिखे किन्तु उनकी शैली की विशिष्टता उनकी व्यंग्य-विनोदपूर्ण रचनाओं में ही विशेषरूप से देखने को मिली। तत्कालीन गवर्नर जेनरल लार्ड कर्जन के नाम से उन्होंने एक लेखमाला प्रकाशित की थी जिसका शीर्षक था, 'शिवशंभु के चिट्ठे'। इसमें एक पराधीन जाति की वेदनाओं की अभिव्यक्ति बड़े ही मार्मिक ढंग से हुई है। किन्तु लेखक की शैली आदि से अंत तक विनोदपूर्ण है, जिससे पाठक कहीं विरक्ति का अनुभव नहीं करता।

बीसवीं सदी के आरम्भ के साथ-साथ हिन्दी निबंध की शैली और विषयवस्तु दोनों में रूपान्तर हुआ। इस समय ही हिन्दी गद्य के क्षेत्र में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का आविर्भाव हुआ और उन्होंने भाषा के रूप को सुस्थिर एवं समृद्ध तथा विषयवस्तु के क्षेत्र को विस्तृत बनाने में अपनी शक्तियों को नियोजित किया। द्विवेदीजी के प्रोत्साहन से संस्कृत तथा अँगरेजी के कितने ही विद्वान् हिन्दी लिखने की ओर प्रवृत्त हुए। द्विवेदी-युग के आरम्भ में जिन तीन लेखकों ने अपनी विशिष्ट शैली द्वारा श्रेष्ठ निबन्धों की रचना की, वे हैं पं० माधवप्रसाद मिश्र, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और सरदार पूर्णसिंह। इसमें सन्देह नहीं कि ये तीनों ही उच्च कोटि के निबंधकार थे। पं० माधवप्रसाद मिश्र के अधिकांश निबंध धार्मिक विषयों से सम्बन्ध रखते हैं। इनके अलावा इन्होंने कुछ साहित्यिक समीक्षाएँ भी लिखीं। इनके निबंधों में भावों की मार्मिकता के साथ-साथ एक विशेष प्रकार की ओजस्विता होती थी और वाक्यों का विन्यास सरस एवं स्निग्ध होता था। गुलेरीजी के निबंधों की संख्या बहुत थोड़ी

है, किन्तु जो हैं वे बड़े ही सजीव और विवेचनापूर्ण। इन निबंधों की वाक्-विदग्धता एवं वचनवक्रता चमत्कारपूर्ण है। गहन शास्त्रीय विषयों में भी व्यंग्य एवं हास्य का सम्मिश्रण करके ये उन्हें अत्यन्त जानदार बना डालते थे। इनके इस प्रकार के निबंधों में 'कछुआ धरम' बहुत प्रसिद्ध है। तीसरे निबंधकार हैं सरदार पूर्णसिंह, जिन्होंने अपने निबंधों में एक अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया। क्या विषय और क्या भाषाशैली, सभी दृष्टियों से इनके निबंध हिन्दी में एक नई दिशा के सूचक थे। भाषा की जैसी लाक्षणिकता और भावों की मूर्त्तिमत्ता इनके निबंधों में देखी जाती है वैसी इस समय के किसी अन्य लेखक में नहीं। इनके निबंध यद्यपि भावात्मक शैली के ही अन्तर्गत आते हैं किन्तु उनका ढंग बिल्कुल अनूठा है। पाठकों को अपने हृदय की सजलता एवं भावुकता में ये बहा जैसे ले जाते हैं और उनके मन पर एक विशेष प्रभाव अंकित कर देते हैं। इनके निबंधों की संख्या तीन-चार से अधिक नहीं है। वे हैं "आचरण की सभ्यता", "मजदूरी और प्रेम," इत्यादि। इस समय के अन्य निबंध-लेखक हैं पं० पद्मसिंह शर्मा, गोपाल राम गहमरी तथा ब्रजनन्दन सहाय। इनमें पं० पद्मसिंह शर्मा की शैली विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनकी भाषा बड़ी चटुल और फड़कती हुई है। इनके लिखे हुए संस्मरणों में भावुकता के साथ-साथ मार्मिकता भी पाई जाती है। शर्माजी अपने निबंधों की गद्यशैली के लिए ही प्रसिद्ध हैं। श्री ब्रजनन्दन सहाय के निबंधों की भाषा काव्यात्मक एवं मनोरम है। अनुभूति की गहनता भी उनमें पाई जाती है।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सभी विषयों पर छोटे-बड़े मिलाकर सैकड़ों निबंध लिखे हैं। किन्तु ये सभी वस्तुतः निबंध की कोटि में नहीं आते। इनमें अधिकांश निबंध ऐसे हैं जिनसे पाठकों को विविध विषयों की जानकारी प्राप्त होती है, उनमें कुतूहल जागरित होता है और साथ ही उनका ज्ञानवर्धन एवं मनोरञ्जन भी होता है। इस प्रकार के निबंध मुख्यतः व्यास शैली में लिखे गये हैं। भाषा बड़ी विशद, प्राञ्जल एवं

बोधगम्य है। द्विवेदीजी स्वयं ज्ञानी, गुणी एवं पण्डित थे। उनमें ज्ञान-स्पृहा अदम्य थी। अपनी संचित ज्ञानराशि द्वारा हिन्दी के पाठकों को अधिक से अधिक लाभ पहुँचाकर उनमें साहित्यिक अभिरुचि तथा हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रति अनुराग उत्पन्न करना उनका लक्ष्य था। और इसमें सन्देह नहीं कि अपने इस लक्ष्य में वे पूर्णतः सफल हुए। इसके सिवा द्विवेदीजी ने कुछ ऐसे भी निबंध लिखे हैं जिनमें निबंध के अपेक्षित गुण पाये जाते हैं। इनमें सरसता के साथ-साथ वचन-विग्धता भी यत्र-तत्र पाई जाती है। शैली बड़ी रमणीय और प्रवाहपूर्ण है। जीवन में नैतिक आदर्शों की प्रतिष्ठा और जातीयता एवं देशप्रेम का उद्‌बोधन द्विवेदी युग के साहित्यकारों का प्रधान लक्ष्य था। इसलिए स्वयं द्विवेदीजी ने समाज, धर्म, शिक्षा, नीति, संस्कृति, साहित्य, राजनीति इतिहास सभी विषयों पर लेख लिखे और तत्कालीन हिन्दी पाठकों के दृष्टिकोण को व्यापक बनाया। प्राच्य एवं पाश्चात्य ज्ञानभंडार में जहाँ जो कुछ आहरण करने योग्य था उसे आहरण करके द्विवेदीजी ने अपनी सरल-सुबोध शैली में उसे पाठकों के सामने रखा। उनकी इस ज्ञानार्जन-स्पृहा का परिचय उनके लेखों और निबंधों में सर्वत्र मिलता है।

परवर्त्ती काल के निबंध-लेखकों में डा० श्यामसुन्दरदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, धीरेन्द्र वर्मा, मिश्रबन्धु, गुलाबराय, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी आदि मुख्य हैं। डाक्टर श्यामसुन्दरदास के निबंध विवेचनात्मक हैं। उनमें पर्याप्त पाण्डित्य एवं गाम्भीर्य है, किन्तु निबंधकार की वैयक्तिक अनुभूति या भावना के इनमें दर्शन नहीं होते। आचार्य शुक्ल के निबंध भी विवेचनात्मक हैं किन्तु उनकी शैली समास शैली है। साहित्य, काव्य-कला, आलोचना तथा मनुष्य के क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, आदि मनोविकारों को लेकर आचार्य शुक्ल ने सूक्ष्म विश्लेषणात्मक निबंध लिखे हैं। इन निबंधों में विचारों की गहनता होने पर भी स्थान-स्थान पर व्यंग्य-विनोद का हल्का पुट पाया जाता है। आचार्य शुक्ल के निबंध युक्तियों की सुदृढ़ भित्ति पर अवस्थित हैं। उनमें भावोच्छ्वास की अपेक्षा लेखक की स्वच्छ

वैज्ञानिक दृष्टि अधिक दिखायी पड़ती है। सूर्यलोक के समान स्वच्छ एवं अग्निशिखा के समान उज्ज्वल शुक्लजी के निबंध प्रतिभा की दीप्ति के स्पर्श से भास्वर हैं। [इसे रोमाण्टिक गद्य न कहकर, सर्वाभरण वर्जित क्लासिकल गद्य कह सकते हैं। जिस प्रकार मूर्तिकला में बाह्य-आभरण का वर्जन कर देने पर नग्न मूर्त्ति का देहसौष्ठव और भी स्पष्ट उठता है उसी प्रकार शुक्लजी के निबंधों का रूप भी परिच्छन्न एवं सुन्दर है। यह वह शैली है जिसके माध्यम से हमें आधुनिक मनुष्य के मननशील मन का, उसकी संस्कारमुक्त वयक्तिक दृष्टिभंगी का परिचय मिलता है। यह वह शैली है जिसमें लेखक की मनोदशा की स्पष्ट झलक mind in style देखने को मिलती है। श्री गुलाबराय के निबंध भावात्मक एवं विचारात्मक दोनों प्रकार के हैं। इनका एक निबंधसंग्रह "मेरी असफलताएँ" नाम से प्रकाशत है। इसमें इनकी वैयक्तिक विशषतायें मुखर हो उठी हैं।

आधुनिक काल के निबंध-लेखकों सर्वश्री नन्ददुलारे वाजपेयी, महादेवी वर्मा, सियारामशरण गुप्त, जैनेन्द्रकुमार, हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० नगेन्द्र, अज्ञेय, रामविलास शर्मा, लक्ष्मीकान्त झा, प्रभाकर माचवे, आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। शुक्लजी की परंपरा को मानकर चलनेवाले निबंध-लेखकों ने साहित्य-समालोचना सम्बन्धी जो निबंध लिखे हैं उनमें उनकी विचारधाराओं का प्रस्फुटन जिस रूप में मिलता है उस रूप में उनकी व्यक्तिसत्ता त ा व्यक्तिनिष्ठ मन ा नहीं। [जिस प्रकार काव्य में लेखक की अनुभूतिमूलक व्यक्तिसत्ता का प्रस्फुटन होता है उसी प्रकार निबन्ध में उसकी बुद्धिमूलक व्यक्तिसत्ता का। काव्य की समालोचना में बुद्धि की अपेक्षा हृदयवृत्त का प्रभाव अधिक होता है।] भाषा अलंकृत, दृष्टि मुग्ध और लेखनी भावोच्छ्वसित बन जाती है। किन्तु व्यक्तिमूलक निबंध में लेखक का व्यक्तित्व उसकी रचना के साथ इस प्रकार अनुस्यूत हो जाता है कि दोनों में किसी प्रकार का विच्छेद किया ही नहीं जा सकता। आधुनिक निबंधकारों में उनकी व्यक्तिसत्ता का ज्योतिर्मय प्रकाश उसी रूप में देखा जाता है जिस प्रकार किसी कवि की रचनाओं में।

Ex

विशुद्ध गद्य को भी उन्होंने कला का सरस रूप दे डाला है। उनकी लेखनी ने गद्य में जिस साहित्यिक सौन्दर्य की सृष्टि की है वह सर्वथा अपूर्व है। द्विवेदीजी ने एक ओर जहाँ प्राचीन साहित्य का मन्थन करके पाण्डित्यपूर्ण गवेषणात्मक निबंध लिखे हैं वहाँ दूसरी ओर उन्होंने 'अशोक के फूल', "आम फिर बौरा गये", "एक कुत्ता और एक मैना" जैसे विषयों पर भी निबंध लिखे हैं। इन निबंधों में लेखक की व्यंग्य-कुशलता के साथ-साथ उनके रचनाकौशल और शब्दसचेतनता का भी प्रमाण मिलता है। द्विवेदीजी का अध्ययन तो गंभीर एवं विशाल है ही, साथ ही इनकी दृष्टिभंगी भी बड़ी निर्मल है। मुक्त दृष्टि से उन्होंने सब कुछ को देखा है और बड़ी सहृदयता एवं आन्तरिकता के साथ अपनी अनुभूतियों को अभिव्यंजित किया है। ऐसा लगता है कि लेखक ने अपने को अनेक रूपों में विषयों के मध्य अनुभूत किया है। वस्तुविश्लेषण के साथ-साथ वह आत्मविश्लेषण करता हुआ चलता है। लेखक की भाषा-शैली सशक्त एवं प्राञ्जल है और उसकी व्यंजनाशक्ति बड़ी प्रखर है।

जैनेन्द्रकुमार के निबंधों में दार्शनिकता अधिक पाई जाती है। उनके इस प्रकार के निबंधों की शैली रोचक नहीं होने से वे पाठकों को तन्मय करने में समर्थ नहीं होते। किन्तु अपने अन्य निबंधों में उन्होंने एक दूसरे ही प्रकार की शैली अपनायी है। ऐसा लगता है कि लेखक अनौपचारिक ढंग से पाठकों के साथ बातचीत करता हुआ और इस रूप में उनके साथ आत्मीयता का सम्बन्ध जोड़ता चलता है। इस प्रकार जैनेन्द्र-जी बड़ी ही सरल एवं रम्य शैली में जीवन और जगत् की गंभीर समस्याओं पर प्रकाश डालते हुए अपने पाठकों की ज्ञानस्पृहा उद्दीप्त करते हैं।

सियारामशरण गुप्त की रचनाओं में एक उत्कृष्ट निबंधकार के सभी गुणों का समन्वय पाया जाता है। सामान्य से सामान्य विषयों पर इन्होंने बड़ी आत्मीयता के साथ सरस निबंध लिखे हैं। समाज और जीवन के परिपार्श्व से ही इन्होंने अपने निबंध के लिए उपादान संगृहीत किये हैं। इन निबंधों में एक ओर जहाँ लेखक भावुक बनकर निबंध की विषय-वस्तु

को काव्यात्मक रूप प्रदान करता है वहाँ दूसरी ओर वह मधुर, मार्मिक व्यंग्य के सहारे हमारी सामाजिक दुर्बलताओं पर भो मृदु प्रहार करता है। इस प्रकार के निबंध बड़े ही मनोरंजक और हृदयस्पर्शी हैं।

श्री गुलाबराय की पुस्तक "मेरी असफलताएँ" उनके व्यक्तिगत संस्मरणों का संग्रह है। इन संमरणों की शली व्यंग्य-वनोदपूर्ण और रमणीय है। लेखक की आत्मीयता इनके साथ जड़ित होने से पाठकों को तन्मय कर डालने की शक्ति इनमें है।

श्रीमती महादेवी वर्मा के निबंध भी संस्मरणात्मक रूप में हैं। इन संस्मरणों का सम्बन्ध समाज के उस वर्ग के साथ है जो चिरकाल से अनादृत, उपेक्षित एवं पददलित रहा है। लेखिका ने दर्दी दिल लेकर बड़ी आत्मीयता के साथ इस वर्ग के कतिपय व्यक्तियों के जीवक के रेखाचित्र प्रस्तुत किये हैं। इन रेखाचित्रों में नारी-हृदय की सहज स्वाभाविक स्नेहशीलता, ममता एवं करुणा अनुपम रूप में देखने को मिलती है। शैली की दृष्टि से भी भाषा बड़ी सँवारी हुई और वाक्यरचना सुगठित है। लेखिका से समय-समय पर जिन व्यक्तियों क संपर्क हुआ उन्हें उसने कल्पना की दृष्टि से देखा और माता का हृदय लेकर उनकी वेदना का अनुभव किया। कल्पनाशक्ति का प्राचुर्य्य ही तो मनुष्य को कवि बनाता है। कल्पना-शक्ति की प्रचुरता में ही प्रेम की करुण, कोमल अभिव्यक्ति होती है। महादेवीजी के इन रेखा-चित्रों में कविता, कहानी और चित्रकला के तत्वों का एक साथ सम्मिश्रण होने से ये पाठकों के भावों को आन्दोलित और उनकी संवेदनाओं को उत्तेजित किये बिना नहीं रहते। "अतीत के चलचित्र" और "स्मृति की रेखाएँ" इनके संग्रह-ग्रन्थ हैं।

श्री प्रभाकर माचवे ने सर्वथा आधुनिक ढंग के व्यक्तिगत निबंध लिखे हैं। इनकी शैली प्रयोगात्मक होने के कारण अपनी विशिष्टता लिये हुए है। इस कोटि के निबंध अभी तक हिन्दी में विरले ही देखने को मिलते हैं। "खरगोश के सींग" में हास्य एवं व्यंग्य के चमत्कार के साथ-साथ

गहन एवं विस्तृत अध्ययन देखने को मिलते हैं। अभिव्यञ्जना-शैली सर्वथा नूतन और वाक्यों की प्रेषणीयता अद्‌भुत है। इसका पहला लेख "एक कुत्ते की डायरी", "घूसे," "जब" आदि छोटे-छोटे लेखों में पाठकों को एक ऐसी सरसता मिललेगी कि ग उन्हें पढ़ते समय सर्वथा आत्मविस्मृत बन जायँगे। युग की समस्याओं एवं विडम्बनाओं को इस प्रकार व्यंग्य-विनोदपूर्ण शैली में पाठकों के मन में उतार देने में लेखक को अवश्य सफलता मिली है।

व्यक्ति-निष्ठ निबंधों में विषय की अपेक्षा व्यक्ति के व्यक्तित्व का ही अधिक गौरव होता है। इस प्रकार के निबंधों से हमारे नित्य के जीवन का कोई वास्तविक प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। वस्तुनिष्ठ निबंधों में विषय का जो गौरव होता है वह सहज ही समझ में आ जाता है। वह विषय देश या समाज या अन्य किसी वस्तुजिज्ञासा के ऊपर आधारित रहता है। यहाँ लेखक का सम्बन्ध वास्तविक जीवन के साथ घनिष्ठ रूप में होता है। व्यक्तिनिष्ठ निबंधों में लेखक इस प्रकार वास्तविक जीवन के साथ सम्पृक्त नहीं होता। वह अत्यन्त साधारण विषयों को लेता है—ऐसे विषय जिन पर भूलकर भी कभी हमारा ध्यान नहीं जाता। हम उन्हें विवेचना योग्य नहीं समझते। किन्तु इस प्रकार के साधारण और तुच्छ विषय ही लेखक के आत्म-सचेतन एवं स्पर्शकातर मन को नाना रूपों में प्रभावित कर डालते हैं। इसलिए अँगरेजी में इस प्रकार के निबंधों का एक नाम 'लिरिकल एसे' है। ऐसे निबंधों में लेखक मौनटेन के शब्दों में अपने आपको चित्रित करता है—अपने व्यक्तिगत विचारों को कलात्मक रूप प्रदान करके पाठकों के सामने उपस्थित करता है। इनमें व्यक्ति का मन ही आलोचना का विषय बन जाता है। व्यक्ति की दृष्टिभंगी, अनुभव करने की उसकी शक्ति, अपने अनुभव को व्यक्त करने का उसका विशेष ढंग, उसकी भाषा ये सब मिलकर उसके निबंधों में उसके व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। इस रूप में लेखक अपने व्यक्तित्व को अपने निबंधों में उतार देता है जैसा

कि श्रेष्ठ निबंध-लेखक मैक्सबीयर बीम के सम्बन्ध में वर्जिनिया उल्फ ने

लिखा है :—He has brought personality in literature. शरदृतु के लघु मेघखण्ड के समान लेखक के मन में एक-एक विचारतरंग उठती है, हो सकता है कि एक के साथ दूसरे का कोई भी सम्बन्ध न हो, किन्तु सब एक साथ फूल की तरह माला के रूप में पिरोये हुए हों। लेखक एक विषय को लेकर निबंध आरम्भ करता है, वह विषय उसके मन में एक भाव, एक आइडिया जाग्रत कर देता है—फिर उस भाव के सदृश दूसरा कोई भाव मन में उत्थित होता है और उसके साथ युक्त होकर एक निबंध का रूप ग्रहण कर लेता है।

आधुनिक व्यक्तिगत निबंधों में हम लेखक के जिस मन का परिचय पाते हैं वह मन उसका ऊपरी मन होता है। अर्थात् इस प्रकार के निबंधों में उसके मन के गाम्भीर्य का प्रकाश नहीं होता। चेतना के ऊपरी स्तर पर जो सब विचार बुद्-बुद् की तरह उठते और विलीन होते रहते हैं उन्हें ही लेखक साहित्य के माध्यम से रूपायित कर देता है। लेखक अत्यन्त सजग मन लेकर क्षण-क्षण में घटित होनेवाली घटनाओं और दृश्यों को ग्रहण करता है और इनकी जो छाप उसके मन के ऊपरी स्तर पर पड़ती है उसे ही वह अंकित करता है। इस युग के मनुष्य के लिए यह संभव नहीं है कि वह अपनी नित्य की जीवन-यात्रा में बहु विचित्र घटनाओं और विषयों से अपने को विच्छिन्न करके रखे। सबके साथ अपना संपर्क रखकर सबकी थोड़ी बहुत जानकारी रखते हुए उसे चलना पड़ता है। समाज के जीवन में इतनी समस्याएँ उठती रहती हैं, आदर्शों में इतने संघर्ष होते रहते हैं कि इनमें से किसी सुनिश्चित गम्भीर जीवन-दर्शन को अपने लिए ढूँढ़ निकालना अति कठिन है। इसलिए किसी विषय में पाण्डित्य प्राप्त करने के लिए नहीं बल्कि वर्त्तमान द्रुत परिवर्त्तनशील जीवन के साथ ताल रखकर चलने के लिए अनेक विषयों को जानने और उनकी खोज-खबर रखने की आवश्यकता होती है। आधुनिक काल के बुद्धिजीवी का मन गम्भीर होने की अपेक्षा बहुमुखी एवं प्रसारशील होता है। वस्तुओं को परखने की उसकी अपनी विशेष दृष्टि होती है और अपने विचारों

को वह एक खास ढंग से पटुता के साथ व्यक्त करता है। भाषा की अर्थ-शक्ति आज बहुत बढ़ गई है जिससे यमक, श्लेष आदि अलंकारों का व्यवहार बहुत कम हो गया है और लेखक की व्यक्तिसत्ता का प्रकाश उसकी सहज अनुभूतियों की सरल अभिव्यक्ति में होने लगा है। आज के निबंध साहित्य में हमें जीवन के ऐसे असंख्य असंलग्न चित्र देखने को मिलते हैं जिनमें किसी प्रकार का सामंजस्य तो नहीं होता किन्तु लेखक का उन वस्तुओं के प्रति आत्म-सचेतन मन उनके अंदर से झाँकता रहता है।

—पं० जगन्नाथप्रसाद मिश्र

———

प्राचीन समालोचना की कसौटी

मनीषी सर्वव्यापक स्वयंभू कवि ने शाश्वत वर्षों के लिए यथातथ्य रूप में अर्थों का विधान किया।[१] उस विधाता प्रजापति का काव्य इतना अपूर्व हुआ कि वैदिक ऋषि उल्लास से बोल उठा—'देखो, देव का काव्य ! यह न मरता है, न जीर्ण होता है।'[२] भारतीय वाङ्मय की उस सुदूर उषा में मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की प्रतिभा अजरता और अमरता का वरदान लेकर अभिव्यक्त हुई। प्रकृति की निसर्ग सुषमा का रमणीय गान छन्दों में बँधकर उनके कोमल कण्ठों से अनायास फूट पड़ा। काव्य की स्रोतस्विनी अजस्र धारा में प्रवाहित हो उठी। कालान्तर में वाल्मीकि और व्यास जैसे मुनियों ने धीरोदात्त नरपुंगवों का चरितवर्णन रामायण और महाभारत जैसे आर्ष काव्यों में प्रस्तुत किया और देववाणी संस्कृत भाषा को गरिमान्वित बनाया। उनके काव्य भी अजर और अमर हैं। संस्कृत के रससिद्ध कवि कालिदास ने जब अपना कदम काव्य-क्षेत्र में उठाया तो उन्हें आशंका हुई कि उन पर उँगली उठानेवाले कह रहे हैं कि प्राचीन अनुपम काव्यों के रहते नवीन रचना की क्या आवश्यकता और वे गंभीरता से बोल उठे—'प्राचीन है इसलिए ही सब समीचीन नहीं; और नाहीं नवीन काव्य है इसलिए निन्दनीय है। सज्जन परीक्षा करके दोनों में से किसी एक को ग्रहण करते हैं। मूर्ख ही दूसरे की प्रतीति के भरोसे अपनी बुद्धि चलाता है।'[३] उनकी सम्मति में सत् असत् का विवेक

---

१. कविर्मनीषी परिभूः स्वयं भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वती भूयः समाभ्यः। यजु० ४०।

२. पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति। अथर्व वेद

३. पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥
मालविकाग्निमित्र

करनेवाले सज्जन ही काव्य श्रवण के अधिकारी हैं क्योंकि सोने की विशुद्धि या श्यामिका आग में ही संलक्षित होती ह ।[१] वैदिक ऋषि और वाल्मीकि तथा व्यास जैसे मुनि काव्य का कुन्दन प्रथमतः लेकर आये थे इसलिए संभवतः उसकी परख की जरूरत ही नहीं हुई प्रत्युत उसी से लोक ने 'सुवर्ण' को समझा भी। जब उस तरह के नामरूपात्मक सुवर्ण का ढेर लगने लगा तो आवश्यकता पड़ी उसकी जाँच की। कालिदास ने 'सदसद्व्यक्तिहेतु' सज्जन और 'परप्रत्ययनेयबुद्धि' मूढ़ पुरुष की दो कोटियाँ बनाकर काव्य-परीक्षा का मार्ग उद्घाटित किया। संभवतः इसी तरह की परिस्थिति हिन्दी के ख्यातनामा कवि तुलसीदास के भी सामने आई। वे ग्राम्य गिरा में, भदेस भणिति में, स्वान्तःसुखाय रघुनाथगाथा निबद्ध कर रहे थे। उन्हें डर था कि 'हँसिहहिं कूर कुटिल कुविचारी। जे पर दूषन-भूषनधारी।' परन्तु उन्होंने भी सज्जनों का सहारा लिया और कहा—'निज कवित्त केहि ाग न नीका। सरस होउ अथवा अति फीका।। जे पर भनिति सुनत हरषाहीं। ते वर पुरुष बहुत जग नाहीं।।' यद्यपि नम्रता में कह तो गये—'भाषा भनिति भोरि मति मोरी। हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी।' तथापि उनकी आस्था थी कि 'जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम बादि बालकवि करहीं।'[२] और विश्वास था कि साधु समाज में उनकी 'भनिति' का सम्मान होगा। कालिदास और तुलसीदास की तरह ही सब देशों और कालों के सुकवि उन परीक्षक सज्जनों का स्वागत करते रहे हैं जो उनके काव्य-कांचन को निकषोपल पर कस सकें। आज की परिभाषा में वे परीक्षक सज्जन ही समालोचक पारखी हैं और उनकी समालोचना ही काव्य की कसौटी है। लक्ष्य ग्रन्थों के निर्माण के बाद लक्षण ग्रन्थों की आवश्यकता प्रतीत होती है उनका आदर्शमान

---

१. तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः ।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा ।। रघुवंश ।

२. रामचरितमानस—बालकाण्ड

और मूल्यांकन व्यवस्थित करने के लिए। हमें अब देखना है कि हमारी प्राचीन समालोचना की कसौटी क्या रही है; हमारे आदर्शमान और मूल्यांकन के नियम क्या रहे हैं ?

इस प्रश्न के साथ ही एक समस्या स्वतः उठ खड़ी होती है कि क्या समालोचना की कसौटी भी परिवर्तित होती रहती है जिसके कारण हमें प्राचीन और नवीन का भेद करना पड़ रहा है। अनादि काल से सुवर्ण द्रव्य एक ही रहा है और उसकी कसौटी भी वही चली आ रही है। सुवर्णकार अपनी कसौटी पर सोने की रेखा खींचकर अपनी योग्यता और अनुभव के बल पर बता देता है कि वह खरा है या खोटा या यदि पूरा खरा नहीं है तो कितना अंश खाद है। यदि सोना शुद्ध है तो किसी भी कसौटी पर खरा ही उतरेगा और उसका मूल्यांकन समुचित ही होगा। वास्तव में तो सोने की अपनी शुद्धता ही उसके मूल्यांकन का मान निर्धारण करती है। कसौटी तो केवल सहायता देती है पारखी के विश्वास की दृढ़ता के लिए। सोना और कसौटी दोनों के स्वरूप से अज्ञ व्यक्ति तो परप्रत्ययनेय बुद्धि है। उसे तो इसी से संतोष करना पड़ेगा कि प्रामाणिक सुवर्णकार की यह राय है और इसलिए मान्य है। कहा जा सकता है कि कसौटी जैसा पत्थर सोने की जाँच के लिए बहुत स्थूल आधार है; उसे तो वैज्ञानिक पद्धति से विशिष्ट घनत्व (१९-३) जैसे सूक्ष्म आधार पर परखना चाहिए। पर इससे तो इतना ही स्पष्ट हुआ कि परख करने की पद्धति में सूक्ष्मता आ सकती है। क्या सोने के द्रव्य में भी कुछ परिवर्त्तन हुआ ? प्रत्येक वैज्ञानिक इससे सहमत होगा कि सोने के आन्तरिक तत्त्व में कोई अदल-बदल नहीं है। हाँ, सोना ही समयानुसार बदलता रहता तो उसकी कसौटी भी जरूर उसी तरह बदलती जाती। कुछ विचारकों का मत हो सकता है कि काव्य का सुवर्ण भी परिवर्त्तनशील है और इसीलिए कसौटी तो परिवर्त्तनशील है ही। इसके अतिरिक्त सुवर्ण के रूपान्तर की भी तो परख होनी चाहिए। वहीं सुवर्ण कटक, कुण्डल, कर्णफूल आदि रूप धारण करता है और फिर

प्रत्येक गहना भी अनेक प्रयुक्तियों, डिजाइनों का होता है। सोने के रूपान्तरित आभूषणों में कौन कितना सुन्दर और नवीनतम प्रयोग है यह सुवर्णकार या जौहरी अच्छी तरह पहचानता है और इसके आधार पर उनकी कीमतें भी बैठाता है। किसी आभूषण में तो सौन्दर्यवृद्धि के लिए सोने में अन्य धातुओं का मिश्रण आवश्यक ही है। आन्तरिक तत्त्व के मूल्य में कमी होने पर भी रूपविधान उसे इतना कीमती बना देता है कि उसका मूल्यांकन बहुत अधिक हो जाता है। यह मूल्यांकन समय की और व्यक्ति की रुचि पर निर्भर करता है। 'विभिन्नरुचिर्हि लोकः' इस लोकोक्ति का आश्रय लेकर जौहरी अनेक प्रकार के आभूषणों का निर्माण करता है और अपने परिश्रम की लागत को मूल द्रव्य के मूल्य से नियोजित कर मूल्यांकन कर देता है। ग्राहक अपनी रुचि के अनुसार आभूषण चुनता है यद्यपि जौहरी को भी इसमें बराबर सहायता देनी पड़ती है यह बताने के लिए कि नई प्रयुक्ति कौन सी है। इस रूपान्तर की कसौटी केवल लोकरुचि और जौहरी की कारीगरी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है; पर अनेक विचारकों की सम्मति में यही सब कुछ है। कोरा सोना आभूषण का काम नहीं दे सकता। प्रयोग में वह तभी आ सकता है जब किसी रूप को अपनाये। नकली सोना भी सुन्दर डिजाइन का गहना बनकर बाजार में असली सोने के कुरूप आभूषण से बाजी मार ले जाता है। इस प्रकार न केवल सोने की परख के लिए पर उसके रूपों की परख के लिए भी कसौटी वांछनीय है और क्योंकि लोकरुचि रूपों का परिवर्त्तन करती जाती है इसलिए लोकरुचि को समझना बहुत अनिवार्य है। यह परिवर्त्तन का अंश ही प्राचीन और नवीन आदि का भेद उत्पन्न करता है। सोने और कसौटी की अप्रस्तुत योजना का इतना विस्तार हमें इसलिए करना पड़ा है कि यह हमें अपने विषय को समझने में बहुत सहायता देगी। यहीं एक और सम्बद्ध अप्रस्तुत योजना का विवेचन भी सापेक्ष है। वेदान्त दर्शन कहता है कि जगत का वास्तविक तत्त्व एक अद्वितीय ब्रह्म है और यह जगत् उसका नामरूपात्मक विवर्त्त है। दृष्टान्त

के लिए सोना ही वास्तविक तत्त्व है कटक, कुण्डल आदि केवल लोक-विश्रुत नाम और रूप हैं; पर हमारा व्यवहार चलता है नाम और रूप से ही; वास्तविक तत्त्व तो तिरोहित सा रहता है। इसी प्रकार काव्य में अद्वैत और अपरिवर्त्तनशील तत्त्व क्या है और उसकी नामरूपात्मक लीला कैसे अपूर्वता लाती है यह विवेचन विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से रोचक और उपादेय है। काव्य के अद्वितीय तत्त्व की स्थिरता ही प्राचीन समालोचना-पद्धति को अर्वाचीन समालोचना-पद्धति से पृथक् कर देती है अर्वाचीन आलोचना-पद्धति के अनुसार सब परिवर्त्तनशील और सापेक्ष है।

'वह निश्चय से रस है। रस को ही पाकर यह आनन्दमय होता है।'[१] इन शब्दों में उपनिषद् ने अद्वितीय तत्त्व की विवेचना की है। भारतीय काव्यमीमांसक भी--आचार्य भरत से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक, इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि काव्य का अद्वितीय तत्त्व 'रस' ही है। उसी रस को पाकर काव्यपिपासु आनन्दलीन हो जाता है। यदि काव्य में रस न रहता तो काव्य का काव्यत्व ही समाप्त हो जाता। काव्य का आन्तरिक तत्त्व, उसकी आत्मा या सोना रस ही है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने काव्य का लक्षण ही 'रसात्मक वाक्य' किया है। मनुष्य की आन्तरिक आनन्दवृत्ति का उद्बोध काव्य में उपलब्ध होता है। जब भावुक व्यक्ति अपने आवेष्टन की रमणीयता की अनुभूति से अभिभूत होता है और उसे बिना अभिव्यक्त किये नहीं रह पाता तब वह किसी न किसी माध्यम से उसे प्रकट कर ही छोड़ता है। वह अपनी अभिव्यक्ति की दक्षता के अनुरूप माध्यम चुन लेता है। उसे हथौड़ी और छेनी से टंकन की दक्षता है तो वह प्रस्तर से मूर्ति-निर्माण कर देता है; तूलिका और रंगों से चित्रण की कुशलता है तो पटपर चित्र-रचना कर देता है; स्वरों के आरोह और अवरोह की निपुणता है तो अपने कण्ठ से या वीणा से संगीत

---

१. रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।

प्रवाहित करता है और यदि शब्दार्थों पर पूरा अधिकार है तो उसी माध्यम से काव्य-प्रणयन में संलग्न हो जाता है। नृत्य, संगीत और काव्य आनन्द का ही आविर्भाव है। आनन्दाभिव्यक्ति के सब साधनों में सर्वोत्तम और सूक्ष्म साधन काव्य परिगणित किया गया है। इसलिए काव्य के प्रयोजनों में 'परनिर्वृति' अर्थात् परमानन्द की प्राप्ति को ही काव्यप्रकाश-कार मम्मटाचार्य ने सर्वप्रधान व्यवस्थित किया है। इस संसार में पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा को बड़ा प्रबल कहा गया है। काव्य काम, अर्थ और यश की प्राप्ति के रूप में उन एषणाओं को पूरा करता है। पर ये प्रयोजन भी परमानन्द से गौण ही हैं। काव्य कान्तासम्मित उपदेश देकर मनुष्य की धर्मपिपासा और नैतिकता को तृप्त करता है, पर यह भी उसका सीधा लक्ष्य नहीं है। प्रत्येक मनुष्य किसी दूसरे व्यक्ति से प्राप्त होनेवाले उपदेश को अपनी बुद्धि का अपमान समझकर या 'अहं' की प्रबलता के कारण शीघ्र स्वीकार नहीं करता। परन्तु वही उसके अपने व्यक्तित्व से अभिन्न होकर मिले तो उसे आत्मतुष्टि होती है और उसे ग्राह्य हो जाता है। कान्तासम्मित का तात्पर्य इसी अप्रत्यक्ष योजना से है। शिवेतरक्षति अर्थात् दुःखविनाश आनन्दप्राप्ति का ही दूसरा पहलू है। अनुकूल वेदनात्मक सुख के साथ प्रतिकूल वेदनात्मक दुःख की स्थिति उसी प्रकार संभव नहीं जिस प्रकार प्रकाश के साथ अन्धकार। काव्य का प्रणेता, श्रोता या पाठक अपनी अनुकूल वेदनात्मक आनन्दवृत्ति को तृप्त करने के लिए ही प्रवृत्त होता है। उसे करुणात्मक प्रबन्धों में भी आनन्द की उपलब्धि होती है, इसीलिए वह उन्हें साभिनिवेश पढ़ता है। यदि उसे दुःख मिलता होता तो वह कभी उनमें तल्लीन न होता। काव्य की रसप्रक्रिया या आनन्दप्रक्रिया में यह साधारणीकरण का प्रभाव है कि सब कुछ आनन्द में पर्यवसन्न होता है। काव्य की अलौकिक आनन्दानुभूति में अपने पराये के भावात्मक और अभावात्मक बोध की स्थिति ही नहीं रहती। सब सर्वसामान्य धरातल पर स्थित रहते हैं और एकाकारता से अनुप्राणित। सीमा के बन्धन का विच्छेद, अहं का तिरोभाव

ही तो भूमा का आनन्द है। अतएव काव्य के आनन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है। काव्य का प्रणयन और पठन सच्चिदानन्द के तिरोहित आनन्दांश को आविर्भूत या त्रिगुणमय अन्तःकरण के रज और तम को अभिभूत करके सत्व की प्रबलता से आनन्द को उद्भूत कर देता है। तुलसीदास ने रामचरितमानस के उपक्रम में जिसे 'स्वान्तः सुखाय' कहा है उसे ही उपसंहार में 'स्वान्तस्तमः शान्तये' कहा है। यह आनन्दानुभूति या रस ही काव्य की अन्तरात्मा और वस्तुतत्त्व है। जो काव्य इस आनन्दानुभूति में जितना योग देता है, जितना मनुष्य को अपने 'अहं' से ऊपर उठाकर एकात्मता की प्रतीति कराता है और इस तरह निष्कलुष चेतनता को आनन्दसंवलित करता है उतना ही वह अपने स्वरूप और लक्ष्य को सिद्ध कर रहा है। जो काव्य चेतनता का विभाजन करे; 'अहं' या व्यक्तित्व को प्रश्रय दे; प्रतिकूल वेदना को जन्म दे उसे काव्य के स्वरूप और लक्ष्य से दूर ही समझना चाहिए।

काव्य की अन्तरात्मा रस का सामान्य रूप तो आनन्द ही है पर उसका विशिष्ट रूप मानसिक भावों का परिपाक है। मानव का मस्तिष्क-पक्ष ज्ञान की अपार और सतत वृद्धि से संतुष्ट होता है पर हृदय पक्ष प्रेम इत्यादि भावों की परिपूर्णता में ही संतोष करता है। काव्य का विशेष सम्बन्ध भावजगत् या रागात्मिका वृत्ति से है। यह हमें नहीं भूलना चाहिए कि काव्य सीधा भाव की तृप्ति नहीं कर देता। भाव की सीधी तृप्ति तो लौकिक और व्यक्तिगत है। शकुन्तला और दुष्यन्त का पार्थिव प्रेम तो उन्हीं दो व्यक्तियों तक परिमित और उनके जीवनकाल तक सीमित रहा है पर 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में निरूपित प्रेम देश और काल की सीमा से शून्य असीमित और अलौकिक है। कवि अपनी बिधायिका प्रतिभा से अतीत या काल्पनिक प्रेम (रति) की सम्पूर्ण परिस्थिति को चित्रित करता है और साधारणीकरण के प्रभाव से उसे सर्वमानवसंवेद्य बना देता है। इस संपूर्ण स्थिति के समावेश को ही विभाव, अनुभाव और संचारीभाव से अभिव्यक्त स्थायी भाव का रस रूप में परिणत होना

कहते हैं। लोक में साक्षात् भाव का कारण काव्य में निबद्ध होकर आलम्बन विभाव, उस भाव को प्रबल करनेवाले अन्य कारण उद्दीपन विभाव, भाव से उत्पन्न होनेवाले विकार अनुभाव, कुछ समय तक साथ रहनेवाले सहकारी कारणात्मक भाव संचारी भाव और प्रारम्भ से अन्त तक रहने-वाला भाव स्थायी भाव कहा जाता ह। इन सब के सम्मिलन से रस परिणत होता है। लोक में जिस व्यक्ति में भाव की उत्पत्ति होती है वही काव्य में आकर आश्रय कहा जाता है। उस आश्रय के साथ तादात्म्य से और साधारणीकरण से कवि, पाठक, श्रोता या नाटक के दर्शक रस के आश्रय बनकर उसका आस्वाद लेते हैं और आनन्दमग्न होते हैं। शकुन्तला आलंबन विभाव है; उसकी सुन्दरता, शारीरिक चेष्टा आदि उद्दीपन विभाव है; उस विभाव से दुष्यन्त में उत्पन्न रति स्थायीभाव है; रति के कार्य शारीरिक विकार स्वेद, रोमांच आदि अनुभाव हैं; हर्ष, हास आदि संचारी भाव हैं और इन सबसे निष्पन्न रति भाव का परिपाक आनन्दात्मक शृंगार रस है। लोक में दुष्यन्त ने शकुन्तलाविषयक रति का उपभोग किया पर काव्य में वही साधारणीकृत होकर सहृदयसंवेद्य रस हो जाता है। इसी प्रकार शोक स्थायीभाव से करुण, क्रोध स्थायी भाव से रौद्र, उत्साह स्थायी भावं से वीर, हास स्थायी भाव से हास्य, जुगुप्सा स्थायी भाव से वीभत्स, भय स्थायी भाव से भयानक और विस्मय स्थायी भाव से अद्भुत रस का परिपाक होता है। इन आठ रसों के अतिरिक्त वत्सलता स्थायी-भाव से वात्सल्य, शम स्थायीभाव से शान्त रस आदि की निष्पत्ति होती है। लोक में रति, उत्साह, शोक आदि प्रधानतया समुद्भूत होते हैं इसलिए शृंगार, वीर, करुण आदि की प्रधानता काव्य में देखी जाती है। भावों की गणना सीमित नहीं। यह कविप्रतिभा पर निर्भर है कि किसी भाव की समग्र सामग्री नियोजित कर उसे आनन्द में, रस में, परिणत कर दे। वात्सल्य को मुनीन्द्र आचार्य ने रसकोटि में गिना पर उसका पूर्ण निदर्शन हिन्दी साहित्य में सूरदास ने किया। उससे पूर्व कुछ इने-गिने श्लोक वात्सल्य रस के उदाहरण थे। हिन्दी के भक्त कवियों ने देवविषयक

रति को भक्तिरस में निष्पन्न करके जनता को आनन्दमग्न किया। औचित्य और आदर्श के विचार से लोक में जिस भाव की स्थिति प्रशस्य नहीं समझी जाती उसे रसाभास की संज्ञा दी गई। परकीया प्रेम, गुरुओं का उपहास आदि अनैतिक होने से श्रृंगाराभास और हास्याभास आदि कहा जायगा; पर यह भी आनन्दात्मक होने से काव्य की आत्मा रस ही है। काव्य की आत्मा रस बहुत विस्तृत है। उसमें पारिभाषिक रस, रसाभास, भाव, भावाभास, भावशान्ति, भावसन्धि, भावशवलता आदि सबका समावेश हो जाता है। जिस साहित्य में इस भावपक्ष का या रस का समावेश नहीं वह काव्य नहीं कहा जा सकता। विज्ञान और इतिहास इसीलिए काव्य नहीं कि उनमें भाव-सम्पर्क नहीं। वैज्ञानिक वस्तुवर्णन में जितना भावावेश से शून्य है उतना सफल है। ऐतिहासिक अपने वर्णन में यदि भावुक हो उठता है तो वह इतिहास से काव्य की ओर बहक जाता है। प्राचीन समालोचना की कसौटी में रस को निष्पन्न करनेवाला काव्य सर्वोत्तम है।

काव्य की आत्मा का बोध हो जाने पर उसके शरीर की अवगति कठिन नहीं है। काव्यमीमांसकों ने पुरुष का सांगरूपक उपस्थित कर विषय को समझाने का प्रयत्न किया है। बिना आत्मा के शरीर निश्चेतन और निष्प्राण है और बिना शरीर के आत्मा को कोई जान ही नहीं सकता। पुरुष की आत्मा तक हम शरीर के माध्यम से ही पहुँचते हैं। इसी प्रकार रस काव्य की आत्मा है। शब्द और अर्थ अथवा अर्थप्रतिपादक शब्द या वाक्य काव्य का शरीर है। उदारता, वीरता आदि आत्मा के धर्मों की तरह रस के धर्म ओज, माधुर्य और प्रसाद गुण कहे जाते हैं। अन्धत्व, बधिरत्व आदि शारीरिक दोष हैं और कायरता, मूर्खता आदि आत्मिक दोष हैं उसी प्रकार काव्य में श्रुतिकटु और शब्ददोष, अपुष्टता आदि अर्थदोष और स्वशब्दोक्ति आदि रसदोष हैं। शरीर के प्रसाधन अलंकार हैं इसी तरह काव्य-शरीर के शोभाकारी कार्य शब्दालंकार और अर्थालंकार हैं। शरीर के गठन के समान काव्य की वैदर्भी, पांचाली और गौड़ी रीतियाँ हैं जिनमें शब्दों की योजना की विशेषता रहती है।

काव्य के इन सम्पूर्ण अंगों को ध्यान में रखकर काव्यप्रकाशकार ने दोष-रहित, गुणसहित और यथासंभव अलंकारयुक्त शब्द और अर्थ को काव्य कहा था। तुलसीदास इन सब अंगों का विवेचन काव्य में उचित समझते थे। उन्होंने लिखा—'आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक विधाना।। भाव भेद रस भेद अपारा। कवित दोष गुन विविध प्रकारा।।' काव्य-पुरुष की पूर्णता तो सब अंगों के उचित समावेश में ही है पर किसी एक अंग की विशेषता की ओर अधिक ध्यान चले जाने से और उस पर जोर देने से अनेक संप्रदायों की सृष्टि हो गई है। काव्य की आत्मा रस को प्रधान निरूपित करने पर बल देनेवाले काव्यविवेचक रसवादी कहे जाते हैं। रस की अपेक्षा ध्वनि को अधिक विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त करके ध्वनि-संप्रदाय का निर्माण हुआ। शब्दार्थों की व्यंजना शक्ति से वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि और रसध्वनि की प्रतीति होती है। इनमें रसध्वनि ही मुख्य और श्रेष्ठ है इसलिए ध्वनिसंप्रदाय और रससंप्रदाय में कोई बहुत बड़ा भेद नहीं। काव्यपुरुष के शरीर के प्रसाधन अलंकारों के चमत्कार को बहुत महत्त्व देनेवाले समालोचक अलंकार संप्रदाय में परिगणित हैं। प्राचीन आचार्य दण्डी, भामह आदि की परम्परा में हिन्दी के कवि केशवदास ने लिखा है—'जदपि सुजाति सुलच्छनी सुवरन सरस सुवृत्त। भूषन बिनु न विराजई कविता वनिता मित्त।।' इसी कसौटी पर नाना छंदों में उन्होंने रामचन्द्रिका का प्रकाश किया। अनेक अलंकारों से भूषित करने में उनका ध्यान काव्य-शरीर पर अधिक रह गया और परिणाम यह हुआ कि रस का निर्वाह शिथिल पड़ गया। केशवदास या रीतिकाल के अनेक कवि सोने को उतना महत्त्व नहीं देते जितना उसके रूपान्तरों को। कुछ आलोचकों को रीति ने ही इतना आकृष्ट किया कि वे काव्य में रीति को सब कुछ समझने लगे। उनकी सम्मति में पदों की योजना, उनकी समास और व्यास प्रणाली, काव्यत्व लानेवाली है; उसी में तो कवि का व्यक्तित्व शैलीकार के रूप में निखरता है। यह रीति संप्रदाय है। कुछ आचार्य वाणी की विदग्धता, कहने के अनोखेपन को ही काव्य में बहुत [illegible]

समझते थे। उन्होंने वक्रोक्ति संप्रदाय को जन्म दिया। इन संप्रदायों की कसौटी आपाततः भिन्न-भिन्न है। यदि उसी दृष्टि से काव्य को परखा जाय तो एकांकी विवेचन होगा। उन सबका सामंजस्य ही पूर्णाङ्ग विवेचन देगा।

रूपविधान काव्य की विवेचना में अपना स्थान रखता है। आनन्दानुभूति या रस शब्दों के माध्यम से प्रकट होता है। वे शब्द विशेष लय और मात्राओं की परिगणना से नियोजित होते हैं तो पद्य-काव्य की रचना होती है और यदि बोलचाल की व्याकरणसम्मतपद्धति में गठित होते हैं तो गद्य-काव्य की सृष्टि होती है। पद्य और गद्य दोनों ही अपनी विशेषता रखते हैं। प्राचीन काल में गद्य-काव्य उपेक्षित न था। 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' अर्थात् गद्य ही कवियों की कसौटी कहा गया है। गद्य में लय की मधुरिमा का आवरण कवि को प्राप्त नहीं। उसे तो अपनी वाक्यावली में प्रतिभा से चमत्कार लाना है। पद्य-काव्य में प्रबन्ध और मुक्तक; प्रबन्धों में महाकाव्य और खण्डकाव्य अपनी-अपनी विशेषताओं से संपन्न हैं। नेत्रेन्दिय के माध्यम से प्राप्त काव्य को दृश्य काव्य अथवा रूपक तथा केवल कर्णेन्द्रिय से प्राप्त काव्य को श्रव्य कहा गया है। गद्य काव्य में कथा, आख्यायिका आदि भेद हैं। गद्य और पद्यमय काव्य को चम्पू कहा गया है। इस प्रकार अनेक भेदों और उपभेदों में काव्य-रूप धारण करता रहा है। कविप्रतिभा के आधार पर नवीन काव्यरूप भी हो सकते हैं। काव्यशास्त्रियों ने इन भेदों और उपभेदों का अपने ग्रन्थों में विस्तृत विवेचन किया है। किसी कवि के काव्य का रूप निर्धारित हो जाने पर उसी दृष्टि से उसकी समालोचना अपेक्षित है। अभिज्ञान-शाकुन्तल या प्रसाद का चन्द्रगुप्त नाटक है। उसे नाटकों के लिए निर्धारित मानदण्ड से मापा जायगा। रघुवंश या रामचरितमानस महाकाव्य है; मेघदूत या पंचवटी खण्डकाव्य है; आर्यासप्तशती या विहारी सतसई मुक्तक काव्य है; कादम्बरी कथा है। नाटक में कथावस्तु, चरित्र-चित्रण और अभिनेयता ध्यान देने की वस्तु है। महाकाव्य में उदात्त चरित्र का

पूर्ण चित्रण या शीलनिरूपण, पूर्वोत्तर स्थलों की सम्बद्धता या सर्गबद्धता और प्रकृतिवर्णन मुख्य रूप से आलोचनीय हैं। खण्डकाव्य में चरित के एक अंश या एक घटना की सुसम्बद्ध योजना सबसे महत्त्वपूर्ण है। मुक्तक काव्य में पूर्वापर प्रसंग-सम्बन्ध की निरपेक्षता के साथ स्वतः पद्य की वस्तु, भाव या रस की दृष्टि से पूर्णता ख्याल में रखनी होगी। कथा में कवि-कल्पना और धारावाहिकता प्रमुख हैं। ये काव्यरूपों के कुछ उदाहरण-मात्र हैं, उनका परिगणन नहीं। रसात्मकता तो सर्वत्र अपेक्षित है।

रस में साधारणीकरणप्रक्रिया ही जनसामान्य से काव्य का संबंध स्थापित कर देती है। प्राचीन काव्य-शास्त्र लोकजीवन के आदर्श को सम्मुख रखकर ही व्यवस्था बनाता है। काव्य में अनौचित्य दोष एक विस्तृत दोष है जिसमें देश, काल की मर्यादाओं और लोककल्याण की भावनाओं के अतिक्रमण को ध्यान में रखना पड़ता है। ध्वनिकार ने रसभंग का कारण अनौचित्य बताया है और औचित्य के उपनिबन्धन को रस की उपनिषद्, परम रहस्य, कहा है।[१] काव्य के प्रत्येक रूपविधान में लोक-हित और नैतिकता को ओझल नहीं होने दिया गया है। इसीलिए नाटक में रंगमच पर विप्लव, हत्या और जुगुप्सित कृत्यों का प्रदर्शन निषिद्ध है। तुलसीदास ने काव्य का आदर्श निरूपित किया है:—

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।।

नाट्यशास्त्र में भरत ने नाटकों का लक्ष्य उत्तम, मध्यम, अधम सभी प्रकार के व्यक्तियों का मंगल और हितोपदेश निरूपित किया ह। लोक-संग्रह भारतीय संस्कृति का प्राण है। उससे काव्य अछूता किस तरह रह सकता है? यह लोकसंग्रह या लोकहित जीवन से ही प्रवाहित होता है। काव्य जीवन से प्रेरणा लेकर उसकी उन्नति की आकांक्षा से ही प्रसृत है। जीवन के यथार्थ से सर्वथा असम्बद्ध कृत्रिम रचना जन-रंजन और जन-

---

१. अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा।।

कल्याण नहीं कर सकती। काव्य की आलोचना में स दृष्टिविन्दु को विस्मृति-पथ में न रखना चाहिए।

संक्षेप में प्राचीन समालोचना की पद्धति के अनुसार काव्य में जीवन की सतत और चिरंतन भाववृत्तियों की अभिव्यक्ति से सहृदय को रसाप्लुत करने की क्षमता होनी चाहिए। और स प्रकार उसमें सीमा के बन्धनों को विच्छिन्न कर शाश्वत होने की योग्यता होनी चाहिए। इस क्षमता और योग्यता के लिए काव्य में रूपविधान की प्रतिभा-संपन्नता और लोककल्याण की भावना अपेक्षित है। यदि काव्य इस कसौटी पर खरा उतरता है तो वह अजर होगा, अमर होगा क्योंकि रस ब्रह्म का नामरूपात्मक विस्तार ही तो काव्य है।

--प्रो० वीरेन्द्र श्रीवास्तव

-----

1 काव्य का मूल तत्व - रस
रस प्रक्रिया
2 काव्य शरीर - शब्द अर्थ
गुण, रीति, अलंकार, दोष
3- काव्य की आत्मा सम्बन्धी वाद
4- काव्य का नैतिकता एवं लोकहित से सम्बन्ध।

नई समीक्षा-प्रणाली

साहित्य की आलोचना करते हुए आज हमारा ध्यान साहित्य के कतिपय सुनिश्चित और सुस्पष्ट आधारों पर जाया करता है। आज की आलोचना के ये आधार अनिवार्य और अकाट्य से हो गये हैं।

परिस्थितियाँ

इस आधार की पहली रेखा है आलोच्य वस्तु के देश-काल, प्रचलित परिस्थितियों, सामयिक समस्याओं और विचारणाओं का अध्ययन और निरूपण। यह है काव्य के चूना, मिट्टी और गारा की नियोजना। इसे कोई कितना ही कम महत्त्व क्यों न दे, आज का कला-समीक्षक इसकी अवहेलना नहीं कर सकता। इसी उपादान से शिल्पी ने अपने लिए सामग्री चुनी है, फिर इसकी उपेक्षा की भी कैसे जायगी? इमारत की मजबूती और शिल्पी की दक्षता की परीक्षा इसी आधार पर की जा सकती है कि अपने युग की कच्ची सामग्री (Raw material) लेकर कलाकार कौन-सी कीमती चीज बना गया; अस्तव्यस्तता और अव्यवस्था को किस रूप में व्यवस्थित कर गया, कोई सुन्दर या प्रियदर्शी वस्तु दे गया या केवल भानमती का कुनबा जोड़ गया। इन सबका निर्णय बिना उसके मूल उपकरणों की जाँच किये नहीं हो सकता। प्रत्येक कलाकार अपने युग की प्रगतियों का विधायक भी है और उसकी सीमाओं से बद्ध भी। यह उसका क्षर अंश है। यह क्षर अंश कितना सबल और परिपुष्ट है, युग की परिवर्तनशील संस्कृति के स्वस्थ निर्माण में यह कहाँ तक सहायक हो सका है, यह काव्य के ऐतिहासिक आधार की विवेचना किये बिना स्पष्ट नहीं हो सकता। यह है काव्यालोचन के नवीन आधार की पहली रेखा।

कुछ लोग काव्य के इस क्षर अंश को—उसके स्थूल उपकरण को—स्वीकार नहीं करते। कवि की अक्षरता और काव्य के शाश्वत स्वरूप के प्रति उनकी जो आसक्ति है, वही उन्हें इसके क्षर अंश को स्वीकार नहीं करने देती। किन्तु यह एक भ्रामक मनःस्थिति का द्योतक है। किसी भी श्रेष्ठ कवि में सौन्दर्य की शाश्वत कला की प्रतिष्ठा हमें मिल सकती है। किन्तु क्या इसका यह भी अर्थ है कि उन सभी कवियों के प्रेरक उपकरण भी एक से ही है। यह तो हम प्रत्यक्ष ही देखते हैं कि कोई भी दो महान् कवि एक से उपादानों को लेकर नहीं चलते, सब में विचारों की कुछ न कुछ भिन्नता दिखाई देती है। सब की सौन्दर्य-सामग्री अपनी-अपनी विशेषता रखती है। सब अपने-अपने युग के भाव, भाषा और साधन-प्रसाधनों से प्रभावित हुए हैं। ऐसी अवस्था में काव्य के अक्षर सौन्दर्य और उसके क्षर उपकरणों में परस्पर वैपरीत्य देखना सम्यक् दृष्टि का लक्षण नहीं है।

काव्य के इस परिवर्त्तनशील ऐतिहासिक अंग की उपेक्षा आज की समीक्षा में किसी प्रकार नहीं की जा सकती। इसका कारण यह है कि समय इतनी तेजी से बदलने का आभास देता है और समय से भी अधिक काव्य-शैलियाँ इतनी बहुमुखी हैं और विवेचना की शब्दावली इतने प्रबल वेग से परिवर्तित हो जाया करती है कि दो प्रकार की भ्रांतियाँ खूब आसानी से फैल सकती हैं। एक तो यह कि हम पूर्वयुग की अभिव्यक्ति ही सब कुछ मानकर बैठ जायँ और आगे बढ़ने से इनकार कर दें और इसके विपरीत दूसरी यह कि पूर्ववर्त्ती काव्य की एकदम ही अवहेलना करने लगें। इन दोनों खतरों से बचने के लिए और काव्य-विवेक को संयमित बनाने के लिए ऐतिहासिक अन्वेषण आज अनिवार्य हो गया है।

इस ऐतिहासिक अध्ययन की जहाँ अपनी सुस्पष्ट उपयोगिताएँ हैं, वहाँ इसके दुरुपयोगों से भी हमें सावधान रहना चाहिए। जहाँ तक यह अध्ययन कवि और काव्य की वास्तविक कलात्मक समीक्षा में सहायक हो अथवा जहाँ यह काव्य-रचनाओं में प्रकट होनेवाले युग के सांस्कृतिक

प्रवर्तनों का परिचय करा सके, वहाँ तक इसकी वास्तविक उपयोगिता है। किन्तु जब यह अध्ययन स्वयं अपना लक्ष्य बन जाता है अथवा किसी प्राचीन सांस्कृतिक या दार्शनिक परिपाटी से ऐसा रूढ़ संबंध स्थापित कर लेता है जिससे काव्य-विवेचना का वास्तविक सम्बन्ध नहीं, तब वह कला आलोचना के लिए सहायक नहीं, बाधक बन जाती है। हिन्दी में ऐसे ही आलोचकों का आधिक्य है जो किसी समय-विशेष के काव्य में पाये जानेवाले सांस्कृतिक और दार्शनिक स्मृतिचिह्नों के हाथ अपने को सुपुर्द कर चुके हैं। ऐसे आलोचक सांस्कृतिक विकास और काव्यालोचना के मार्ग में अनाकांक्षित अवरोध उत्पन्न करते हैं।

यहाँ मैं एक उदाहरण देकर इस विषय को और भी स्पष्ट करना चाहूँगा। श्री मैथिलीशरणजी के काव्य को लीजिए। उसमें हमें प्राचीन रूढ़ियों को बदलने का एक उपक्रम आरंभ से ही मिलता है। इस पर बहुत-से प्राचीनता-प्रेमी यह कहेंगे, जैसा कि वे कहते भी हैं कि मैथिली-शरणजी प्राचीन भारतीय संस्कृति के पृष्ठपोषक नहीं हैं। उन्होंने जिन चरित्रों की अवतारणा की है वे क्रमागत मान्यताओं के प्रतिकूल हैं। इसके विपरीत वे नये प्राचीनता-प्रेमी, जो गुप्तजी के पश्चात् होनेवाले काव्योत्थान को देख चुके हैं, यह कहने का साहस करते हैं कि गुप्तजी ही प्राचीन संस्कृति के अवशेष प्रतिनिधि हैं। इन दोनों ही आलोचना-श्रेणियों में सच्चे ऐतिहासिक अध्ययन और सांस्कृतिक विकास की जानकारी का अभाव दीखता है। कम-से-कम वे तटस्थ दृष्टि से विचार नहीं कर रहे। इससे भी अधिक चिंतनीय बात यह है कि इस ऐतिहासिक अध्ययन का प्रयोग गुप्तजी के काव्य की कलात्मक मीमांसा में नहीं किया जा रहा, उनके आरंभिक प्रयासों और खड़ी बोली के शैशव-काल की सृष्टियों को इस रूप में उपस्थित किया जा रहा है मानो गुप्तजी किसी समृद्ध कला—युग के कवि हों। कला की जो छोटी-छोटी सहज सौन्दर्य-भंगिमाएँ उनमें हैं, महाकाव्य के निर्माण की जो अनिवार्य अक्षमता उनमें है, कथा के सूत्र के सहारे भावनाओं को उद्रेक करने की जो प्राथमिक कला उनकी

है, काव्य की जो सीमित किन्तु निर्दिष्ट शक्ति उनकी है, इतिहास के प्रकाश में उनका अनुसंधान, विवेचन और मूल्य-निर्धारण हमें करना चाहिए। किन्तु हम प्रायः आदर्श, मर्यादा, चरित्र-चित्रण जैसे शब्दों के मोह में पड़कर काव्य के लिए अल्प महत्त्व के विषयों का अनीप्सित और अनावश्यक विस्तार करने लगते हैं, मानो यह इजहार कर देते हैं कि काव्य-विवेचन में ऐतिहासिक अनुशीलन को किस रूप में लिया जाय, यह भी हम नहीं जानते।

संक्षेप में हम फिर कहेंगे कि इतिहास के आलोक में हमें कवि की कृति की ऐसी भूमिका तैयार करनी चाहिए जिससे साहित्य और संस्कृति के विकास में उस कवि के स्थान और उसकी सच्ची देन का परिचय मिल जाय और उसी भूमिका पर खड़ी हुई कवि के व्यक्तित्व और उसकी कला-कृति का स्वरूप ठीक तरह से देखा जा सके।

शैलियाँ, वाद और जीवन-दृष्टि

यह तो हुई समीक्षा के आधार की पहली रेखा। काव्यालोचना की दूसरी रेखा है काव्यवस्तु की परीक्षा और काव्य के साँचों, शैलियों और बंदिशों आदि का अध्ययन और उद्घाटन। काव्य-वस्तु की परीक्षा से मेरा मतलब उस सारी सामग्री की जाँच से है जो उस कृति में नियोजित की गई है। यह सामग्री किस रूप में है, किस क्रम से और किस उद्देश्य से उसकी नियोजना की गई है, क्या हम उसे कुछ विशिष्ट वर्गों, विचार-धाराओं, भाव-धाराओं या वादों में विभक्त कर सकते हैं, काव्य-वस्तु की परीक्षा में ये सब प्रश्न हमारे सामने आते हैं। एक उदाहरण लेकर देखिए। प्रायः कहा जाता है कि प्रेमचन्द और गोर्की के उपन्यासों की कथा-वस्तु में बहुत बड़ा साम्य है। किन्तु जब हम उन दोनों की कथा-सामग्री को देखते हैं, तब उसका सबूत हमें नहीं मिलता। गोर्की में वर्ग-चेतना सुस्पष्ट है और वर्गों का संघर्ष दिखाना ही उसके अधिकांश साहित्य का लक्ष्य है। किन्तु प्रेमचन्द की कथावस्तु न तो संघर्ष के आधार पर नियो-

जित है और न उसका लक्ष्य वर्गों के द्वन्द्व को सामने रखना है। उन्होंने समाज और व्यक्ति के अनेकमुखी जीवन का खाका खींचा है, किन्तु वर्ग-संघर्ष के या सामाजिक क्रान्ति के उद्देश्य से नहीं, कम-से-कम वह उद्देश्य उभर कर सामने नहीं आया। इस कारण हम प्रेमचन्द और गोर्की की उपन्यासवस्तु को एक ही वर्ग में नहीं रख सकते। यदि औपन्यासिक वस्तु में अधिक समानता होती तो भी दोनों का साहित्यिक उत्कर्ष भिन्न ही होता।

प्रायः ऐसा भी देखा जाता है कि एक ही उद्देश्य को लेकर एक ही अथवा भिन्न-भिन्न साहित्यकार काव्यवस्तु का भिन्न प्रकार से प्रयोग करते हैं। कहीं वे रोमांचक प्रेम-कथाओं का आश्रय लेते हैं, कहीं व्यंग्यात्मक शैली अपनाते हैं और आदर्शात्मकता की ओर झुक जाते हैं। कहीं बौद्धिक अंश की और कहीं भावात्मक अंश की प्रधानता देखी जाती है। कहीं जीवन के स्थूल अंशों को उपादान बनाते हैं और कहीं उसके रमणीय अंशों को। आधुनिक साहित्य की यह बहुरूपता देखकर हमें आश्चर्य हो सकता है, किन्तु इसमें संदेह नहीं कि इन बहुरूपी काव्य-वस्तुओं का विन्यास एक ही समय में और एक-सा ही उद्देश्य लेकर हुआ है। ऐसी अवस्था में कथावस्तु की सजग परीक्षा, उसकी प्रेरक शक्तियों और लक्ष्यों का सुस्पष्ट निर्देश और भी आवश्यक हो जाता है।

हमारी नई कविता छायावाद या रहस्यवाद कहलाती है। ये वाद आध्यात्मिक घेरे के अंतर्गत हैं, इसलिए प्रायः यह समझ लिया जाता है कि इस कविता का हमारे सामयिक जीवन से कुछ संबंध ही नहीं है। किन्तु काव्य-वस्तु की जाँच करने पर स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक काव्य की शैली छायात्मक या रहस्यात्मक है, किन्तु इसमें सामयिक प्रेरणाएँ, विचारणाएँ और प्रगतियाँ भी कुछ कम मात्रा में नहीं। इसलिए एक ओर जहाँ हम अपने कुछ छायावादी मित्रों की भाँति यह मानने को तैयार नहीं हैं कि छायावाद या रहस्यवाद ही उत्कृष्ट काव्य का एकमात्र पर्याय है और उसका अंत होने पर काव्य का भी अंत हो जायगा, वहाँ दूसरी

ओर नवीन काव्यवस्तु को देखते हुए यह भी कहने का साहस नहीं किया जा सकता कि छायावादी काव्य नवीन जीवन से असंबद्ध है और केवल 'असीम के स्वप्न' देखता रहा है।

कल्पना का प्राधान्य और सौन्दर्य-सृष्टि की सूक्ष्मता आदि नवीन काव्य के कुछ ऐसे गुण हैं जो उसे स्मरणीय रक्खें, किन्तु इनके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि कल्पना ही काव्य है अथवा आज की कविता में ही सौन्दर्य की अभिव्यक्ति हुई है। काव्य के उपादान समय के साथ सदैव बदलते रहे हैं, इसलिए हमारे कवि-मित्रों को यह आशंका न होनी चाहिए कि काव्य-वस्तु के बदल जाने पर, अथवा 'हँसिया-हथौड़ा' के संकेतों से सूचित की जानेवाली नई जीवन-प्रगति का पल्ला पकड़ते ही काव्य की इतिश्री हो जायगी। ऐसा समझना असाहित्यिक होगा। काव्य किन्हीं विशेष कला-शैलियों या जीवन-अवस्थाओं का गुलाम नहीं है। वे वस्तुएँ, विचार-धाराएँ या जीवन-अवस्थाएँ वहीं तक आवश्यक हैं, जहाँ तक वे काव्य-निर्माण में सहायक हैं।

न नवीन और न प्राचीन काव्य-वस्तु या विचार-धारा ही काव्य की कोई कसौटी हो सकती है, इस संबंध में काव्य किसी प्रकार की सीमाएँ नहीं स्वीकार कर सकता। प्राचीन काव्यवस्तु के उदाहरणस्वरूप पवित्रतम रामकथा को ही लीजिए। आज भी इस कथा के अंशों को लेकर रूढ़िबद्ध पवित्रता का पाठ पढ़ाया जा रहा है, किन्तु उससे क्या काव्य की कोई विशेषता सिद्ध होती है? इसी प्रकार नवीन विचार-धाराओं और काव्य-वस्तुओं को लेकर भी रचनाएँ हो रही हैं, किन्तु क्या वे सब की सब श्रेष्ठ काव्य कही जा सकती हैं? उदाहरण के लिए श्री सुमित्रानंदन पंत के नये काव्य-प्रयोगों को लीजिए। यद्यपि उनमें बदलते हुए समय के संस्कार मिलते हैं, किन्तु उन्हें नये प्रवर्तक काव्य की पदवी देना संभव नहीं है। उनमें या तो कोरा सिद्धान्त-निरूपण दिखाई देता है या उनमें अवास्तविक काव्यानुभूति दिखाई देती है। यहाँ मेरा मतलब नवीन विचार-धारा या नये दर्शन के संबंध में 'हाँ' या 'न' करना नहीं है। मेरा कहना इतना

ही है कि कोई भी विचार-धारा, कोई भी दर्शन अथवा कोई भी जीवन-परिस्थिति जब तक अपने साथ एक अनिवार्य आस्था, एक ज्वलंत विश्वास लेकर नहीं आती, तब तक वह इसी प्रकार के कृत्रिम काव्य का सृजन करती रहेगी, जो 'आज और है और कल और'।

नई काव्य-धारा अपने अंतरंग अक्षय स्रोतों को जब नई जीवन-भूमि से उत्सर्जित करेगी—-अभी ही उसके चिह्न दिखाई दे चुके हैं और आगे अधिकाधिक दिखाई देंगे—तब हम यह अच्छी तरह समझ सकेंगे कि वास्तविक क्रांतिकारी काव्य में और कृत्रिम कला-प्रदर्शन में क्या अंतर है।

साँचे, शैलियाँ और बंदिशें भी काव्य का अंग हैं और इनका भी अपना अलग महत्त्व है। उदाहरण के लिए गोर्की और प्रेमचन्दजी को ही फिर से लीजिए। गोर्की के उपन्यासों की टेकनीक जितनी सुगठित, प्रौढ़ और सप्रयोजन है, साथ ही साँसों को भाँति जैसी सहज और बेपहचान है, प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में वैसी नहीं। श्रेष्ठ कलाकार अपनी कला-वस्तु को जिन सूत्रों के सहारे सहज आकर्षक, विश्वसनीय और अनिवार्य बना देता है, दूसरे नहीं बना पाते। प्रेमचन्दजी की कहानियों में ये बंदिशें उनके उपन्यासों से अधिक चुस्त बनकर आई हैं। काव्य-साहित्य के इन प्रकारों और प्रणालियों का अध्ययन भी साहित्य-समीक्षा के लिए अपेक्षित है।

काव्य-संवेदना

किन्तु काव्य-समीक्षा का मुख्य आधार वह तीसरी रेखा है जो समय, स्थिति, विचार-धारा, काव्य-शैली आदि के अनेकानेक भेदों के रहते हुए भी काव्य की एक अपनी माप बनाने का प्रयास करती है। अवश्य यहाँ भी सृजन के विशाल या लघु परिमाण के आधार पर कवि के महत्त्व का लेखा-जोखा शेष रह जाता है, किन्तु काव्य-गुण की श्रेष्ठता के आधार पर इनकी एक पंक्ति बनाई जा सकती है। इस युग में जब क्षण-क्षण में काव्य की माप-रेखाएँ बदलती रहने [illegible] आभास दे रही हैं, बहुत से

लोगों को सन्देह हो सकता है कि काव्य की स्थिर माप की यह धारणा कितने दिन ठहरेगी, किन्तु युगों, समाजों, संस्कृतियों आदि के बदल जाने पर भी और काव्य-शैलियों में, विचार-धाराओं में तथा साहित्यगत मान्यताओं में उथल-पुथल मचे रहने पर भी हम इस विश्वास को नहीं छोड़ सकते कि कला का अपना आधार और सौष्ठव तब तक विलुप्त न होगा जब तक मानव-सभ्यता विनष्ट नहीं हो जाती। इसी आधार के रहते हम सभ्य संसार के प्राचीन और नवीन श्रेष्ठ कवियों को, उनकी विभिन्न विचार-धाराओं, कथाक्रमों और परिस्थितियों के अशेष रूपान्तरों के ऊपर जाकर, एक श्रेणी में रखते हैं। इसी के बल पर हम सूर और तुलसी के काव्यगत सौन्दर्य को बिहारी, मतिराम या पद्माकर की पहुँच के ऊपर, बहुत ऊपर रखने का साहस करते हैं और यह आशा मिटने नहीं देते कि इस स्थिर सत्य को कोई भी नवागत काव्यवाद टस-से-मस नहीं कर सकेगा। इसी की बुनियाद पर हम विभिन्न कवियों की विभिन्न कृतियों का, विभिन्न समयों के साहित्यिक सृजनों और एक ही कवि की विभिन्न रचनाओं का तारतम्य स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। कोई ईश्वरवादी हो या अनीश्वरवादी, व्यक्तिवादी हो या अव्यक्तिवादी, सोशलिस्ट हो या असोशलिस्ट उस पर 'लेबल' चाहे जो लगा हो--हम उसकी सारी कृतियों का काव्य-सौन्दर्य अनुभव कर सकते हैं। यहाँ तक कि उसकी एक रचना को दूसरी रचना से ऊपर या नीचे रखकर देख सकते हैं। क्या यह बिना काव्यगत स्थायी या स्थिर माप के संभव है! अथवा क्या व्यक्तिगत रुचि, संस्कार या मापहीनता इसके आड़े आ सकती है!

मैं पूरे आग्रह के साथ यह कहना चाहूँगा कि यह माप कदापि मापहीनता नहीं है। यह काव्यालोचना का शीर्षफल है, जो निरंतर काव्याभ्यास द्वारा और अत्यंत परिमार्जित, सजग, सूक्ष्म और व्यापक चेतना के योग से प्राप्त होता है। अवश्य इसमें काव्यगत उन समस्त उपकरणों का आकलन भी सम्मिलित है जिनका ऊपर विवरण दिया गया है, किन्तु यहाँ उन

सबका समाहार या समापवर्त्तन कर लिया गया है। यहाँ विचारधाराएँ, काव्य-शैलियाँ और बंदिशें आदि सब अपना पृथक् अस्तित्व खोकर उन सब से निर्मित होनेवाले काव्य-सौन्दर्य में परिणत हो जाती हैं, जिसका सम्यक् 'संवेदन' ही काव्यालोचना का प्राण है। संसार की सभी श्रेष्ठ कला-कृतियों में यह 'संवेदन' अपनी पूर्ण परितृप्ति प्राप्त करता है, किन्तु इसके सूक्ष्मतम अशेष भेदोपभेदों की भी अवहेलना नहीं की जा सकती।

आप कह सकते हैं कि इस शाश्वत संवेदन में काव्य-विवेचन के वे बहुत-से पहलू छूट जाते हैं जिनका अन्य दृष्टियों से बहुत बड़ा मूल्य है। उदाहरण के लिए इसमें कवि द्वारा नियोजित घटनाओं के नैतिक पक्ष पर कुछ भी विचार नहीं हो पाता। वाल्मीकि ने सीता के निर्वासन-प्रसंग का अपने काव्य में स्थान दिया है। राम के चरित्र पर इस निर्वासन की क्या प्रतिक्रिया होती है, उनका यह कार्य कहाँ तक उचित या अनुचित है, इस पर परस्पर अत्यन्त विरोधी विचार प्रकट किये गये हैं। किन्तु काव्य-संवेदन में इनका कुछ भी स्थान नहीं। इस शंका का सीधा उत्तर यह है कि वाल्मीकि ने स्वयं और सीता द्वारा भी राम को इस कृत्य पर उन्हें खूब आड़े हाथों लिया है, किन्तु काव्योत्कर्ष की दृष्टि से सीता या राम के नैतिक पक्ष-विपक्ष का प्रश्न नहीं उठता। संपूर्ण प्रसंग जिस असाधारण भावोत्तेजना की सृष्टि करता है और उस स्थिति की जैसी मार्मिक व्यंजना कवि की वाणी करती है, वही 'काव्य-संवेदन' की मापक होती है। सभी नैतिक और बौद्धिक पक्षों-विपक्षों का काव्यात्मक समाहार ही संवेदना का विषय है। कला-विवेचना की इस विशेषता को हमें स्वीकार करना ही होगा।

काव्य के भीतर कैसा मर्मपूर्ण मानव-जीवन का स्वरूप निहित है और कला की सीमा में उसका कैसा मनोरम और प्रभावशाली विन्यास किया गया है, ये दोनों ही सूत्र 'काव्य-संवेदन' द्वारा हमारे हाथ में आ जाते हैं। अवश्य ही यहाँ अपार मानव-जीवन में से कोई एक ही बौद्धिक या नैतिक लीक नहीं पकड़ी जा सकती। आज के साहित्य में इतने विभिन्न वाद-प्रवाद, इतनी अनेकमुखी विचार-धाराएँ, इतने किस्म-किस्म के

काव्य-साँचे और उनमें इतने प्रकार के भेदोपभेद निकलते जा रहे हैं और उनमें से एक-एक भेद या विचार-धारा की द्योतक इतने विभिन्न मूल्यों (अवश्य ही कलात्मक मूल्यों) की कला-सृष्टियाँ सामने आ रही हैं कि हम केवल उन विभिन्नताओं के अध्ययन तक सीमित नहीं रहना चाहेंगे। ऐसा करने पर हम श्रेष्ठ कलाकार और अपर में क्या अन्तर है, यह समझ नहीं सकेंगे। इस प्रकार रचनाकारों के संबंध में अन्याय हो जायगा। कहीं आधुनिकतम जीवन-वस्तु को लेकर भी कला की दृष्टि से निकृष्ट रचनाएँ सामने रखी जा रही हैं, और कहीं बड़ी समुन्नत टेकनीक के भीतर कोरी आलंकारिकता छिपी मिलती है। इसी लिए हमें इस असाधारण, विरल और कुछ अंशों में रहस्यात्मक संवेदन-प्रणाली का प्रयोग करना पड़ता है।

दो अन्य रेखाएँ

संक्षेप में यही काव्यालोचना की तीन रेखाएँ हैं। इन तीन रेखाओं के स्थान पर एक चौथी और एक पाँचवीं रेखा अभी हाल से और जोड़ी जाने लगी हैं, जिन्हें हम उपयुक्त शब्दों के अभाव में 'मार्क्स रेखा' और 'फ्रायड रेखा' कह सकते हैं। कुछ अंशों में ये दोनों रेखाएँ एक दूसरे के विपरीत दीख पड़ती हैं, किन्तु ये दोनों ही अपने को विज्ञान-सम्मत बताती हैं। एक का क्षेत्र बाह्य-जगत् है और दूसरी का अन्तर्जगत् (अन्तर्जगत् का भी वह अंश जो अन्तश्चेतन है)। इस दृष्टि से दोनों में समन्वय ढूँढ़ निकालना आसान नहीं। मार्क्स का सिद्धान्त साहित्य में जिस प्रकार प्रयुक्त हो रहा है, उसे प्रायः साहित्यिक प्रगतिवाद के नाम से पुकारते हैं। यह तो स्पष्ट है कि मार्क्स का यह सिद्धान्त सामाजिक जीवन से संबंध रखता है, कला-विवेचन से नहीं। किन्तु वर्ग-संघर्ष के आधार पर उसने जिस समाजतन्त्र का निरूपण किया, वह भविष्य का इतना सुन्दर स्वप्न था कि स्वभावतः पूर्वकाल की सारी सामाजिक और सांस्कृतिक योजनाएँ उसके सामने फीकी जान पड़ीं। जब तक संसार में यह वर्ग-रहित समाज स्थापित नहीं हो जाता और जब तक उसके साथ ही अनिवार्य रूप से आनेवाले पुरुष और नारी

की पूर्ण आर्थिक और वैयक्तिक स्वतंत्रता प्रतिष्ठित नहीं हो जाती, तब तक सच्चे सांस्कृतिक उत्थान का युग कभी आया था या आ सकता है, यह अपने हृदय से कोई भी प्रगतिवादी नहीं मानता। प्राचीन साहित्य और धर्म आदि को वे इसी दृष्टि से देखें, तो इसमें आश्चर्य ही क्या। उनकी निगाह में वर्गवादी युग की सारी सृष्टि ही मूलतः दूषित है। इस भयानक एकांगी दृष्टि से देखने पर अब तक के साहित्य में कुछ भी सुन्दर नहीं दीख पड़ता। जिनकी कुछ कलात्मक अभिरुचि है, वे यदि प्राचीन काव्य में कहीं कुछ सौन्दर्य देखते भी हैं, तो हठात् उन्हें उस समाज की याद आ जाती है जो वर्गवादी समाज था। वे विवश होकर उसकी ओर से मुँह फेर लेते हैं, अथवा ऐसी नुक्ताचीनी करते हैं जिसे सच्ची काव्य-समीक्षा में कोई स्थान नहीं मिलना चाहिए। सच्चे अर्थ में ये ही लोग प्रगतिवादी हैं और इनकी सारी सांस्कृतिक आशाएँ भविष्य में अटकी हैं। इसलिए ये एक विवादग्रस्त जीवन-सिद्धान्त को काव्य-कसौटी बना लेने की अक्षम्य गलती करते हैं। काव्य का क्षेत्र भावों और मानव की चिर दिन की अनुभूतियों और कल्पनाओं का क्षेत्र है और बाह्य-जगत् के आर्थिक या सैद्धांतिक विभेदों के रहते हुए भी मनुष्य मनुष्य है, उसके आदर्श और उसकी मानवीयता सभी सभ्य युगों में एक-सी ही ऊँची रह सकती है और साहित्य में वे ही आदर्श और वही मानव-स्वभाव प्रतिफलित हुआ करता है, यह मानने को आज का प्रगतिवादी तैयार नहीं। मार्क्स से भी अधिक ये मार्क्स के प्रगतिवादी अनुयायी कला के प्रति ऐसी भ्रान्त-धारणाएँ बनाये हुए हैं। यदि ये जानबूझकर प्रचारात्मक नहीं हैं, तो मार्क्सवादियों का यह काव्यकला-विरोधी सिद्धान्त और धारणा आश्चर्यजनक ही कही जायगी। मैं यह नहीं कहता कि सभी प्रगतिवादियों की यही धारणा है, पर प्रायः इस तरह के विचार आये दिन देखने-सुनने में आते हैं।

मार्क्सवादी सामाजिक-आर्थिक सिद्धान्त का जब काव्य अथवा साहित्य में प्रयोग किया जाता है, तब उसकी स्थिति बहुत कुछ असंगत और असाध्य-सी हो जाती है। अत्यन्त स्थूल रूप में मार्क्सवादी यदि यह कहें

कि साहित्य और कलाएँ या तो वर्गहीन समाज की सृष्टि हैं या वे वर्गवादी समाज की सृष्टि हैं। समाजवाद की प्रतिष्ठा के पूर्व का संपूर्ण साहित्य वर्गवादी या पूँजीवादी साहित्य है, अतएव वह मूलतः दूषित है। केवल वह साहित्य श्रेष्ठ और स्वागत योग्य है जिस पर पूँजीवादी समाज-व्यवस्था की छाया नहीं पड़ी। मार्क्सवादियों की यह उपपत्ति सभी दृष्टियों से थोथी और सारहीन सिद्ध होती है। पहली आपत्ति तो यही है कि इसमें साहित्यिक वस्तु के विवेचन का रंचमात्र भी प्रयास नहीं है। केवल समाजवादी साहित्य और पूँजीवादी साहित्य के दो कठघरे बनाकर मानव-समाज की संपूर्ण भावनात्मक और सांस्कृतिक संपत्ति को एक या दूसरे में बंद कर दिया गया है। पहला कठघरा दूषित और अपवित्र है, दूसरा कठघरा पूज्य और पवित्र। मानव के सामूहिक और सांस्कृतिक विकास के साथ इस प्रकार का खिलवाड़ नहीं किया जा सकता। वाल्मीकि, व्यास, होमर, दांते, मिल्टन, शेक्सपियर, कालिदास, भवभूति, सूर, तुलसी आदि मानव-संस्कृति के महान् उन्नायकों की महती जीवन-कल्पना, मानव-स्वभाव-दर्शन और अनुभूतियों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह कहना व्यर्थ है कि ये पूँजीवादी युग के कवि थे। रहे हों ये किसी युग के कवि, पर देखना यह है कि मानव-चरित्र और मानव-भावना का कितना व्यापक, समुन्नत और प्रभावशाली निर्देश इन महाकवियों ने किया है। जो सिद्धान्त इन्हें पूँजीवादी युग का कवि कहकर टालता है, वह स्वतः अपनी असाहित्यिकता का इजहार करता है और अपनी अयोग्यता का प्रमाण देता है।

कुछ मार्क्सवादी साहित्य-विवेचक इतने असाहित्यिक न होने के कारण अपने सिद्धान्त का प्रयोग एक दूसरे रूप में करते हैं। वे कवि, कलाकार अथवा साहित्यिक की व्यक्तिगत स्थिति और मनोभावना का आधार लेकर यह देखना चाहते हैं कि कौन-सा कवि आर्थिक दृष्टि से संपन्न था, उच्च वर्ग का था, और कौन-सा कवि विपन्न और दरिद्र था। जो कवि दरिद्र और निम्न वर्ग का रहा हो, वही प्रगतिशील और समुन्नत कवि माना जायगा। यह कसौटी भी अनोखी है। इसमें यह पहले से ही मान

लिया जाता है कि गरीब लेखक ही क्रान्तिकारी हो सकता है। यह निर्णय मानव-स्वभाव और चरित्र की कितनी भोंड़ी और निःसार रूपरेखा प्रस्तुत करता है, यह समझने की बात है। कोई संपन्न और उच्च कुलशील कवि समाज के दीन-दुःखी अंग के प्रति अपनी कल्पना दौड़ा ही नहीं सकता—न उनके प्रति मानसिक सहानुभूति रख सकता है! दूसरी बात यह है कि क्रान्तिकारी और प्रगतिशील होने के लिए दरिद्रता और समाज के नैतिक और सांस्कृतिक आदर्शों के प्रति अनास्था और विद्रोह अनिवार्य गुण हैं। और जिनमें ये गुण हैं, वे ही सच्चे और श्रेष्ठ साहित्यकार हैं, चाहे उनकी रचनाएँ कितनी ही साधारण या सामान्य क्यों न हों।

इन दोनों प्रवादों की मूलभूत असाहित्यिकता इतनी स्पष्ट है कि इनका समर्थन करने के लिए मार्क्सवादियों में भी अधिक उत्साह नहीं दिखाई देता। इनके बदले वे एक तीसरे सिद्धान्त की आड़ लेने लगे हैं। वर्गवाद के आधार पर सामाजिक विकास का विवरण देते हुए वे युग-विशेष की वर्गीय स्थिति का निरूपण करते हैं और उसी स्थिति-विशेष की भूमिका पर उस युग-विशेष के कवियों और साहित्यिकों की कृतियों का मूल्य निर्धारण करना चाहते हैं। उनकी दृष्टि में समय-विशेष की वर्गीय स्थिति ही वास्तविकता है, और उस वास्तविकता की नींव पर ही उस युग की कला-कृतियों और साहित्यिक सृष्टियों का भवन बना करता है। वर्ग-संघर्ष के ऐतिहासिक विकास-क्रम में वे किसी कवि को ले लेते हैं और उसके काव्य का विवेचन करते हुए यह दिखाने का प्रयत्न करते हैं कि वर्ग-संघर्ष की तत्कालीन स्थिति की ही उपज उस कवि की कविता है। किसी युग-विशेष की एक नपी-तुली वर्गीय स्थिति का निरूपण करना स्वतः एक संदिग्ध कार्य है, फिर उस नपी-तुली स्थिति के अंतर्गत किसी कवि की भावना—कल्पना और उसकी काव्य-शक्ति की नाप-जोख करना कितना विवादास्पद कार्य होगा, यह आसानी से समझा जा सकता है। इस कठिनाई को समझकर और इसकी मूलवर्तिनी त्रुटियों की जानकारी रखने के कारण ये मार्क्सवादी साहित्य-समीक्षक

इस संबंध में कई प्रकार के हथकंडे काम में लाते हैं। वे कहते तो यह हैं कि युग-विशेष की वर्ग-संघर्ष-संबंधी स्थिति की वास्तविक भूमि पर ही उस युग के कवि का कल्पना-भवन खड़ा होता है, पर अनुशीलन करते हुए वे पहले कवि की साहित्यिक विशेषताओं को ज्यों-का-त्यों मान लेते हैं और तब उन विशेषताओं का उस तथा-कथित युग-स्थिति से कार्य-कारण संबंध स्थापित करने का प्रयास करते हैं। स्पष्ट ही यह एक उल्टा और तर्कहीन क्रम है। प्रायः इस प्रकार के समीक्षक किसी कवि-विशेष के संबंध में स्थापित साहित्यिक मान्यताओं को--उस साहित्यिक उत्कर्ष को--मानकर आगे बढ़ते हैं, जिसमें उनके सिद्धान्त पर लोगों की आस्था बनी रहे। पर यह उपक्रम भी कितना छिछला और सारहीन है। यह तो काव्य-संबंधी साहित्यिक मानदंड को प्रकारान्तर से स्वीकार करने का 'मार्क्सवादी तरीका' ही हो जाता है। समय-विशेष की वर्गस्थिति को 'सत्य' मानकर उस समय के काव्य को उस 'सत्य' के आस-पास बुना हुआ कल्पना-जाल मानना, और फिर उन दोनों के अनिवार्य संबंध को सिद्ध करने के लिए उक्त काव्य की मनमानी व्याख्या करना—और साथ ही साहित्य-क्षेत्र में फैली हुई उस कवि के संबंध की साहित्यिक धारणाओं को अपनाते रहना, ये सब स्पष्टतः मार्क्सवादी साहित्य-निर्देश की ऐसी खामियाँ हैं जिनको समझने के लिए थोड़ी-सी समझदारी भी पर्याप्त है।

यही कारण है कि मार्क्सवाद की यह साहित्यिक मान्यता अब तक प्रौढ़ और परिपुष्ट रूप में साहित्यिक समाज के सम्मुख नहीं रक्खी जा सकी। इस आधार को लेकर चलानेवाले समीक्षकों में परस्पर इतनी अधिक मतभिन्नता रहती है—किसी भी कवि की वर्गभावना या वर्गीय प्रतिक्रिया का आकलन करने में इतने भिन्न मत हुआ करते हैं—कि केवल इस बात से ही सिद्धान्त का कच्चापन स्पष्ट हो जाता है। दूसरी बात यह है कि वह सिद्धान्त अपने पैरों पर खड़ा होने में असमर्थ है और बिना साहित्यिक विवेचकों के निर्णयों का पीछा पकड़े यह चल ही नहीं पाता। कल्पना की भूमि में रमनेवाले स्वतंत्र कवियों और साहित्यिकों

को वर्गवाद की खूँटी में बाँधने का प्रयत्न करना बुद्धिमानी की बात नहीं है। इसी लिए इस सिद्धान्त के हिमायतियों को पग-पग पर दूसरे मतों के साथ समझौता करना पड़ता है जिससे कि उनकी स्थिति सदैव अस्पष्ट और अनिर्णीत बनी रहती है।

वर्गवाद के इस सामाजिक या वर्गीय 'सत्य' से नितान्त भिन्न और उसकी प्रतिक्रिया में फ्रायड तथा अन्य मनोविश्लेषण-वेत्ताओं का एक नया मत भी चल पड़ा है, जिसके आधार पर साहित्यिक समीक्षा-संबंधी नई चर्चा होने लगी है। मार्क्सवादी वर्ग-सत्य या सामूहिक सत्य के स्थान पर ये मनोविश्लेषक व्यक्ति की निजी चेतना को––चेतना क्यों अंतश्चेतना को––उसके व्यक्तित्व का चरम सत्य मानते हैं और काव्य-साहित्य में उस अन्तश्चेतना की अभिव्यक्ति को ही प्रमुख तत्त्व ठहराते हैं। व्यक्ति की चेतना वा अंतश्चेतना के निर्माण में सामाजिक अथवा सामूहिक स्थितियाँ योग देती हैं, परन्तु कवि की अंतश्चेतना ही अंततः वह स्वतंत्र और मौलिक सत्ता है जो उसके काव्य-निर्माण के लिए उत्तरदायी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर मार्क्सवादी सामाजिक स्थिति (वह भी वर्गीय स्थिति) को सत्य मानकर कवि-कल्पना को उसकी छाया या प्रतिबिंब मानते हैं, वहाँ दूसरी ओर मनोविश्लेषण-वादी सामाजिक गतिविधि या स्थिति से काव्य का संबंध न मानकर व्यक्ति की ऐकान्तिक अन्तश्चेतना को काव्य का प्रेरक और विधायक ठहराते हैं। स्पष्ट है कि दोनों मत अपने मूल दृष्टिकोण में एक दूसरे के विपरीत और विरोधी हैं।

अन्तश्चेतना-वादी मत यह है कि काव्य की सत्ता अत्यंत ऐकान्तिक और मनोमयी है। व्यक्ति की चेतना पर पड़नेवाले सामाजिक प्रभाव और संस्कार काव्य के लिए उपादेय नहीं होते––सामाजिक परिस्थितियाँ, समस्याएँ और प्रश्न तो काव्य के लिए और भी दूरवर्ती वस्तुएँ हैं। काव्य और कलाओं की उद्भावना कवि के अन्तरंग व्यक्तित्व या अन्तश्चेतना से होती है––ठीक वैसे ही जैसे स्वप्नों का सृजन व्यक्ति की जागरूक

चेतना नहीं करती, उसकी अन्तर्वर्ती सत्ता स्वप्नों का सृजन करती है। काव्य भी एक स्वप्न ही है। कल्पना-व्यापार भी स्वप्न-प्रक्रिया ही है। जिस प्रकार स्वप्न में अनेक प्रतीक और मूर्त स्वरूप अन्तश्चेतना की सृष्टि बनकर विचरण करते हैं, उसी प्रकार काव्य की कल्पनाएँ और प्रतीक-विधान भी अन्तश्चेतना की ही उपज होते हैं। यदि उनका निर्माण कवि की अन्तर्वर्ती चेतना नहीं करती, तो वे कल्पनाएँ और वे अप्रस्तुत मूर्त-विधान सच्चे काव्य के उपादान न होकर कृत्रिम कविता की सृष्टि करेंगे। इस प्रकार मनोविश्लेषण-वादी साहित्यिक मत अन्तश्चेतना के द्वारा उद्भूत प्रतीकों और कल्पना-रूपों को ही वास्तविक काव्य का आधार मानता है।

हमारी चिर दिन से चली आती हुई साहित्यिक धारणा और साहित्यिक विधियों के अनुसार ये दोनों ही——मार्क्सवादी और अन्तश्चेतनावादी——दृष्टिकोण और मत एकांगी हैं। अधिक से अधिक ये साहित्य की दो धाराओं का——उद्देश्य-प्रधान सामाजिक धारा और व्यक्तिमूलक एकान्तिक धारा—के प्रेरणा-सूत्रों का आभास देते हैं। परन्तु ये साहित्य की प्रशस्त उद्भावना और विकास-भूमि का परिचय नहीं देते और साहित्यिक वैशिष्ट्य के आधारों का आकलन नहीं करते। मार्क्सवादी मत को मान लेने पर कवि-कल्पना और काव्य की प्रसार-सीमा वर्ग-संघर्ष की स्थिति-विशेष से ही संबद्ध और उसी से परिचालित माननी पड़ेगी और दूसरी ओर मनोविश्लेषक मत के अनुसार काव्य को केवल स्वप्न का स्वरूप मानना पड़ेगा। ये दोनों मत परस्पर विरोधी हैं ही, स्पष्टतः अतिवादी भी हैं। कुछ विशेष प्रकार के काव्य ही इन निर्देशों की सीमा में आ सकेंगे। अधिकांश काव्य—और श्रेष्ठ काव्य इन प्रतिबंधों और निर्देशों से बाहर ही रह जायगा। आज तक जिसे हम सांस्कृतिक और भावात्मक दृष्टियों से श्रेष्ठ काव्य मानते आये हैं, उसमें सामाजिक और भावात्मक दृष्टियों का समाहार होता रहा है—और फिर भी वह सामाजिक और वैयक्तिक सीमाओं से परे मानव की सम्पूर्ण अन्तर्बाह्य सत्ता

से सम्बद्ध और उसकी उच्चतम भाव-भूमिका की पूर्ति और समाधान करने-वाला सिद्ध हुआ है। साहित्य और कला के इस व्यापक और क्रमागत स्वरूप को हम किसी नवीन मतवाद के आग्रह से सहसा छोड़ नहीं देंगे। परन्तु इन दोनों मतों का उपयोग और उनकी सहायता हम अपनी काव्य-धारणाओं के निर्माण में अवश्य लेना चाहेंगे। हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि ये दोनों ही काव्यवाद साहित्य के प्रेरणा-सूत्रों और उनके स्वरूप का ही इंगित करते हैं, वे काव्य और कलाओं के वशिष्ट्य और उनकी तुलनात्मक विशेषताओं का निरूपण नहीं करते। उसके लिए तो हमें अपने साहित्यिक मानदंडों और परम्पराओं का ही आश्रित रहना पड़ेगा। नये मतों और सिद्धान्तों की चकाचौंध में पड़कर हम साहित्य की परम्परा में गृहीत विवेचन-पद्धति और साहित्य की मूल्यांकन-सम्बन्धी साहित्यिक विधियों को छोड़ दें, यह उचित नहीं। नये मत और सिद्धान्त साहित्य-समीक्षा को किस सीमा तक और किस विशेष दिशा में नया प्रकाश प्रदान करते हैं, यह बिना समझे, इन नये वादों को साहित्य-समीक्षा का एकमात्र आधार और उपादान मान लेना ऐसा भ्रामक निर्णय है जिसे किसी भी सभ्यताभिमानी देश की साहित्यिक परंपरा स्वीकार नहीं कर सकती।

—पं० नन्ददुलारे वाजपेयी
('आधुनिक साहित्य' से)

साहित्यिक न्याय-भावना का विकास

साहित्य अपौरुषेय है। किसी दिव्य क्षण में मानवता के विकास की प्रेरणा ने शब्द और अर्थ का माध्यम ग्रहण कर एक रागात्मक रूप ग्रहण किया। उसने न केवल स्थूल संसार की दिशाओं को प्रतिध्वनित किया, प्रत्युत सूक्ष्म संसार के अखिल विस्तार में अगणित भावनाओं की सृष्टि की जिसमें शताब्दियों के मनोविकारों को स्पष्ट दिशा प्राप्त हुई। उसमें केवल रूप-ही-रूप नहीं था, हृदय भी था। जड़ता और चेतना का समन्वय भी था। यदि एक ओर अनंग के धनु की भाँति बहुलता थी, तो दूसरी ओर प्रेम की विद्रुम सीपी में आँसू का मोती भी था। यदि एक ओर नीलम की प्याली थी, तो दूसरी ओर उसमें समानेवाली मानिक मदिरा भी थी। यदि एक ओर बिखरी हुई अलकें थीं, तो दूसरी ओर उसी की भाँति अनेक उलझनें भी थीं। इस प्रकार बाह्य जगत् और अंतर्जगत् ने, जड़ और चेतन ने ऐसे साहित्य का निर्माण किया जो मानवता का पथ प्रशस्त कर सके और अतीत की शृंखला को भविष्य की कड़ियों से जोड़ सके।

साहित्य के दो रूप हैं—एक रूप तो युग-संभूत है। वह युग की भ्रू-भंगिमाओं के संकेत से उठता है और समस्याओं के क्रोड़ में डूब जाता है। किसी गोताखोर की तरह वह चारों ओर हाथ फैलाकर अपनी समस्याओं का हल चाहता है और जैसे ही उसके हाथ में रत्न की भाँति हल आ जाता है, वह ऊपर उठ आता है और उसका कार्य समाप्त हो जाता है। वंशावलियों की समाप्ति की भाँति उसकी भी समाप्ति हो जाती है और वह इतिहास के एक परिच्छेद की भाँति मानवता के अंग से जुड़ा

रहता है। साहित्य का दूसरा रूप उस क्षेत्र से उठता है जहाँ मनुष्य की आदि प्रवृत्तियों का संसार है, जो युगों के परिवर्तन से नहीं बदलता। वह संसार मनुष्य के अंतर्जगत् में है, जो चिरंतन है। मनुष्य का प्रेम शताब्दियों से आता हुआ भी आज उतना ही नवीन है जितना पहले था। व्यक्तियों की परम्पराएँ बदल जाती हैं, किंतु प्रेम हृदय का समस्त समर्पण लेकर आज भी नया है। प्रगति की अदम्य लालसा अनेकानेक भूकंपों के भीषण आघातों और ज्वालामुखियों के अग्निमय विस्फोटों से पराजित नहीं हुई। दानवों ने मानव को पीसने के कितने षड्यंत्र किये, रक्तबीज बनकर, भूमि के कण-कण में उत्पन्न होकर शक्ति को चुनौती दी, किंतु सत्य की विजय रही और मानव अपनी उदात्त भावनाओं के रथ पर चढ़कर समस्त आकांक्षाओं और प्रगतियों का अधिनायक बना। यह साहित्य मानवता की संस्कृति का साहित्य है। युग की सभ्यता ने संस्कृति के विरोध में खड़े होकर भी संस्कृति की पुष्टि ही की है। जिस प्रकार अग्नि स्वर्ण को तपाकर और भी शुद्ध कंचन बना देती है उसी प्रकार सभ्यता संस्कृति को तपाकर और भी सबल और सतेज बना देती है।

न्याय-भावना के विकास में ये दोनों प्रकार के साहित्यिक दृष्टिकोण कार्य करते रहते हैं। किसी युग का साहित्य किसी विशिष्ट कार्य या व्यक्ति को जिस दृष्टि से देखता है, क्या उसी दृष्टि से चिरंतन साहित्य उसे देख सकेगा? या जो व्यक्ति चिरंतन साहित्य की श्रद्धा का भाजन बन सका है, वह क्या उसी पूज्य दृष्टि से युग के साहित्य द्वारा देखा गया है? अधिकतर दोनों युगों की दृष्टि में साम्य नहीं रहा। युग की दृष्टि शताब्दियों की दृष्टि प्राप्त नहीं कर सकती, और किसी भी व्यक्ति के कार्यों की प्रतिक्रिया भविष्य में क्या होगी, इसका अनुमान नहीं कर सकती। दूसरी ओर चिरंतन साहित्य जो शताब्दियों के गुण में अनेकानेक युगों की ग्रंथियाँ देख सकता है और उनमें संतुलन उपस्थित कर सकता है, युग की विकार-जनित परिस्थितियों पर युग के समान ध्यान नहीं

दे सकेगा। अतः यह स्पष्ट है कि युग-साहित्य और चिरंतन साहित्य में न्याय-भावना का दृष्टिकोण एक-सा नहीं होगा। यह भी संभव है कि एक युग का साहित्य दूसरे युग के साहित्य के विरोध में खड़ा हो जाय।

साहित्य स्वानुभूति और सहानुभूतिमूलक है। उसकी गति सदैव जीवन की परिधियों को विस्तृत करने में सहायक रही है। मानवता के विकास में पहले स्थूल जगत् की विशालता ने कार्य किया है, बाद में इसी विशालता ने क्रमशः सूक्ष्म में प्रवेश कर अपनी व्यंजना को स्थूल के विस्तार से भी अधिक विस्तार दे दिया है। प्रतिक्षण यह विस्तार मनुष्य की स्वानुभूति में सहानुभूति की प्रतिष्ठा कर अधिकाधिक विकास पाता रहा है। वेदों में स्थूल जगत् की प्रकृति अतिव्याप्ति है, उस अतिव्याप्ति ने चिंतन का क्षेत्र ग्रहण कर अपनी विविधता में एकरूपता देखी, और उस एकरूपता की गहराई का संसार स्थूल संसार से बहुत बड़ा हो गया। अतः यह भी कहा जा सकता है कि युग का साहित्य स्थूल पर अधिक आधारित है और संस्कृति का साहित्य सूक्ष्म पर। इस दृष्टि-भेद से किसी वस्तु या परिस्थिति के वास्तविक मूल्यांकन में बहुत बड़ी दूरी हो सकती है। वैदिक साहित्य का प्रमुख देव इंद्र पौराणिक साहित्य में सामान्य देवता ही रह गया। वाल्मीकिरामायण के महापुरुष राम अध्यात्मरामायण के परब्रह्म राम हो गये।

इस परिवर्तन में एक प्रवृत्ति निरंतर कार्य करती रही है। यदि प्राचीन युग का साहित्य विश्वजनीन रूप में लिखा गया है तो आगामी युगों का साहित्य या संस्कृति का साहित्य उस प्राचीन युग के साहित्य का समर्थन और प्रसार अधिक मनोवैज्ञानिक रूप से करेगा और उसे हृदय की गहराई तक पहुँचा देगा, और यदि प्राचीन युग का साहित्य केवल युग की दृष्टि से ही लिखा गया है, तो परवर्ती युगों का साहित्य उस प्राचीन युग के साहित्य को यदि आगे बढ़ाना चाहेगा तो उसके युग-संबद्ध विकारों को सहानुभूति की दृष्टि से देखकर उसे मानवता के कल्याण की दिशा में प्रसारित कर देगा। वस्तुतः परिवर्ती युग के साहित्य ने अथवा चिरंतन

साहित्य ने प्राचीन साहित्य को सदैव सहानुभूति के साथ देखा है। जो वस्तु युग के प्रभावों से कलुषित बनी उस पर संपूर्ण मानवता की सहानुभूति से प्रकाश डाला गया और उसे उदात्त बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया गया।

उदाहरण के लिए महाभारत का दुष्यंत शकुंतला के साथ व्यवहार करने में हमारी सहानुभूति का अधिकारी नहीं हो सका। किंतु महाकवि कालिदास ने दुर्वासा के शाप की कल्पना कर उस दुष्यंत को संपूर्ण धीरोदात्त नायक के गुणों से अलंकृत कर दिया और वह अपनी शापजन्य विवशता में हमारी सहानुभूति का पूर्ण अधिकारी बन गया। इसी प्रकार वाल्मीकि-रामायण में वनवास के अवसर पर लक्ष्मण का क्रोध तुलसीदास ने अपने मानस में समाप्त ही कर दिया। शताब्दियों से लांछित कैकेयी, साकेत महाकाव्य में हमारी दया और सहानुभूति की स्वामिनी बन गई है। यहाँ तक कि मेघनाद भी श्री माइकेल मधुसूदन दत्त की लेखनी से हमारी प्रशंसा और सहानुभूति का पात्र बन गया है। इतिहास के स्कंदगुप्त में श्री जयशंकर प्रसाद ने नये प्राण फूंक दिये हैं और वह वीरता का कवच धारण कर भी हृदय में देवसेना के लिए एक सुकोमल स्थान सुरक्षित कर लेता है। इसी प्रकार ध्रुवदेवी की क्रांति ध्रुवस्वामिनी के रूप में आज भी समाज के समक्ष एक ज्वलंत दृष्टिकोण उपस्थित करती है। प्रेमचंद की सारंधा ने भारतीय जीवन के महान् आदर्शों को आज बुद्धिवादी मंच पर वीर नारी की भाव-भंगिमा में प्रतिष्ठित कर दिया है।

निष्कर्ष तो यही निकलता है कि समय के प्रवाह के साथ हममें नैतिकता के प्रति अधिक आस्था बनती जाती है। हमारे सामने ऐसे अनेकानेक उदाहरण हो चुके हैं जिनमें हमने अनैतिक मार्ग में जानेवाले व्यक्तियों का अधःपतन देखा है और यदि हम अपने भविष्य को अधिक उज्ज्वल बनाना चाहते हैं तो हमें उन अनैतिक व्यक्तियों के इतिहास से लाभ उठाकर जीवन को अधिक नैतिक बना लेना है। इसी नैतिक भावना में न्याय की भावना भी अधिकाधिक परिलक्षित होती जाती है और उत्तरोत्तर

उसका विकास होता चलता है। जिन व्यक्तियों के साथ प्राचीन साहित्य में न्याय नहीं हो सका है, उन व्यक्तियों की तत्कालीन परिस्थितियों में हम अधिक गहराई में प्रवेश करना चाहते हैं और उन मनोवृत्तियों का विश्लेषण करना चाहते हैं जिनके कारण उन व्यक्तियों के साथ न्याय नहीं हो सका। यदि उन मनोवृत्तियों में हमें कोई ऐसी परिस्थिति मिल जाती है जिसके आधार पर उसके प्रति न्याय किया जा सकता है तो हम तुरंत उस परिस्थिति की पृष्ठभूमि में न्याय-भावना का अंश जोड़ देते हैं। इस मनोवैज्ञानिक स्थिति में यथार्थ और आदर्श का संघर्ष होने लगता है और तब मानव के यथार्थ से समझौता करते हुए हम आदर्श की बात भूलने लगते हैं। आदर्श के स्थान पर हम अपनी सहानुभूति रख देते हैं और इस प्रकार हम अपनी नैतिकता की रक्षा भी कर लेते हैं।

इस न्याय-भावना के विकास में युगों की अनूभूति भी जुड़ी चलती है जो अपनी दृष्टि से परिस्थिति का परिष्कार करना चाहती है। वाल्मीकिरामायण में कैकेयी के कार्य में राजनीतिक दृष्टि, रामचरित-मानस में आधिदैविक दृष्टि और साकेत में मनोवैज्ञानिक दृष्टि की प्रधानता हो गई है। अपनी-अपनी दृष्टि से परवर्ती युगों ने परिष्कार करना चाहा है। उर्मिला की विरहानुभूति जो अभी तक साहित्य में अज्ञात थी, श्री मैथिलीशरण गुप्त के साकेत में मुखरित हो उठी है। इस प्रकार कवि ने कथा में संवेदना और सहानुभूति का नया अध्याय जोड़-कर व्यक्ति और परिस्थिति के प्रति हमारी सहानुभूति प्रेरित की है। यह भी संभव है कि परवर्ती युग की दृष्टि पूर्ववर्ती युग से विरोध प्रकट कर दे। उदाहरण के लिए वाल्मीकिरामायण में वनवास के अवसर पर लक्ष्मण का जो क्रोध है उसे मानसकार ने तो शांत कर दिया, किंतु साकेतकार ने उसे पुनः प्रकाश में लाकर वस्तुवादी परिस्थिति को तीव्र बना दिया। यहाँ वस्तुस्थिति की तीव्रता उभारने के लिए कवि ने यथार्थवाद को अधिक महत्त्व दे दिया और जीवन की स्वाभाविकता को

ही विधेय माना। इस भाँति युग-संभूत साहित्य भी चिरंतन साहित्य का संशोधन करते हुए उसे आगे बढ़ाता है। उसे हमारे जीवन से जोड़ने के लिए उसमें अधिक वास्तविकता का प्रवेश करा देता है और उसके साथ न्याय-भावना भी संबद्ध हो जाती है।

इस न्याय-भावना का विकास केवल व्यक्ति को लेकर ही नहीं होता, वर्ग और जाति से भी उसका संबंध है। उदाहरण के लिए वैदिक धर्म के विकास में शैव और शाक्त संप्रदाय सदैव ही वैष्णव धर्म के विरोधी समझे गये। वैष्णव भक्तों ने पद-पद पर शाक्तों की निंदा की। कबीर ने वैष्णव की कुतिया को शाक्त की मा से श्रेष्ठ माना, वैष्णव की झोंपड़ी को शाक्त के गाँव से अच्छा समझा। शैवों की परंपरा में नाथ-संप्रदायियों ने भी वैष्णवों के कर्मकांड और वर्णाश्रम धर्म को झूठा कहा, किन्तु कबीर के बाद तुलसीदास ने वैष्णवों और शैवों में मैत्री स्थापित करा दी। राम और शिव परस्पर एक-दूसरे के स्वामी और भक्त हो गये, और सीता ने तो बड़े ही भक्ति-भाव से गिरिजा की स्तुति की। तुलसीदास ने अपने समन्वयवादी दृष्टिकोण से वैष्णव और शैव धर्म की उपासना में संतुलन स्थापित किया और समय की परिस्थितियों में निष्पक्ष दृष्टि रखते हुए प्रत्येक के प्रति न्याय-भावना का विकास किया।

यह स्पष्ट है कि न्याय-भावना का विकास उत्तरोत्तर होता जायगा। व्यक्ति और वर्ग से ऊपर उठकर यह न्याय-भावना परंपराओं का भी परिष्कार करती है। जीवन और धर्म में अनेक परंपराएँ हैं जो शताब्दियों से चली आ रही हैं। साहित्य के साथ अनेक लोक-गीत हैं, अनेक लोक-कथाएँ हैं, अनेक लोक-श्रुतियाँ हैं जो आज भी श्रद्धा और विश्वास से मानी और समझी जाती हैं। ये लोकगीत किसी साहित्य से कम नहीं हैं। इनमें भी हृदय का स्पंदन है और रागात्मक प्रवृत्तियों का विपुल वैभव। इनकी मान्यताएँ वैसी नहीं हैं जैसी लिखित साहित्य की, इसलिए इनके भावना-जनित विश्वासों में उतना शीघ्र परिवर्तन नहीं होता जितना साहित्य के क्षेत्र में हो सकता

है, और इसलिए इनसे युग प्रभावित अधिक समय तक और अधिक मात्रा में होता रहता है। जन-साहित्य में अलौकिक प्रभाव सदैव ही वर्तमान है। जीवन में जहाँ कोई कठिनाई आ उपस्थित होती है, उसी समय कोई-न-कोई अलौकिक घटना घटित हो जाती है। इन ग्राम-गीतों में शिव और पार्वती तो सर्वत्र ही प्रकट होने को उत्सुक होते रहते हैं। उनके प्रकट होते ही जीवन व्यवस्थित हो जाता है और दिन फिर जाते हैं। हमारे साहित्य में धर्म की भावना विशेष रूप से कार्य करती रही है। अतः हमारी साहित्यिक और सामाजिक परंपराओं में अलौकिकता और जड़ता का मानवीकरण प्राचीन काल से ही होता आया है।

न्याय-भावना की कसौटी पर यह अलौकिकता या मानवीकरण सदैव प्रतीकों का पोषक रहा है। रामायण के दस सिरवाले रावण की आकृति महाभारत में दस हजार हाथियों के बलवाले भीम की आकृति में नहीं रही। यदि न्याय-भावना का विकास न हुआ होता तो जिस तरह रावण के कंधों पर दस सिरों का रूप है उसी भाँति भीम के शरीर से भी दस हजार हाथियों की सूँड़ें निकली रहतीं। इससे स्पष्ट है कि रामायण-काल की अलौकिकता महाभारत-काल में नहीं रह गई थी और पात्रों और कार्य-व्यापारों के निरूपण में मानव-दृष्टि अधिक स्वस्थ हो गई थी। ऐसी स्थिति में न्याय-भावना अधिक-से-अधिक विवेक के आश्रय में पोषित होना चाहती है। लोक-गीतों में नारी और नदी के प्रश्नोत्तर केवल नारी के हृदय में नदी को देखकर उठे हुए मनोभावों की प्रतिक्रिया में समझे जाने चाहिए, जिन्हें प्रभावशाली और मर्मस्पर्शी बनाने के लिए अभिनयात्मकता प्रदान कर दी गई है।

इस प्रकार साहित्य में न्याय-भावना का विकास हमारे विवेक और सहानुभूति-पूर्ण जीवन के विकास का द्योतक है।

—डा० रामकुमार वर्मा

कबीर की पृष्ठभूमि

सिद्धार्थ ने महाभिनिष्क्रमण के पश्चात् जिन तत्त्वों को प्राप्त किया, वे ही हमारे समक्ष बौद्धधर्म के रूप में आये। दुःखों से मुक्ति पाना ही सिद्धार्थ का अन्तिम लक्ष्य था। देखिए—

'मैं त्रिविध-दुःख-विनिवृत्ति-हेतु
बाँधूँ अपना पुरुषार्थ–सेतु
सर्वत्र उड़े कल्याण-केतु
तब है मेरा सिद्धार्थ नाम।' 'गुप्त'

बौद्धधर्म का सारांश एक प्रकार की आत्मोन्नति और आत्मनिरोध है। इस मत में सिद्धान्त और विश्वास गौण हैं। क्षोभ और कामनाओं से रहित पवित्र जीवन निर्वाह करने से मनुष्यों के दुःखों के दूर होने की संभावना है। यह दुःखवाद ही बौद्ध-सिद्धान्त है।

बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् इस धर्म में शाखा-प्रशाखाएँ निकलने लगीं। किसी ने इतर सम्प्रदाय-विशेष को हीनयान कहा तो किसी ने अपने को महायान शाखा का बतलाया। हीनयान यदि महास्थविरों तथा महासांघिकों की समष्टि है तो महायान पूर्वशैलीय, अपरशैलीय, राजगिरिक तथा सिद्धार्थक आदि चार अन्धक सम्प्रदायों के तथा वैप्रल्यवाद के सम्मिश्रण से बना है। ऐसा कहा जाता है कि महायान के निर्माण में सम्मतियों का काफी हाथ रहा है।

इससे पहले कि हम प्रतिपाद्य विषय पर ध्यान दें, हमारे लिए संक्षेप में हीनयान और महायान के अन्तरों को समझ लेना आवश्यक है। महास्थविरों और महासांघिकों के रथ को लोगों ने हीनयान कहा, जो केवल

विरक्तों तथा संन्यासियों को ही मुक्ति-द्वार तक ले जाने में समर्थ समझा गया पर इन छोटे रथों के आरोहियों के विरुद्ध महायानियों का विशाल रथ जनसाधारण को भी वहाँ तक पहुँचाने में समर्थ घोषित किया गया। महायान सूत्र बराबर परिवर्त्तित तथा परिवर्द्धित होता रहा है।

बौद्धों को उपनिषदों की भावनाएँ पैत्रिक सम्पत्ति के रूप में मिली थीं, साथ ही 'सर्व शून्यम्' की विचार धारा भी। बौद्धधर्म की शून्यता वास्तव में विश्व के आंतरिक रूप की अनिरुद्धता है, जिसके दो प्रकार हैं—

(१) संस्कृत, (२) असंस्कृत

इसी शून्यता के संबंध में बौद्ध ग्रन्थ में कहा गया है कि—

"सर्वं च युज्यते तस्य, शून्यता यस्य युज्यते।
सर्वं न युज्यते तस्य, शून्यता यस्य न युज्यते।"

बौद्धों ने कर्मकाण्ड तथा हिंसा का घोर विरोध किया। 'सदय हृदय दर्शित पशुघातम्' बुद्ध के लिए ही महाकवि जयदेव ने कहा है।

वि० की पहली शताब्दी में वह बौद्धधर्म जो बुद्ध के व्यक्तित्व से अनुप्राणित तथा सम्राट् अशोक से लालित-पालित था, उसके स्वच्छांचल में भी कलंक के धब्बे लगने लगे, आठवीं नवीं शताब्दी के लगभग बौद्ध महायान सम्प्रदाय लोकाकर्षण के रास्ते पर बड़ी तेजी से बढ़ा। वह तंत्र, मंत्र, जादू, टोना, ध्यान-धारणा आदि से लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करने लगा। इन्हीं कारणों से बुद्धिजीवियों और उपरले स्तर के लोगों के मन पर से बौद्ध धर्म के दार्शनिक युक्तिजाल की आस्था उठ गई।

भारतीयों के लिए मन्त्र कोई अभिनव पदार्थ नहीं था। वास्तव में मन्त्र से तात्पर्य उन शब्दों से है जिनमें मारण, मोहन, उच्चाटन आदि की अद्भुत शक्ति मानी जाती है। उस युग में अधिकांश लोग गन्धारी विद्या आदि पर विश्वास रखते थे, पर स्वयं बुद्ध ने इन सबको मिथ्याजीव अथवा झूठा व्यवसाय कहकर मना किया है। पर उनके शिष्यगण दिन प्रतिदिन उसी ओर बढ़ने लगे। परिणामस्वरूप लौकिक बुद्ध के बदले

अलौकिक बुद्ध की सृष्टि हुई तथा भाँति-भाँति से बुद्ध की अलौकिकता वर्णित होने लगी।

भूत-प्रेत आदि में भी लोगों का विश्वास था। मंत्रयानियों ने बतलाया कि बुद्ध के नाम-स्मरण मात्र से रोग, शोक, भूत, प्रेत आदि सबों से मुक्ति हो जाती है, फिर क्या था बुद्ध का पराक्रम महावीरजी से कम नहीं रहा—

"महाबीर जब नाम सुनावै
भूत पिशाच निकट नहिं आवै"

और इस प्रकार मंत्र-रचनाएँ होने लगीं, सूत्र-निर्माण होने लगा क्योंकि सम्पूर्ण मंत्र कंठाग्र करना कठिन था। फलतः मंत्रों के संक्षिप्त रूप का आकार 'ओं तारे तू तारे तुरेस्वाहा' आदि ढंग का रहा। पीछे चलकर स्वर और व्यंजन में 'ओं' और 'स्वाहा' लगाकर मंत्र रचना होने लगी। इन्हीं सब कारणों से तथा त्रोटक आदि विधानों के कारण जड़ पर श्रद्धा रखनेवाली जनता ने भी इनका साथ दिया। जब इन सिद्धों को यह दृढ़ विश्वास हो गया कि श्रद्धान्ध जनता में इतना ज्ञान नहीं है, जिसके द्वारा वे हमारे रहस्यों को समझ सकें तो उन्होंने सभी मार्गों को सरल, सुलभ तथा कंटकरहित बताया। और ये इसकी ओट में विषय-भोग आदि का समर्थन करने लगे। इस प्रकार बुद्ध के नाम पर मद्य और स्त्री-संभोग का श्रीगणेश हुआ। इधर महायान के वैप्रल्यवादियों ने एकाभि-प्रायेण मैथुन का समर्थन किया। फलतः बौद्धधर्म में एक प्रकार का विप्लव उपस्थित हो गया। मंत्रयान के मार्ग से बौद्धधर्म ने वह विरूप आकृति धारण की जिसमें अकरणीय भी करणीय और निषिद्ध भी विधेय ठहराया गया। यम, नियम आदि का भी उल्लंघन किया जाने लगा। हिंसा, असत्यभाषण, स्त्रियों से दुराचार अध्यात्म-सिद्धि के आवश्यक अंग समझे जाने लगे। इस प्रकार मंत्र, हठयोग और मैथुन यें तीनों तत्त्व क्रमशः बौद्धधर्म में प्रविष्ट हो गये। इसे ही मंत्रयान की संज्ञा दी गई है।

ऊपर कहे हुए कारणों से 'उच्च' और शिष्ट मानसिक एवं नैतिक प्रेरणाओं के अभाव के कारण जो यान 'हीन' से 'महा' हुआ था, वह वज्र बन गया। सातवीं शताब्दी में मन्त्रयान का प्रथम रूप समाप्त होता है और उसके बाद शनैः-शनैः घोर वज्रयान के रूप में प्रकट होता है। बुद्ध के कट्टर विरक्ति-विधायक नियमों के प्रत्यावर्तन में इन वज्रयानी बौद्धों ने अश्लील बातों को धर्म में ग्रहण कर लिया। वज्रयानी सिद्धों ने मंत्रयानी तीन तत्त्वों में मद्य को भी सम्मिलित करके—मंत्र, मैथुन, मद्य और हठयोग, इन चार तत्त्वों को साधन का उपकरण बनाया।

इन वज्रयानियों ने मांसभक्षण को भी स्थान दिया और उस 'भैरवी चक्र' का प्रतिरूप बन गया, जिसका सिद्धान्त यों था—

"मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च
एते पंचमकाराः स्युर्मोक्षदा हि युगे युगे।"

वज्रयान की सृष्टि होते ही भैरवी चक्र का वास्तविक रूप बौद्धधर्म में आ घुसा। स्त्री के संबंध में तो उन्होंने जाति, कुल ही नहीं वरन् माता, बहन तक की अवहेलना करने का उपदेश दिया है—देखिए—

"जनयित्रीं स्वसारं च स्वपुत्रीं भागिनेयिकाम्।
कामयन् तत्त्वयोगेन लघुसिद्धियेद्धि साधकः।।"

तात्पर्य यह कि साधन मार्ग में माता, बहन, पुत्री आदि भी वर्जनीय नहीं समझी जातीं। (पुनः इनके सिद्धान्त ये भी हैं)—

"प्राणिनश्च त्वया घात्या, वक्तव्यं च मृषा वचः।
अदत्तं च त्वया ग्राह्यं, सेवनं योषितामपि।
अनेन वज्रमार्गेण वज्रसत्त्वान् प्रचोदयेत्।
एषो हि सर्वबुद्धानां समयः परमशाश्वतः"

गुह्य समाजतंत्र

वज्रयानियों की यह शिक्षा बुद्ध के धर्म के विरुद्ध तो थी ही, "साथ ही महायानियों के लिए भी इसे हजम कर जाना आसान नहीं था।" पहले तो नृपतियों ने भी काम-प्रेरणाओं के कारण इन्हें प्रोत्साहित किया,

पर पीछे चलकर इन्हें अनुत्साहित भी किया गया। पर ये वज्रयानी रुकनेवाले जीव नहीं थे, इन्हें तो विषय-वासना की चाट पड़ गई थी। सम्मतिनिकाय के एक दुःशील वेश्यागामी तथा नीलपट धारी भिक्षु की कथा प्रसिद्ध है। उसने अपने नीलपट दर्शन में लिखा है—

'वेश्यारत्नं सुरारत्नं रत्नं देवो मनोभवः।
एतत् रत्नत्रयं वन्देऽन्यत्र काचमणित्रयम्'

इसके अतिरिक्त 'ज्ञान सिद्धि' में इन सिद्धों ने यह बतलाया है कि नीच कुलोत्पन्न स्त्रियों के समागम से सिद्धि की प्राप्ति निश्चित है—

"चांडालकुलसम्भूतां डोम्बिकां वा विशेषतः।
जुगुप्सितकुलोत्पन्नां सेवयन् सिद्धिमाप्नुयात् ॥"

वज्रयान सम्प्रदाय के सिद्धों के ये सिद्धान्त संस्कृत ग्रन्थों तक ही सीमित नहीं रहे वरन् अपभ्रंश में भी लिखे गये। यह हमें भली भाँति विदित है कि बौद्धधर्म क्रमशः लोकधर्म का रूप ग्रहण कर रहा था और इसका निश्चित चिह्न भी हम हिन्दी साहित्य में पाते हैं। अतः हिन्दी साहित्य के जन्मकाल के समय इन बौद्धों और स्मार्तों ने क्रमशः जादू, टोना और टोटका आदि की ओर तथा लोकजीवन के अकिंचित्कर निरर्थक आचार-व्यवहार की ओर झुककर लोकमत का प्राधान्य स्वीकार किया। उन दिनों जनता अपभ्रंश को ही सीधे और सरल ढंग से समझने में समर्थ थी। अतः इन सिद्धों के कारण ही अपभ्रंश को राजाश्रय मिल गया और वह बड़ी तेजी से आगे बढ़ चली। फलस्वरूप सरहपा, कण्हपा, डोम्बिपा, लुइपा, जालन्धरपा, वज्रघंटापा, शांतिपा आदि परम्परागत सिद्धों ने संस्कृत से मिलती-जुलती भाषा में अपनी-अपनी रचनाएँ कीं, जिसे 'सन्ध्या भाषा' भी कहते हैं। संध्या भाषा के संबंध में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं।

म० म० हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार—'संध्या भाषा' का मतलब ऐसी भाषा से है, जिसका कुछ अंश समझ में आवे और कुछ अंश अस्पष्ट [illegible] के आलोक में उसकी सारी अस्पष्टता स्पष्ट और स्वच्छ

दीख पड़े। 'एक पंडित ने अनुमान भिड़ाया है कि यह सन्धि देश की भाषा है' पर यह अनुमति निरर्थक और आधाररहित है। म० म० पं० विधुशेखर भट्टाचार्य का यह मत है कि यह शब्द मूलतः 'संधा भाषा' है और इसका अर्थ अभिसन्धिसहित अथवा अभिप्राययुक्त भाषा है। आप 'सन्धा' शब्द को संस्कृत संधाय (अभिप्रेत्य) का अपभ्रष्ट रूप मानते हैं और यह मत विशेष शुद्ध प्रतीत होता है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन का मत है कि 'जिसका अर्थ वामाचार और योगाचार दोनों में लग जाय उसको संध्या भाषा कहते हैं।'

हठयोगी साधनाओं के परिणामस्वरूप इन सिद्धों ने अपने को रहस्यदर्शी सिद्ध करना आरम्भ किया और ये रहस्यमय भाषा (संध्या भाषा) में अटपटी वाणियाँ और पहेलियाँ कहकर जनता को आश्चर्यचकित करने लगे। पर इसका मतलब यह नहीं कि वज्रयान में जो कुप्रवृत्ति का प्रसार हुआ उसका कारण सन्ध्या भाषा ही हो। ऐसी वाणियाँ तो किसी न किसी दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतीक मानी जाकर प्रचलित होती थीं—उदाहरण स्वरूप—

"काआ तरुवर पंच विडाल
चंचल चीए पइतो काल
दिट करिअ महाशुभ परिणाम
लूइ भणिअइ गुरु पूच्छि अजान" पुरा० २४९

इन पदों में बौद्ध धर्मानुसार जो पंचप्रतिबन्ध (हिंसा, काम, विचिकित्सा, संशय, मोह) हैं उन्हीं को 'पंच विडाल' कहा गया है :—

पुनः—'बलद विआएल गबिया बांझे
पिटा छुट्टिए तीना सांझे'
तथा—"निते निते षिआला षिहे संग जूझअ
टेण्ण पाएर गीत विरले बूझअ"

गीदड़ का सिंह से जूझना अथवा बैल का बच्चा जनना आदि अत्यधिक

रहस्यमय है। कबीर की उलटबाँसियाँ भी इसी कोटि की चीज हैं। टेण्ण-

पाद की यह पहेली खुसरो की पहेलियों का अपेक्षा अधिक दुरूह तथा दुर्बोध है। इन पंक्तियों में जनता को आश्चर्यान्वित कर देने की क्षमता है। इन वज्रयानी सिद्धों की अटपटी वाणियों में रहस्यमय सिद्धान्तों का उद्‌घाटन किस किस प्रकार हुआ है देखिये—

(क) 'नगर बीरिहिं रे डोम्बि तोहोर कुड़िया
छइ छोइ चाइ सो बाह्ण नाड़िया'

(ख) 'आलो डोम्बि तोए सम करिबे म संग
निधिण काण्हा कापालि जोइ लाग'

(काण्हपा)

इन सिद्धों ने एक 'महासुखवाद' के सिद्धान्त का भी प्रतिपादन किया है। इसकी विशेषता यह है कि महासुखवाद में साधक शून्य में इस प्रकार विलीन हो जाता है, जिस प्रकार नमक पानी में। इस दशा का प्रतीक खड़ा करने के लिए स्त्री-पुरुष के आलिंगनबद्ध जोड़ की भावना हुई। काण्हपा का यह वचन कि—

'जिमि लोण विलिज्जइ पाणिएहि
तिमि घरणी लइ चित्ति'

इसी सिद्धान्त का द्योतक है। प्रसंगवश अन्य सिद्धों के वचन को भी उद्धृत कर देना असंगत नहीं होगा।

सोणं तरुअ मोर किण थाकिउ
निअ परिवारे महासुख थाकिउ

(भूसुक)

इसके अतिरिक्त वज्रयानियों ने मोक्षप्राप्ति के चार मार्ग बतलाए हैं—वे निम्नलिखित हैं :—

(१) अवधूती मार्ग
(२) चांडाली मार्ग
(३) डोम्बी मार्ग
(४) बंगाली मार्ग।

अवधूती में द्वैत ज्ञान है, चांडाली में द्वैत के भावाभाव दोनों ही हैं तथा डोम्बि या बंगाली मार्ग में अद्वैत ज्ञान का प्राचुर्य है और यह अन्तिम मार्ग ही सर्वोत्कृष्ट है। सिद्ध श्री भूसुक का निम्नलिखित पद्य इसी आशय का है:—

'आज भूसुक बंगाली भइली
णिअ घरणी चंडाली लेली'

इससे यह सिद्ध है कि भूसुक अद्वैतमार्गी थे।

समाजगत व्यावहारिक क्षेत्र में वज्रयानियों ने बाह्य पूजा, जात-पाँत, तीर्थाटन आदि पाखंडों का खंडन किया और साथ ही समदर्शित्व-भावना का प्रदर्शन किया; इसके अतिरिक्त इन सिद्धों ने शास्त्रीय ढंग के विद्वानों को काफी फटकारा है—देखिए—

'पंडिअ सअल सत्त बखाणइ
देह हि बुद्ध वसन्त ण जाणइ
अमणा गमणा णतेन विखं डिअ
तोवि णिलज्ज भणइ हउँ पंडिअ'

किन्तु इन साधकों ने सद्गुरु को अनिवार्य माना है क्योंकि रहस्यमय साधनाओं के गुह्य मार्ग पर वही ले जा सकता है—

'काअ णावड़ि खण्णि मन केडुआल
सद्गुरु वअणे धर पतवार'

अन्ततः हम देखते हैं कि लोकमत में बेतरह घुल-मिल जाने के कारण शनैः शनैः महायान का लोप हो जाता है और मंत्रयान उसका स्थान ले लेता है। पीछे चलकर मंत्रयान का प्रथम रूप भी वज्रयान को अपने सिंहासन पर बैठाकर विदा हो जाता है और मनुष्य की निम्न प्रकृति को उभाड़ने-वाला यह वज्रयान धर्म दावाग्नि की तरह फैल जाता है। पाप को पुण्य का रूप देनेवाले इन वज्रयानी सिद्धों को जनसाधारण की नजर में सिद्ध बनने के लिए योग की साधारण प्रक्रियाओं को जान लेना ही काफी था। सरह आदि बौद्ध सिद्ध उन ८४ सिद्धों के आदि पुरुष हैं, 'जिनने लोकभाषाओं

की अपनी अद्भुत कविताओं तथा विचित्र रहन-सहन और योग-क्रियाओं से वज्रयान को एक सार्वजनीन धर्म बना दिया'। हठयोग की प्रक्रियाओं द्वारा शून्य में निर्गुण के साक्षात्कार के लिए सद्गुरु की आवश्यकता, तीर्थ-व्रत आदि के खंडन आदि का प्रभाव पीछे चलकर नाथपंथियों तथा कबीर आदि निर्गुणवादियों पर भी यथेष्ट रूप में पड़ा। नाथपंथियों का भी ८४ सिद्धों से संबंध था, फलतः उनका प्रभाव आवश्यक रूप से लक्षित हुआ है।

अब हमें जिस नाथपन्थ की चर्चा करनी है वह वास्तव में सिद्धयुग और सन्तयुग के बीच की अवस्था है। यदि हम इसे उपर्युक्त दोनों युगों के बीच की कड़ी कहें तो असंगत नहीं होगा। वस्तुतः बात यह है कि नवीं और दसवीं शताब्दी में नेपाल की तराइयों में शैव और बौद्ध साधनाओं के सम्मिश्रण से नाथपंथी योगियों का एक नया सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ। यद्यपि शिक्षा ग्रहण कर नाथपंथ अनीश्वरवादी से ईश्वरवादी बन गया तथापि यह पंथ-विशेष ८४ सिद्धों से ही निकला है। यही कारण है कि नाथपंथ की वाणियों में निर्गुण-शून्यवाद और वज्रयान का बीज मिलता है जिसका अंकुरित रूप विशाल नहीं है। इस पंथ के आदि प्रवर्तक आदि-नाथ या शिव भगवान् माने जाते हैं और गोरखनाथ इन्हीं के शिष्य मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य थे।

'तिब्बती जनश्रुति के अनुसार गोरखनाथ एक बौद्ध बाजीगर थे और उनके सारे कनफटे शिष्य भी आदि में बौद्ध थे। किन्तु बारहवीं शताब्दी के अन्त में सेन-वंश के नाश होने पर य शैवमत में हो गये'। म० म० हरप्रसाद शास्त्री आदि भी इसी विचार से सहमत हैं।

किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि वज्रयानी सिद्धों के अनुसरण के कारण ही गोरख ने योगमार्ग के अभिनव रूप हठयोग को प्रतिष्ठित किया था। इसके अतिरिक्त इस सिद्धपंथ और नाथपंथ की चिन्तन-धारा सम्भवतः एक ही रही होगी क्योंकि दोनों के कुछ प्रमुख आचार्यों के नाम अभिन्न या सदृश हैं—यथा, मीनपा, गोरक्षपा, जालन्धरनाथ, जालन्धरपा आदि। फलतः हम इसे सिद्धों के वज्रयान का विकसित रूप कहेंगे।

इस नाथपंथ में हठयोग का प्रधान स्थान है अथवा यों कहिए कि नाथपंथ की साधना-पद्धति का नाम हठयोग है। कबीर की जानकारी के लिए इसे समझना आवश्यक है, क्योंकि कबीर ने भी हठयोग का ही प्रश्रय लिया तथा अनुसरण किया। हठयोग का तात्पर्य बलपूर्वक परमात्मा से मिलना है। शारीरिक और मानसिक परिश्रम के द्वारा ब्रह्म की अनुभूति प्राप्त करना ही हठयोग का आदर्श है। इसमें 'चतुरशीत्यासनानि सन्ति नाना विधानि च' अर्थात् ८४ आसनों का भी विधान है। संक्षेप में कबीर का हठयोग यों है--

'उल्टे पवन चक्र षट् वेधा सुंनि सुरति लै लागी
अमरन मरै मरै नहिं जीवै, ताहि खोजि वैरागी'

इसी हठयोग को कबीर ने ईश्वरप्राप्ति का एक साधन माना है। नाथपंथियों के ही हठयोग पर कबीर की योगधारा आश्रित है। 'साधो सहज समाधि भली' वाली उक्ति प्रसिद्ध है। यह हठयोग मौलिक रूप में महर्षि पतंजलि के योगशास्त्र से पृथक् नहीं। इन बातों के अतिरिक्त कबीर ने योगसाधन के लिए घर बार छोड़ना अनावश्यक समझा क्योंकि उनके मतानुसार 'जो सहज साध्य है उसके लिए कृच्छ्र-साधना व्यर्थ है'। 'सिद्धि प्राप्त करनेवाला अथवा लंका जलानेवाला तो वह है जो पंचेन्द्रियगत विषयों को दग्ध करके उन्हीं की राख शरीर में मल सके।'

'पंज पजालि सम करि बंका
कह कबीर सो लहैंसै लंका'

इन्हीं कारणों से गुप्तजी जी यशोधरा भी मुक्ति पाने के लिए घर बार छोड़ने की आवश्यकता नहीं समझती ह। देखिए--

यदि हममें अपना नियम और शम दम है
तो लाख व्याधियाँ रहें स्वस्थता सम है
वह जरा एक विश्रान्ति, जहाँ संयम है
नवजीवन-दाता मरण कहाँ निर्मम है

अत:

"भव भावे मुझको और उसे मैं भाऊँ
कह मुक्ति भला किसलिए तुझे मैं पाऊँ"
क्योंकि—'भोगें इंद्रिय, जो भोग विधान, विहित है—
अपने को जीता जहाँ वही, सब जित है'।

इन बातों की समीक्षा के पश्चात् हमें ऐसा प्रतीत होता है कि शायद कबीर ने भी उन ८४ सिद्धों को नहीं भुलाया है। देखिए—

"धरती अरू आसमान विचि, दोई तू बड़ा अबध
षट्दर्शन संशय पड़ाया, अरु ८४ सिद्ध"

हम देखते हैं कि नाथपंथियों ने जिस शून्यवाद को वज्रयानियों ने उधार लिया था वह कबीर की निर्गुण भावना में विद्यमान है। इसी शून्य को कबीर ने सहस्रदलकमल का शून्य माना है जहाँ अनहदनाद की सृष्टि होती है और ईश्वर की ज्योति के दर्शन होते हैं। देखिए—

रस गगन गुफा में अजर झरै
"बिनु बाजा झंकार उठै जहँ, समुझि पड़ै जब ध्यान धरै
बिना ताल जहँ कमल खिलाने, तेहि चढ़ि हंसा केलि करै"

अथवा—

"सुन्न शहर में बास हमारा जहँ सरवंगी जावै"

शून्यवाद के संबंध में सर एस० राधाकृष्णन ने लिखा है कि—'According to this the world is unreal, mental and non-mental phenomenon are all illusory. This view is known as 'Nihilism'. वज्रयान के योग और आचार मत के कारण ही यह शून्य अन्ततोगत्वा विश्व का मूल तत्त्व समझा जाने लगा। देवी-देवता का अस्तित्व इसके समक्ष मन्द पड़ गया। शून्य के अतिरिक्त सभी चीजें माया समझी जाने लगीं। इतना होते हुए भी कबीर अथवा उनके अनुयायियों पर सूफी प्रेमवाद तथा इस्लामी एकेश्वरवाद की जो छाप

दिखाई देती है वह नाथ सम्प्रदाय में नाम को भी नहीं है। फिर भी कबीर आदि की रचनाओं का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन दिनों नाथपंथी सम्प्रदाय अत्यधिक प्रभावशाली रहा होगा। पर यह भी सत्य है कि निर्गुण पन्थ के क्रमिक विकास और विस्तार के कारण नाथपंथियों का ह्रास होने लगा था। और इधर कबीर ने बौद्ध सिद्धों के योग और अटपटे ढंग को धीरे-धीरे अपना लिया था।

और तो और, इन नाथपंथियों ने बौद्ध सिद्धों की भाँति जात-पाँत पर भी ध्यान नहीं दिया और इनने हिन्दू-मुसलमान के ऐक्य को भी ध्यान में रखा और कहा कि 'हिन्दू और मुसलमान दोनों ही प्रभु के सेवक हैं और योगी उन दोनों में कोई अन्तर नहीं देखते।'

"हिन्दू मुसलमान खुदाइ के बन्दे,
हम योगी न रखैं किस ही के छन्दे"

'काफिर बोध'

कबीर ने भी हिन्दू और मुसलमान के बीच ऐक्य की आवश्यकता समझी और संगठन के नारे बुलन्द किये और उनने दोनों को ही एक रास्ते पर लाने की महान् चेष्टा की और व्यंग्योक्ति द्वारा दोनों की कमजोरियों का उपहास किया। देखिए :—

(क) 'कह हिन्दू मोहि राम पियारा
तुरुक कहै रहिमाना
आपस में दोउ लड़ि लड़ि मूए
मरम न काहू जाना'

(ख) 'कोई हिन्दू कोइ तुरुक कहावै
एक जमीं पै रहिए'

'सत्य तो यह है कि दोनों ही परमेश्वर की सन्तान हैं, 'को ब्राह्मण को शूद्र' यह भी कबीर का ही विचार है। ब्राह्मण, शूद्र, नीच जाति उच्च जाति के विभेद की निन्दा बौद्ध-सिद्ध सरहपा ने भी की थी। जिस प्रकार व्यावहारिक क्षेत्र में वज्रयानियों ने बाह्य पूजा, तीर्थ, व्रत आदि की निन्दा

की है ठीक उसी प्रकार की भावना नाथपंथियों में भी है। पर कबीर ने तो खुल्लमखुल्ला इनका विरोध किया है, घोर निन्दा की है और गालियाँ दी हैं तथा इन्हें लथेड़ा भी है।

पुनः जिस प्रकार वज्रयानियों ने 'सद्गुरु बअणे धर पतवार', आदि कहकर यह सिद्ध किया है कि बिना सद्गुरु की कृपा के संसार में हम एक भी पग आगे नहीं चल सकते, उसी प्रकार गोरख के नाथपंथ में भी गुरु की बड़ी महिमा गाई गई है। गुरु ही समस्त श्रेयों का मूल है और एकमात्र अवधूत ही इस पद का अधिकारी हो सकता है। गुरु के संबंध में नाथ-पंथियों की भी एक उक्ति देखें—

"अतिवर्णाश्रमी साक्षात् गुरूणां गुरुरुच्यते ।
न तत्समोऽधिको वास्ति लोके सत्येव न संशयः ।।"

कबीर ने तो सद्गुरु की महिमा को अनन्त बतलाया है और कहा है कि इनकी कृपा से अकथनीय कहानी, अथवा परम तत्त्व के रहस्य का पता चल जाता है। गुरुपूजकों के लिए प्रतिमा-पूजा आदि की आवश्यकता नहीं क्योंकि गुरु स्वयं 'जागता देव' है। अतः यह मान लेना कदाचित् अनुचित नहीं कि गुरुतत्त्व की कल्पना, वास्तव में कबीर के सारे मुख्य सिद्धान्तों का मूल स्रोत है :—

(क) 'सतगुरु की महिमा अनंत, अनंत किया उपकार।
लोचन अनंत उघारिया, अनंत दिखावन हार'

(ख) 'गुरुप्रसाद अमृत - फल पाया।
पूरा मिल्या तबै सुखं उपज्यौ'।

अब देखना यह है कि नाथपंथियों ने जिन अवधूतों को ही एकमात्र गुरुपद का अधिकारी समझा था, वास्तव में वे थे कौन? स्थान-स्थान पर कबीर ने भी उन अवधूतों की चर्चा की है—

'अवधू सो योगी गुरु मेरा'

सहजयान और वज्रयान में भी 'अवधूती वृत्ति' नामक एक विशेष प्रकार की यौगिक वृत्ति का उल्लेख है। भुसुक, कण्ह, सरह आदि आचार्य-

गण कभी-कभी सहजावस्था आदि की बातें करते हैं। अतः प्रतीत होता है कि उनके अनुसार सहजावस्था को प्राप्त करने पर ही साधक अवधूत होता है। पर कबीर ने कई जगह स्पष्ट रूप से गोरखनाथ को ही अवधूत कहा है—

'रामगुन बेलड़ी रे अवधू, गोरखनाथ योगी'

फलतः पं० हरिहर प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में 'कबीर पर इन बौद्ध सिद्धों का प्रभाव नाथपंथियों की मध्यस्थता में ही पड़ा है। वस्तुतः कबीरदास जब अवधूतों को पुकारते हैं तो इन सिद्धाचार्यों के अवधूत से उनका सीधा अभिप्राय नहीं होता।' यों तो तन्त्रग्रन्थों में चार प्रकार के अवधूतों की चर्चा हुई है—

(१) ब्रह्मावधूत
(२) शैवावधूत
(३) भक्तावधूत
(४) हंसावधूत।

पर कबीर को अवधूत के इन प्रकारों से कोई मतलब नहीं था और वास्तव में कबीर ने 'पंचमकार' सेवी अवधूतों की कोई चर्चा भी नहीं की है। वज्रयानी सिद्धों ने भी इस पंचमकार को सिद्धान्त रूप में ग्रहण किया था। स्वयं गोरख के अनुसार अवधूत ये हैं:—

"वचने वचने वेदास्तीर्थानि च पदे पदे।
दृष्टौ दृष्टौ च कैवल्यं सोऽवधूतः श्रियेस्तु नः।
एकहस्ते धृतस्त्यागी योगश्चैककरे स्वयम्।
अलिप्तस्त्यागयोगाभ्यां सोवधूतः श्रियेस्तुनः।"

गो० सि० सं०पृ०-१.

अतः कबीरदास का अवधूत नाथपंथी सिद्धयोगी ही था। इसमें सन्देह नहीं कि नाथपंथी निवृत्ति प्रधान हैं क्योंकि इनका आविर्भाव तांत्रिक मतों (बौद्ध) की कामप्रेरणा के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ था और

इनने वज्रयानियों की भाँति स्त्रियों को योगसिद्धि का उपादान नहीं समझा वरन् उन्हें परीक्षा का साधन बतलाया। एक प्रकार से कामलिप्सा के आत्यंतिक त्याग को ही इन योगियों ने योग की कसौटी स्वीकार किया है। पर पीछे चलकर इस पंथ के कापालिकों अथवा कौलों ने जो कुला (शक्ति) के उपासक बने, इस पंथ को व्यभिचारपूर्ण तथा भ्रष्ट कर दिया।

वज्रयानियों तथा नाथपंथी अवधूतों के 'पंचमकार' के प्रत्येक मकार की निन्दा महात्मा कबीर ने की है। मांसभक्षकों तथा शाक्तों की घोर निन्दा इनके पद्यों में लक्षित होती है :—

'बकरा पत्ता खात है, ताकी काढ़ी खाल
जो बकरे को खात है, ताकर कौन हवाल'

अथवा--

'वैस्नो की छतरी भली, ना साकट बड़गाँव'

अथवा--

'साकत ब्राह्मण मत मिलै, वैस्नों मिलै चंडाल'

पुनः मद्यपान के स्थान पर 'भरि भरि राम रसायन पीवै' उन्हें विशेष रुचिकर तथा स्वादिष्ट प्रतीत होता है। सिद्धों ने 'णिय घरणी चंडाल लेली' आदि कहकर एकाभिप्रायेण मैथुन का समर्थन किया तथा नाथपंथियों ने भी खुलकर कुलोपासना की, पर कबीर ने योगियों को कामिनियों से पृथक् रहने का उपदेश दिया, क्योंकि :—

'छोटी मोटी कामनी सबही विष की बेलि
बेरी मारै दाँव दै, वह मारै हँस खेलि'

तथा--'नारी की छाया पड़ै अन्धा होय भुजंग'

गुप्त जी के भगवान् बुद्ध ने भी 'सिद्धि मार्ग की बाधा नारी' कहकर ही महाभिनिष्क्रमण किया था। फलतः हम देखते हैं कि कबीर ने जिन

सिद्धान्तों का अनुकरण तथा अनुसरण किया है से सभी कबीर द्वारा संशोधित तथा परिष्कृत हैं।

कबीर का द्वैताद्वैत दर्शन भी विलक्षण था। नाथपंथियों ने भी उनके विलक्षण समतत्त्ववाद का समर्थन किया है:—

'अद्वैतं केचिदिच्छन्ति, द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समतत्त्वं न जानन्ति द्वैताद्वैतविलक्षणम्'॥

नाथपंथ में निरंजन की महिमा भी खूब गाई गई है। नाथपंथी निरंजन पद को परमपद मानते थे। कबीर ने भी निरंजन को परमाराध्य समझा है। बीजक में बताया गया है कि अलख निरंजन के द्वारा ही सारी सृष्टि एक तन्तु से बँधी हुई ह। पर इन अलख जगानेवालों की पीछे चलकर एक भीषण बाढ़ आई और ये इस तरह बढ़ने लगे कि गोस्वामी तुलसीदासजी को तंग आकर कहना पड़ा:--

"तुलसी अलखहिं का लखै राम नाम जपु नीच"

अन्त में यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि कबीर आदि निर्गुण मतवादी संतों की बाहरी रूपरेखा पर विचार करने से यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि ये पूर्णतः भारतीय हैं और बौद्धधर्म के अंतिम सिद्धों और नाथपंथी योगियों के पदादि से इनका सीधा संबंध है। भाव, भाषा सब कुछ मिलती-जुलती सी है। इन सभी दृष्टियों से वे ही मुख्यतः कबीर के पथ-प्रदर्शक हैं। कबीर की ही भाँति ये साधक नाना मतों का खंडन करते थे और सहज तथा शून्य में समाधि लगाने को कहते थे। सत्गुरु की भक्ति सबों के लिए समान थी। सबों ने सद्गुरु की विशद महिमा का गान किया है। बौद्धों ने कहीं-कहीं गुरु को स्वयं बुद्ध से भी बड़ा कहा है। ऐसी उक्तियाँ तो कबीर के पदों में अनेक स्थलों में मिलती हैं जहाँ गुरु को गोविन्द के समान ही बतलाया गया है। यही कारण है कि कबीर ने अपने को कहीं 'सबद गुरु का चेला' माना है तो कहीं विवेक का शिष्य कहा है। सद्गुरु शब्द, सहजयानियों, वज्रयानियों, तांत्रिकों

नाथपंथियों आदि में समभाव से समादृत है। पर इतना होते हुए भी यह कहना युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता कि कबीर की योग-साधना ठीक-ठीक वज्रयानियों अथवा नाथपंथियों की सी थी। कबीर मस्त मौला थे, दार्शनिक थे, और थे बहुश्रुत। फलतः इनके विचार उन सबों की अपेक्षा विशेष उन्नत, अधिक शिष्ट तथा अत्यन्त परिष्कृत एवं वैज्ञानिक थे। जैसे उनका पंथ अनोखा था, वैसे ही उनकी चिंतनप्रणाली भी निराली थी।

—कपिलदेव नारायण सिंह—'कपिल'

विविधवाद

रहस्यवाद

शब्द की दृष्टि से छायावाद और रहस्यवाद दोनों ही अत्यन्त आधुनिक हैं, रवि ठाकुर के काव्य के साथ जनमे हुए। वाद के लिहाज से दोनों ही अत्यन्त प्राचीन हैं, उतने प्राचीन जितना भारतीय ब्रह्मज्ञान। प्रत्येक पदार्थ में चेतना का बोध छायावाद है और इस चेतना से साथ विश्व-चेतना के ऐक्य की अनुभूति रहस्यवाद है। वैसे अद्वैतवाद में भी आत्मा और विश्वात्मा का एकीकरण होता है किन्तु भेद यह है कि अद्वैतवाद में यह एकीकरण अभेद और ज्ञानाधृत होता है जबकि रहस्यवाद में यह ऐक्य बोधपूर्ण और प्रेमाश्रित होता है। और चूंकि दो सत्ताओं की एकता की दृष्टि से प्रेम का चरम रूप दाम्पत्य है, इसलिए रहस्यवाद में 'मधुरभाव' की प्रधानता रही है। संयोग और वियोग प्रेम के आदि और अंत हैं। स्वभावतः रहस्यवाद में संयोग की मादकता और विरह का ताप मिलेगा। शरीरी चेतना का अशरीरी विश्व चेतन से प्रति प्रेम की यह कहानी अकथ है, 'नैनन-बैनन' से नहीं कही जा सकती, संकेतों से इंगित की जा सकती है। परिणाम-स्वरूप रहस्यवाद में प्रतीकात्मक भाषा का प्रयोग एक प्रकार से अनिवार्य हो जाता है। संक्षेप में व्यापक सौंदर्यानुभूति, प्रेमोपासना, अन्तर्जगत् का ऐक्य, तीव्र विरह-वेदना, और संश्लिष्ट जीवन-दर्शन रहस्यवाद का भाव-पक्ष है और प्रतीक शैली, सांध्य भाषा, एवं लाक्षणिक अलंकार उसका विभाव-पक्ष है।

अनुभव के माध्यम के अनुसार रहस्यवाद के तीन प्रकार—ज्ञानात्मक, भावात्मक और साधानात्मक, कुछेक विद्वानों (रा० च० शुक्ल प्रभृति)

के द्वारा कहे गए हैं। उपकरण के अनुसार स्परजन आदि ने रहस्यवाद के निम्नलिखित भेद माने हैं--

सौंदर्य रहस्यवाद (Beauty mysticism), भक्तिपरक रहस्यवाद (Devotional mysticism), दर्शनपरक रहस्यवाद (Philosophical mysticism) प्रकृति-रहस्यवाद (Nature mysticism), प्रेम-रहस्यवाद (Love mysticism) और शिशु-रहस्यवाद (Child mysticism)।

रहस्यवाद का आरम्भिक रूप वेदों में मिलता है। ऋग्वेद में अज्ञात सत्ता के साथ मानवीय सम्बन्ध स्थापित किये गए हैं—

सनः पितेव सून वेऽग्ने
सूपायनो भवा
सच स्वानः स्वस्तये।
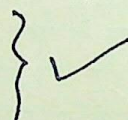
सृष्टि के विकास-क्रम के प्रति होनेवाले कुतूहल की धुँधली, रहस्यमयी अभिव्यक्ति की गई है—

नासदासीन्नो सदासीत्रदानीं
नासीद्रजो नो व्योमापरो यत्।
किमावरीवः कुहवस्य शर्मन्
अम्भः किमासीत् गहनं गभीरम्।

और दार्शनिक तत्त्वों का प्रेमपरक कथानकों (यम-यमीसंवाद), रूपकों और प्रतीकों में अभिव्यंजन किया गया है:

द्वा सपूर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्व जाते।
तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्ति
अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।

यहाँ पक्षियों और वृक्ष के रूपकों द्वारा अनुरक्त आत्मा और निर्लिप्त परमात्मा का सम्बन्ध व्यक्त किया गया है।

उपनिषदों में वैदिक रहस्यवाद अधिक विकसित हो उठा है। यहाँ अज्ञात सत्ता के प्रेम-सम्बन्ध की तुलना दाम्पत्य प्रेम से की गई है। भगवान् को 'रसो वैसः' कहा गया है। दार्शनिक तत्त्वों और सृष्टि के विकासक्रम के प्रतिपादन के हेतु रहस्यमयी भाषा का प्रयोग किया गया है। ब्रह्म का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है—

पूर्णमिदः पूर्णमिदं
पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय
पूर्णमेवावशिष्यते।

वेद, उपनिषदों में

छांदोग्य उपनिषद् के याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद में तत्त्व-प्रतिपादन के निमित्त कथानक-रूपक का सहारा लिया गया है। भेद यह है कि उपनिषदों में वेदों की अपेक्षा सौंदर्यभावना का सूक्ष्मतर संवाद मिलता है। जैसे,

सहोवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रिया-भवति
आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रिया भवति
न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति
आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति।

वृहदारण्यक

इस प्रकार उपनिषदों में चिंतक का मन स्थूल और बाह्य सौंदर्य से हटकर आदर्श और आन्तरिक सौदर्य की ओर बढ़ गया है। फिर उपनिषदों में रहस्यवाद का माध्यम गद्य है, पद्य नहीं। यहाँ कल्पना तत्त्व का तिरोभाव तो नहीं है किन्तु चिन्तन की प्रधानता है।

कपिल द्वारा प्रतिपादित सांख्यशास्त्र में दाम्पत्य-सम्बन्ध के आधार पर दार्शनिक सिद्धान्तों की विवेचना हुई है। ईश्वर को पुरुष और प्रकृति को नटी कहा गया है। यह प्रेम-परक विवेचन एवं पुरुष-प्रकृति का रूपक भावात्मक रहस्यवाद की भाव-भूमि को सदा लिये रहता है।

नवीं-दशवीं शताब्दी के लगभग नालन्दा और विक्रमशिला के आस-पास बौद्धधर्म के ह्रास से एक तांत्रिक संस्कृति फैली। इसके उन्नायक थे।

सिद्ध (बौद्ध तांत्रिक) और शाक्त। इस तांत्रिक साधना में रहस्यवाद ने एक अत्यन्त गुह्य रूप धारण किया। सिद्धों ने माधुर्यभाव का नग्न और अश्लील रूप ग्रहण किया। 'रसो वैसः' की व्यावहारिक अनुभूति के लिए डोमिन आदि के साथ सहवास सुख का विधान किया गया और इस प्रकार 'महासुखवाद' का प्रवर्त्तन हुआ। इस चमत्कारवादी संस्कृति ने हठयोग का भी पल्ला पकड़ा। शरीर की रहस्यमयी व्याख्या की गई। शरीर में ब्रह्मांड की कल्पना की गई और इस प्रकार साधनात्मक रहस्यवाद का प्रादुर्भाव हुआ। 'संध्या-भाषा' और प्रतीक पद्धति तो अनिवार्यतः अपनाई गई, सद्गुरु को साधना का प्रधान अंग माना गया। संध्याभाषा और प्रतीक पद्धति—

बलद बिआएल गबिया बाँझे

—ढ़ेराढ़णपाद

जहिमन पवन न संचरई, रवि शशि न पवेश।
ताहि बट चित्र विराम कस, सरुहे कहिअ उवेश।

—सरहपाद

रहस्यवाद का चरम विकसित रूप कबीर में मिलता है। कबीर ने घट-घट में 'पिंड' देखा है—

सब घट मेरा साइयाँ सूनी सेज न कोय।
बलिहारी वा घट्ट की जा घट परगट होय।

कबीर का यह 'पिंड' अनिर्वचनीय, अगम-अगोचर, अकल-अनीह और शब्दातीत है। वह महज अनुभव का विषय है—

लिखा-लिखी की है नहीं, देखा-देखी की बात।

कभी-कभी उसकी सघन व्यापकता और पारदर्शी सूक्ष्मता पर कबीर विस्मित हो उठते हैं—

ता कछु आहि कि शून्यं।

यह विस्मय आत्मा और परमात्मा की अद्वैतता पर भी होती है--

हेरत-हेरत हे सखि रह्यो कबीर हिराइ।
समंद समानाक बूंद में सो कत हेर्या जाइ॥

और संसार के विपरीत घटना-चक्र पर भी—

एक अचंभा देखा रे भाई, ठाढ़ा सिंध चरावै गाई।

यह विस्मय-भावना रहस्यवाद का प्रस्थान-विन्दु है। विस्मित ज्ञाता में ज्ञेय के प्रति जिज्ञासा का होना स्वाभाविक है। कबीर का विस्मित हृदय जिज्ञासु बनकर आत्मा के चिर धन लाल का संधान करने निकलता है और पाता है कि समस्त विश्व में उसी की नूरानी लाली छायी है। वह स्वयं भी वही है—उसी के रंग में सराबोर—

लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई कि मैं भी हो गई लाल॥

यह सम्पूर्ण ब्रह्मांड उसी का रूप-विलास है—ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। इस विस्तार में परमानन्द की अनुभूति होती है, और साधक तादात्म्य अनुभव करने लगता है। कबीर को लगता है कि जिस तरह प्रिया 'पीघर, से 'पीहर' आती है और सखी-सहेलियों के बीच केलि-क्रीड़ा करती है किन्तु फिर भी उसका मन प्रिय पर ही अँटका रहता है उसी तरह आत्मा 'परमपुरुष' से बिछुड़कर धरती पर आई, किन्तु उसी के लिए सदा विकल रहती है—

ज्यों तिरिया पीहर बसै सुरति रहै पिय माहिं।
ऐसे जन जग में रहैं, हरि को भूलत नाहिं॥

सीमा और असीम के इस अन्योन्याश्रय-संबंध के ज्ञान, परमतत्त्व से तादात्म्य-अनुभव और अपनापन की अनुभूति के साथ ही उस असीम के प्रति समर्पणोन्मुख अनुराग उत्पन्न होता है। भक्त भगवान् से एकाकार होना चाहता है। इस एकाकारिता में ज्ञान दूर तक सहायक नहीं होता क्योंकि उसके लिए अकल-अनीह की लीला अभेद्य अंधकार है। इसमें प्रेम सहायक होता है। कबीर में यह प्रेम अनन्यासक्ति की कोटि को पहुँचा है। प्रगाढ़ अनंन्यता की विभोरावस्था के इस मधुर क्षण में ज्ञान की गठरी पटककर अपने आंचल में प्रेम के ढाई अक्षर-अक्षत लेकर कबीर

'राम की बहुरिया' बनते हैं। यह 'मधुरभाव' कबीर के रहस्यवाद का केन्द्र-बिन्दु है।

कबीर ने उस 'प्रेमिउ साई' की, जो दुनिया के सभी राहियों पर रंग डालता है और केलि के लिए आमंत्रित करता है, आवाज सुनी और व्याकुल हो गए।

> सतगुरु हो महाराज
> मो पै सांई रंग डारा।
> सब्द की चोट लगी मेरे मन में
> बेध गया तन सारा।
> औषध मूल कछू नहीं लागे
> का करे बैद बेचारा।
> सुर नर मुनि जन पीर औलिया-
> कोई न पावे पारा।
> साहब कबीर सर्व रँग रँगिया
> सब रंग ते रंग न्यारा।

अनन्त-लोक की यात्रा रहस्यवाद की सामान्य प्रवृत्ति है जिसमें न केवल 'भावना की ही प्रगति' होती है, वरन् सम्पूर्ण 'हृदय की आकांक्षा' की। कबीर का सम्पूर्ण अस्तित्व उस ओर प्रवहमान है—

> आन न आवै नींद न आवै ग्रिह बन धरै न धीर रे।
> जूँ कामी को काम पियारा, ज्यूँ प्यासे को नीर रे।

रहस्यवादी का यह अनन्त-लोक आनन्द-लोक है जहाँ अमृत की फुहियाँ बरसती हैं, अनहद-संगीत निःसृत होता है और जहाँ सदा विमल प्रभात रहता है—

> मोतिया बरसै रौरे देसवाँ दिन-राती।
> मुरली-शब्द सुनि मन आनन्द भयौ, जोति बरे दिन-राती॥

इस रहस्य-लोक का सम्मोहन (Hypnotism) कबीर पर इस प्रकार छाया है कि जिस तरह चकोर चन्द्रमा की ओर और चातक घन की

ओर उर्ध्वग्रीवा होकर ताका करते हैं उसी तरह कबीर बड़ी उत्कंठा से उस प्रेम-नगरी की ओर देखते हैं--जैसे चकोर चन्द्रमा चितवै, जैसे चातक स्वाती।

उस लोक के सामने इस पार की कठोर धरती रहस्यवादी को नहीं भाती। इसलिए रहस्यवादी कवियों में जगत् के प्रति उपेक्षा का भाव भी यत्किंचित् मात्रा में रहता है जिसे आधुनिक भाषा में 'पलायनवाद' कहा जाता है। कबीर को पी-घर के रंगमहल के सामने नैहर की गलियाँ अच्छी नहीं लगतीं—

नैहरवा हमकाँ नहीं भावै।
साईं की नगरी परम अति सुन्दर, जहाँ कोइ जाइ न आवै।

किन्तु वह लोक ऐसा है जहाँ चाँद-सूरज भी नहीं पहुँच पाते, जहाँ पवन और पानी की गति नहीं है—

चाँद सूरज जहँ पवन न पानी, को संदेश पहुँचावै?

साईं के सर्प-डगर पर चलना अत्यन्त कठिन है। अतः रहस्यवाद में रूमानियत के साथ-साथ प्रेम की दुर्वारिता और प्रेमपंथ के काठिन्य का भी परिचय मिलता है। प्रेम-उद्वेलित कबीर का मन इस रपटीले मार्ग के व्यवधान पर व्याकुल हो उठता है--

मिलना कठिन है कैसे मिलौंगी प्रिय जाय।
समझि-समझि पग धरौं जतन से बार-बार डिग जाय।
ऊँची गैल राह रपटीली, पाँव नहीं ठहराय।

प्रेम-पंथ का काठिन्य मीरा की पंक्तियों में और अधिक समस्यामूलक रूप में प्रकट हुआ है। इसके दो कारण हैं—मीरा के जीवन की विपरीत परिस्थिति और उनका नारी हृदय।

पर 'साईं' के डगर का पंथी 'गुरु-मंत्र' का पाथेय लेकर बढ़ता जाता है और जब सारी दुनियाँ सो जाती है तब उस निविड़ प्रहर में वह प्रिय के कक्ष में पहुँचता है--या निशा सर्व भूतानां तस्यां जाग्रति संयमी। वह

विभोर हो तन्द्रिल-स्वप्निल हो रहा था कि प्रिय के एक स्वर्गिक स्पर्श ने उसे जगा दिया। वह आँख मूंदकर प्रिय की मधुर उपस्थिति और स्पर्श का अनुभव करता है। उसे भय होता है कि आँख खुलने पर वह सलोनी मूर्ति तिरोहित न हो जाय—

सपने में साईं मिले, सोवन लिया जगाय।
आँखि न खोलूँ डरपता, मति सपना ह्वै जाय।।

आध्यात्मिक परिणय का यह कोमल और प्राण-स्पर्शी रूप कबीर के रहस्यवाद को छोड़कर अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

कबीर प्रेम का प्याला पीकर दिनरात छके रहते हैं :—

कबीरा प्याला प्रेम का, अन्तर लिया लगाय।
रोम-रोम में रमि रहा, और अमल क्या खाय।।

कबीर ने प्रेम का यह पैगाम सम्भवतः सूफियों से लिया यद्यपि सूफियों की तरह उन्होंने भगवान् को स्त्री का रूप नहीं दिया है। जाहिर है, कबीर शेख आदि सूफी फकीरों के सम्पर्क में आये थे।

तो सूफ़ियों की तरह कबीर पर भी परम प्रेम का नशा चढ़ा है, जिसका खुमार उतरने को नहीं। इस प्रेमानुभूति से एक क्षण के लिए भी साधक अलग नहीं होना चाहता। वह तो मानो प्रेम-पात्र को अपने लिए सुरक्षित कर लेना चाहता है :—

ना मैं देखौं और को, ना तोहि देखन देवँ।

किन्तु भौतिक व्यवधान प्रेमानुभूति की एकतानता को रह-रह कर झटका दे देता है और नश्वर शरीर से अनश्वर गीत गाना कठिन हो जाता है। यह भौतिक व्यवधान मृत्यु तक ही है, मृत्यु के उपरान्त तो महा मिलन होता है। इसलिए सूफी मृत्यु की कामना करते हैं। कबीर इस जीवन में भी मिलन की कामना करते हैं, उस जीवन में तो मिलन निश्चित है ही—

बिरहिन उठि-उठि भुइँ परै दरसन कारन राम।
मूए पाछे देहुगे सो दरसन केहि काम।।

इसलिए कबीर को मृत्यु का डर नहीं है:—

बिरह कुल्हारी तन बहै घाव न बाँधे रोह।
मरने का संसय नहीं छूटि गया भ्रम मोह॥

हिन्दी के सूफी कवियों में जायसी सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। उनके प्रसिद्ध ग्रंथ 'पद्मावत' में रहस्यवाद की झाँकियाँ यत्र-तत्र मिलती हैं। फर्क यह है कि कबीर की पद्धति अन्योक्ति पद्धति है और जायसी की समासोक्ति।

भक्त कवियों में सूरदास और मीरा के कुछेक पद रहस्यपरक हैं। ऐसे पदों में सूरदास ने एक परोक्ष रहस्य-लोक की कल्पना की है—

चकई री। चल चरन सरोवर जहाँ न मिलन वियोग।
निस दिन राम राम की वर्षा, भय रुज नहीं दुख भोग।
जहाँ सनक से मीन हंस शिव, मुनि जन-रव रवि-प्रभा प्रकास।
प्रफुलित कमल निमिष नहीं, ससि डर गूंजत निगम सुवास।

और ऐसी कल्पनाओं में सूरदास के रूपक संतों की अपेक्षा अधिक भावात्मक रहे हैं। सूरदास जी पुष्टिमार्गी थे, ईश्वर के अनुग्रह (Grace of God) के विश्वासी। इस अनुग्रह के प्रति उनकी आश्चर्य-भावना उन्हें रहस्यवादियों के निकट लाती है और उनकी पुष्टि-भावना संतों की गुरु-भावना का परिवर्त्तित रूप-सी लगती है। कबीर की तरह सूर ने भी प्रतीकों का प्रयोग आत्मा और परमात्मा के लिए किया है। भृंगी, मधुकर, शुक, सखी, चकई इत्यादि सूर-साहित्य में आत्मा के ही प्रतीक हैं। सूरदास में नाम, रूप और गुण का सर्वथा परित्याग न देखकर कुछ लोगों ने सूरदास के रहस्यवाद को 'सगुण रहस्यवाद' कहा है, गो कि यह कोई बहुत उपयुक्त नाम नहीं।

मीरा कृष्ण को अलौकिक और अनुपम कहती हैं। उनका परोक्ष-अमर प्रियतम हृदय में बसता है।

किन्तु यही अविनाशी 'पिया' उनका 'सच्चा बालमा' है। इस प्रकार एक ओर वे भगवान को अनुग्रह-अलौकिक मानकर भक्ति करती हैं

और दूसरी ओर वास्तविक रूप से उस प्रियतम के पलंग पर पौढ़ने की अभिलाषा भी करती हैं।

कबीर की तरह मीरा भी इस जीवन के व्यवहार के बीच ही परमात्मा से तादात्म्यानुभूति करती हैं और इस प्रकार पिण्ड में ब्रह्म देखती हैं।

हिन्दी के आधुनिक कवियों के साथ छायावाद आया, रहस्यवाद नहीं। छाया-युग हृदयवाद को लेकर आया है। वह पश्चिम से आनेवाले स्वच्छंदतावाद का हिन्दी रूपान्तर था। उसमें कीटस्, वायरन् और शेली की प्रेरणा थी, कबीर की नहीं। वैसे कुछेक गीत तो ऐसे निकल ही जा सकते हैं जिनमें रहस्यवाद की प्रवृत्तियाँ आ गई हों।

Romanticism

आधुनिक काल के अहिन्दी-भाषी कवियों में रवीन्द्र का स्थान सर्वोत्कृष्ट है। कबीर और रवीन्द्र दोनों परम-प्रेम के पथिक हैं। दोनों में प्रिय-मिलन की व्याकुलता है। दोनों में प्रेम का उन्माद है और सम्मोहन है। कबीर ने 'सतगुरु हो महाराज मो पै साईं रंग डारा' वाले पद में 'प्रेम भिखारी साईं' के केलिनिमंत्रण को सुना। रवीन्द्रनाथ ने इस भाव को 'गीताञ्जलि' में इस प्रकार प्रकट किया है :—

> सुन्दर, तुमि एसे छिले आजि प्राते.
> अरुण वरण पारिजात लये हाते।
> निद्रित पुरी, पथिक छिल ना पथे,
> एका चलि गेले, तोमार सोनार रथे,
> बारेक थामिया मोर वातायन पाने
> चैन छिले तब करुण नयन पाते।
> सुन्दर तुमि ऐसे छिले आजि प्राते।

(हे सुन्दर, तुम आज सवेरे आये थे, लाल रंग का परिजात हाथ में लिये हुए। सारी नगरी सोई थी। राह में पथिक भी नहीं था। तुम अपने सोने के रथ पर अकेले ही चले गए। केवल एक बार रुककर

तुमने अपनी करुणा-दृष्टि मेरी खिड़की पर डाली थी। हे सुन्दर, तुम आज सबेरे आये थे।) पर दोनों में अन्तर है। 'एक की केलि यत्न-साधित है, दूसरे की स्वयं प्राप्त', एक अपने को और अपने पौरुष को भूलकर भी भूलना नहीं जानता, दूसरा अपने को और अपनी शक्ति को स्मरण रखकर भी भूल जाता है; एक क्रियात्मक है, दूसरा भावात्मक; एक का मार्ग साधना का मार्ग है, दूसरे का सौन्दर्य का; एक करने में विश्वास करता है, दूसरा होने में, एक प्रधान रूप से संत है, दूसरा कवि। (कबीर––ह० प्र० द्विवेदी) रजनीकान्त रवीन्द्र की कोटि में आते हैं :––

आमि तोमाय चाहिना जीवने
तुमि अभागारे चेये छो हे।
आमि ना डाकिते हृदय माझेर
तुमि देखा दिये छो हे।

किन्तु कबीर अभिसारिका बनकर, चुनरी पहनकर, प्रेम-जल में स्नात होकर और आंचल में दीप छिपाकर 'पिय' को ढूँढ़ने निकलते हैं––

भीजै चुनरिया प्रेम रस बूँदन।
आरती साज के चली है सुहागिन
प्रिय अपने को ढूँढ़न।

यहाँ कबीर मीरा के निकट हैं। मीरा ने भी कबीर की भाँति 'हरि आवन की आवाज' सुनी है और सम्मोहित हो 'पंच रंग चोला' पहनकर 'झिरमिट' खेलने को निकलती है।

विदेशों के रहस्यवादियों में प्लेटो, प्लोटिनस (मिस्र), ब्रूनो, स्पिनोजा, डेकार्ट, गेटे, हेगेल, जार्ज फाक्स, जार्ज हरबर्ट, डौन, जान स्मिथ, बिलियम ब्लेक, क्रिस्टिना रौसेटी, वर्ड्सवर्थ, कीट्स, अण्डरहिल इत्यादि की गणना हो सकती है। वर्ड्सवर्थ ने रहस्यावस्था का संकेत निम्नलिखित पंक्तियों में किया है :––

That serene and blessed.
In which......breath of this corporeal frame.
And even the motion of our human blood.
Almost suspended, we are laid asleep.
In body, and become a living soul.
While with an eye made quiet by the power
Of harmony, and the deep power of joy.
We see into the life of things,

ब्लेक की प्रसिद्ध पंक्तियाँ हैं—

To see the world in a grain of Sand
And a heaven in a wild flower
Hold Infinity in the palm of your hand
And Eternity in an hour.

—केशरीकुमार

—

छायावाद की शव-परीक्षा

आलोचक के टेबुल पर आधुनिक हिन्दी कविता की एक विशिष्ट काव्य-प्रवृत्ति की प्रतिमा पड़ी हुई है। इस प्रतिमा का वाह्य रूप-रंग आकर्षण से भरा है—अंग-प्रत्यंग में सौन्दर्य झलक रहा है। अधरों पर भावों की तरलता है और कपोलों पर उमंग की मादकता; पलकों पर अनुभूति का बोझीलापन है और आँखों में अभिलाषाओं की अरुणिमा। किन्तु, प्रतिमा निस्पन्द है। क्षण-भर के लिए आलोचक को भी संशय होता है कि यह निष्प्राणता है या आलस्य की शिथिलता। और, अपने संशय को दूर करने के लिए, 'प्रसाद' के शब्दों में गुनगुनाकर, यह उसे जगाना चाहता है :—

अधरों में राग अमन्द पिये,
अलकों में मलयज बन्द किये,
तू अब तक सोयी है आली,
आँखों में भरे विहग री !

किन्तु, यह प्रतिमा तो नितान्त गतिहीन है—बिल्कुल शव-सी निस्पन्द। तभी तो आलोचक उसकी शव-परीक्षा के लिए उद्यत हुआ है।

किन्तु, आपको भी सम्भवतः इस बात का संशय हो कि क्या वस्तुतः 'छायावाद' मर चुका और उसकी शव-परीक्षा का उपयुक्त अवसर आ गया ? क्या उमंग-उल्लास, हास-रुदन और आशा-निराशा की भावनाएँ अब हमारे हृदय से सर्वथा मिट गईं कि हम 'छायावाद' की मृत्यु निश्चयात्मक रूप से स्वीकार कर लें ? वस्तुतः हमारे हृदय की वह भाव-

नाएं जिस रूप में 'छायावाद' में आई थीं, आज भी वैसी ही हैं, प्रत्युत जीवन-दर्शन की जटिलता के साथ वे तीव्रतर होती जा रही हैं; किन्तु "काव्य की एक विशिष्ट परिपाटी के रूप में—'छायावाद' का लेबुल लगाकर—जो काव्य-प्रवृत्ति प्रथम महायुद्ध के बाद हिंदी साहित्य में उपस्थित हुई थी और जिसने अपनी एक परंपरा भी स्थापित कर ली थी, वह इस दूसरे महायुद्ध तक आकर समाप्त हो चली है।" जब तक व्यक्ति है, परिस्थितियों से उसका संघर्ष है और उनमें अपनी चेतना का सामंजस्य न पाकर उसकी वृत्ति अन्तर्मुखी होती है तब तक साहित्य में रोमान्टिक प्रवृत्ति जीवित रहेगी। छाया अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। अनुभूति के समाहार के लिए द्रष्टा और दृश्य—दोनों पक्षों की अनिवार्य अपेक्षा है। प्रत्येक युग का द्रष्टा अपने युग के दृश्य से प्रभावित होता है और तदनुकूल अपनी हार्दिक भावनाओं को—अपनी अनुभूति को—अभिव्यक्त करता है। अतः अनुभूति का निर्धारण और उसका संस्कार युग की परिस्थितियों द्वारा होता है और अभिव्यक्ति के स्वरूप का निर्णय भाषा की अर्जित-संचित परम्पराएँ और तत्कालीन मान्यताएँ करती हैं। अनुभूति निःसीम है, अभिव्यक्ति का माध्यम ससीम। इसलिए एक निश्चित सीमा में बँधकर अभिव्यक्ति का एक विशेष माध्यम रूढ़िगत हो जाया करता है; और फलस्वरूप 'वाद' की कारा में अवरुद्ध भी हो जाया करता है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक—विधान एवं उपचार-वक्रता के बहिरंग से परिवेष्टित स्वानुभूति की विवृति 'छायावाद' की प्रमुख विशेषता थी। आज की परिवर्त्तित परिस्थिति में यद्यपि हमारी अनुभूति की संवेदनशीलता में भी परिवर्त्तन के लक्षण दीख रहे हैं (क्योंकि हम गत्यात्मक प्राणी हैं और परिवर्त्तन से प्रभावित होना हमारी प्रकृति है) फिर भी हमारी अनुभूति की मूल प्रेरणाएँ चेतन आत्मा की तरह शाश्वत हैं। आत्मा अमर है। अतः 'छाया', जो आत्मा है अमर है; किन्तु 'वाद' का बहिरंग तो निष्प्राण हो चला है।

मुझे भय है कि कुछ छायावादी कवियों को छायावाद की शव-परीक्षा असंगत जान पड़े। किन्तु, मैं उनसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि यदि वे अपनी काव्य-प्रिया के प्रति वैयक्तिक आसक्ति की संकीर्ण परिधि से ऊपर उठकर, साहित्य की वृत्तियों के वैज्ञानिक विवेचन की दृष्टि से देखें तो उन्हें अपनी स्थिति स्पष्ट हो जायगी। इतने पर भी उन्हें यदि सन्तोष न हो, तो छायावाद के दो प्रबल स्तम्भ, सुमित्रानन्दन पन्त और महादेवी वर्मा की ये पंक्ति उनके सम्मुख उपस्थित कर देना चाहता हूँ।

पन्त के शब्दों में—"छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी, नवीन आदर्शों का प्रकाश, नवीन भावना का सौन्दर्य-बोध और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रहकर केवल अलंकृत संगीत बन गया था।"

और महादेवी वर्मा की दृष्टि में—"छायावाद ने कोई रूढ़िगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धान्तों का संचय न देकर हमें केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगत सौन्दर्य-सत्ता की ओर जागरूक कर दिया था, इसी से उसे यथार्थ रूप में ग्रहण करना हमारे लिए कठिन हो गया।"

इस अवसर पर 'छायावाद' के प्रवर्त्तन की प्रेरक शक्तियों का विश्लेषण कर लेना अनुपयुक्त न होगा। इस विश्लेषण के बाद ही वास्तविक शव-परीक्षा करने में समर्थ हो सकेंगे। एक आलोचक के शब्दों में—"राजनीति में जिन प्रेरणाओं से गांधीवाद का विकास हुआ, साहित्य में उन्हीं प्रेरणाओं से छायावाद का जन्म हुआ।" इस विचार में मौलिकता तो अवश्य है; किन्तु इस बात को हम अस्वीकार भी कैसे कर सकते हैं कि जहाँ गांधीवाद समष्टि को प्रधानता देता है, वहाँ छायावाद व्यष्टि को ही महत्त्वपूर्ण मानता है। निष्क्रिय प्रतिरोध का अस्त्र ग्रहण करके भी जहाँ गांधीवाद पूर्णतः सक्रिय है, वहाँ सक्रियता की उत्तेजना लेकर भी छायावाद सर्वथा निष्क्रिय है।

छायावाद के इस व्यष्टिगत जीवन-दर्शन की मूल प्रेरणा को पकड़ने के लिए हमें उसकी विकास-कालीन परिस्थिति का विश्लेषण करना होगा।

गत महायुद्ध ने (मेरा तात्पर्य प्रथम महायुद्ध से है) विश्व-व्यापी रूप में कलाकारों की चेतना को बहिर्जगत् की संत्रस्तता के कारण अन्तर्मुखी तो किया ही था, नवीन वैज्ञानिक परीक्षणों ने भी, अवचेतना के अतल गह्वर में गोता लगाकर व्यक्तिगत वाष्पाकुल संवेदन तथा आवेग के संचय की उसे प्रेरणा दी। फलस्वरूप बहिर्जगत् की शून्यता और रिक्तता से विकृष्ट युद्धोत्तरकालीन कलाकार जब अपने स्तब्ध अन्तर्जगत् में लौटकर, अपनी रचना के उपकरण ढूँढ़ने लगा तो अनायास उसकी संवेदना पर वैयक्तिकता का गहरा रंग चढ़ गया और उसकी कल्पना बौद्धिकता के रंग में सराबोर हो उठी। 'छायावाद' का विकास ऐसी ही परिस्थिति में, कुछ इसी प्रकार की प्रवृत्तियों को लेकर हुआ था। तत्कालीन भारतीय जीवन के सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनीतिक क्षेत्रों में नवीन चेतना की जो जागृति हुई, वह समसामयिक परिस्थिति की विषमता के कारण स्तब्ध-सी रह गई। परिणामतः वस्तु-जगत् से सर्वदा तटस्थ होकर कवियों की चेतना अन्तर्जगत् की नीहारिका में अपनी असन्तुष्ट भावनाओं की रंगीन चित्रशाला सजाने में ही मग्न रहने लगी। किन्तु, छायावाद-युग की जागृत चेतना और बाह्य परिस्थिति में सामंजस्यपूर्ण संतुलन के सर्वथा अभाव के कारण अतृप्ति, अवसाद और वस्तु-जगत् की उपेक्षा की जो भावना उस युग की कविता में व्यक्त हुई, उसमें वस्तु और विधान दोनों दृष्टियों से, रूढ़ि और परम्परा के प्रति विद्रोह का भाव छिपा हुआ था। इसलिए द्विवेदी-युग की सभी साहित्यिक मान्यताओं को ध्वस्त करके एक सर्वथा नूतन शैली—एक नवीन दृष्टिकोण उपस्थित करने में छायावाद पूर्णतया सफल हो सका। अतः, यदि एक ओर उसमें हमें संवेदना की विविधता और मार्मिक तीव्रता के दर्शन हुए, तो दूसरी ओर 'छन्दों की रुद्धकारा' को तोड़कर गूँज उठनेवाली सांगीतिक ध्वनि भी सुनाई दी। लेकिन यह सब कुछ होने पर भी छायावाद की अन्तर्मुखी चेतना कुछ इतनी कुंठित थी कि बहिर्जगत् के प्रति वह सर्वथा निष्क्रिय रह गई। उसमें क्षोभ तो था, किन्तु प्रतिरोध और सक्रियता का नितान्त अभाव था;

अतृप्ति तो थी, किन्तु स्वस्थ सर्जनात्मक शक्ति की कमी थी। उसमें गति तो थी, किन्तु वह अग्रगामी न होकर प्रतिगामी बन गई।

छायावाद के प्रवर्त्तन के सम्बन्ध में एक बात और भी विचारणीय है। उसकी उद्‌भावना विकासमूलक नहीं, क्रान्तिमूलक है। जिस प्रकार युद्धोत्तरकालीन पूँजीवाद ने सहसा भारतीय जीवन के आर्थिक क्षेत्र में अपने ताने-बाने को फैलाकर शताब्दियों से चली आती हुई कृषि-प्रधान आर्थिक परम्परा को झकझोर-सा दिया, उसी प्रकार छायावाद के झंझावात से रीतिकालीन परम्पराएँ तो तिनके की तरह उड़ ही गईं, द्विवेदी-युग की साहित्यिक मान्यताएँ भी उसके प्रबल वेग को रोकने में असमर्थ रहीं। इस प्रकार राष्ट्रीय जागरण के उषःकाल में तीव्र विद्रोह की भावना लेकर छायावाद हिन्दी काव्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुआ; किन्तु ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय चेतना व्यापक और विस्तृत होती गई, त्यों-त्यों छायावाद की वैयक्तिक संकीर्णता, विशेषतः इस विस्तार की तुलना में स्पष्टतर होती गई। और, इस शताब्दी की चौथी दशाब्दी तक आते-आते जब राष्ट्रीय जागरण महान् जन-जागरण के रूप में परिणत होता हुआ दीख पड़ा, तब स्वभावतः इस जन-जागरण के विक्षुब्ध भैरव-नाद का निर्घोष करने में छायावाद की कोमल स्वर-तंत्रियाँ फटी बाँसुरी की तरह फड़-फड़ाकर रह गईं।

बाँसुरी आज निस्पन्द पड़ी है। यद्यपि यह सत्य है कि उसके गायक आज भी उस पर उँगलियाँ फेरकर, समसामयिक स्वर में स्वर मिलाने का प्रयत्न कर रहे हैं; किन्तु ऐसा लगता है कि उनके संगीत में विसंवादी सुरों की ही प्रधानता हो गई है।

इस प्रकार छायावाद की मूल प्रेरणाओं, उसकी उद्‌भावना, विकास और उसकी परिणति पर प्रकाश डाल चुकने के बाद, मैं उसकी बहिरंग और अन्तरंग परीक्षाओं में प्रवृत्त होना चाहता हूँ। शव-परीक्षक की परीक्षण-प्रतिक्रिया पहले बहिरंग से ही शुरू होती है। अतः पहले इसकी बहिरंग परीक्षा ही अधिक उपयुक्त होगी।

इस प्रसंग में हम सर्वप्रथम छायावाद की काव्य-भाषा पर विचार करेंगे। भाषा की दृष्टि से छायावादी कवि अलंकार-युग को पार कर, एक ऐसे युग में प्रवेश करता है, जहाँ अभिव्यंजना की एक ऐसी नवीन पद्धति का वह निर्माण करता है, जिसे हम चित्रभाषा-पद्धति कह सकते हैं। ये चित्र नितान्त कल्पित तो होते हैं, किन्तु साथ ही, वे संवेद्य भी होते हैं। प्रचलित अलंकारों से ये चित्र इस अर्थ में भिन्न होते हैं कि उनमें परिज्ञात वस्तुओं के साम्य या वैषम्य के आधार पर भावाभिव्यक्ति की जाती है; किन्तु चित्र-भाषा अत्यन्त अल्प सादृश्य या साधर्म्य के आधार पर भी आन्तरिक प्रभाव-साम्य को लेकर, अप्रस्तुत एवं अपरिज्ञात वस्तुओं को भी प्रस्तुत कर देती है। ऐसे अप्रस्तुत उपादान अधिकांशतः प्रतीकों के रूप में आया करते हैं। छायावाद की काव्य-भाषा में प्रतीकों का ऐसा प्रचुर प्रयोग हुआ है कि उसे हम 'प्रतीक-प्रधान भाषा' (Lagnuage of Symbols) कह सकते हैं। प्रतीक-प्रधान भाषा की शब्द-योजना स्वभावतः अर्थ-विस्तार और नवीन भाव-चित्रों से समन्वित होती है। छायावादी शब्द-योजना के अर्थ-विस्तार और भाव-चित्रों की विविधता के मूल कारणों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट दीख पड़ता है कि जब नवीन प्रेरणा से उद्दीप्त काव्य-प्रतिभा बाह्य उपाधि से हटकर अन्तर्जगत् की अभिव्यक्ति की ओर अग्रसर हुई, तो परम्परागत खड़ी बोली काव्य-भाषा की शब्द-योजना उसे नितान्त जड़ और कुंठित-सी जान पड़ी। इसलिए उसने अपनी सूक्ष्म भावाभिव्यक्ति के लिए तो नवीन शब्द-योजना प्रस्तुत की ही, परम्परागत शब्दावली के बाह्य समानार्थक शब्दों को भी नवीन भाव-चित्रों से समन्वित कर दिया। फलस्वरूप उसे "'हल्लोर' में उठान, 'लहर' में सलिल के वक्षःस्थल का कोमल कंपन, 'तरंग' में लहरों के समूह का एक दूसरे को धकेलने, उठकर गिरने, 'बढ़ो-बढ़ो' करने का संकेत, 'वीचि' में जैसे किरणों में चमकती हवा के पालने में हौले-हौले झूलती हुई हँसमुख लहरियों का आभास और 'ऊर्मि' में [illegible] सुनाई पड़ने लगी। इस

प्रकार शब्दों की प्रवृत्तियों और शक्तियों की सीमाओं को विस्तृत करके छायावादी शब्द-शिल्पियों ने भिन्न-भिन्न भावाभिव्यक्ति के उपयुक्त जो शब्दावली तैयार की, वह निस्सन्देह हिन्दी साहित्य के गौरव की वस्तु है।

किन्तु, जहाँ एक ओर छायावादी शब्द-योजना नवीन अर्थाभिव्यक्ति से समन्वित हुई है, वहाँ दूसरी ओर उसमें यह दोष भी आ गया है कि वह अतिशय बौद्धिक हो गई है। यही कारण है कि छायावादी शब्दावली द्वारा प्रस्तुत भाव-चित्र भी अधिकांशतः बुद्धि-प्रधान होते हैं। इस बौद्धिकता का अनिवार्य दुष्परिणाम यह हुआ है कि छायावादी अनुभूति के प्रति पूर्ण सहानुभूति रखनेवाले पाठकों के लिए भी उसकी अभिव्यक्ति सहज संवेद्य नहीं हो पाती है। छायावादी अभिव्यक्ति पर साधारणतः अस्पष्टता का दोषारोपण किया जाता है। मेरी दृष्टि में, यह अस्पष्टता पूर्णतः छायावादी काव्य में ही निहित नहीं है, वरन् कुछ अंशों में पाठक की सहृदयता की न्यूनता और काव्यानुशीलन के उपकरणों के अभाव के कारण भी छायावादी कविता अस्पष्ट रह जाती है। किन्तु, पाठक की अक्षमता की ओट में काव्य-रचना को बौद्धिक कुहेलिका उत्पन्न करने का अधिकार नहीं मिल जाता। बहुधा छायावादी रचना में अस्पष्टता रहा करती है, जिसके, मेरी दृष्टि में, तीन प्रमुख कारण हैं:—

(१) रागात्मकता की अपेक्षा बौद्धिकता का आधिक्य।
(२) अपरिचित प्रतीकों द्वारा भाव-चित्रों के स्पष्टीकरण का प्रयास।
(३) अनुभूति की एकतानता में आकस्मिक क्रम-भंग।

काव्य-भाषा और शब्द-योजना के अतिरिक्त छायावाद ने आधुनिक हिन्दी साहित्य को छन्द-योजना की दृष्टि से भी कुछ महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ दी हैं। छायावाद-युग की इस छोटी-सी अवधि में, इस दृष्टि से, इतने अधिक प्रयोग हुए हैं, और फलतः छन्द-योजना की दृष्टि से इतनी अधिक विविधता दिखाई देती है, जितनी सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य में केशवदास की रचनाओं के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी नहीं दिखाई देती। किन्तु, जहाँ केशवदास की छन्द-योजना में रीति-आचार्यों का अनुकरण-मात्र हुआ था, वहाँ

छायावाद-युग में नव-निर्माण भी हुआ है। इसी लिए, यदि वह गतानुगतिक था, तो यह नवोन्मेषपूर्ण है।

यहाँ हमें छन्द-योजना के प्रति अपनी धारणाओं को स्पष्ट कर लेना चाहिए। साधारणतः छन्द-योजना को लोग काव्य का अभिन्न अंग नहीं मानते। छन्द के प्रति यही सर्व-साधारण की धारणा है। वे समझते हैं कि छन्द एक बाह्य संस्कार है जो ऊपर से आरोपित कर दिया जाता है। वस्तुतः यह धारणा नितान्त भ्रामक है। छन्द लय का सुसम्बद्ध मूर्त्त रूप है। और लय वाणी की आत्मा है—एक प्रकार से वह स्वयं कवि का वायव्य शरीर है। स्पन्दन, कम्पन या गति, लय और ध्वनि के मूलाधार हैं। स्पन्दन हमारी जीवन-शक्ति का सार तत्त्व है, और लय हमारे अस्तित्व का केन्द्र-विन्दु है। अतः, हमारे उत्कट हर्ष और विषाद में हमारे जो उच्छ्वास निकलते हैं उनमें गुरुत्व और लघुत्व के कारण लय की तरंगें प्रवाहित होती रहती हैं—उन्हीं का मूर्त्त रूप है काव्य का छन्द। ऐसी स्थिति में लय, छन्द, काव्य और कवि, सबों में अन्योन्याश्रय संबंध है।

छायावाद-युग की जागृत काव्य-चेतना ने छन्द-योजना में अन्तर्हित लयात्मकता की शक्ति को पूर्ण रूप से पहचाना था, इसलिए उसने शीघ्र ही यह जान लिया कि यदि एक ओर गतानुगतिक मात्रिक छन्दयोजना, जो व्रजभाषा-काव्य की संवाहिका रह आई है, वह खड़ी बोली काव्यधारा के इस नवीन उन्मेष के संवहन के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है तो दूसरी ओर वर्णवृत्त भी अपनी कठोर नियम-बद्धता के कारण उसकी भाव-लहरियों के गत्यात्मक सौंदर्य के मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण में नितान्त असमर्थ है। अतः उसने इस क्षेत्र में नवीन प्रयोग प्रारम्भ किये। छायावाद के प्रवर्त्तकों में, यदि पन्त ने शब्द-चयन के क्षेत्र में सूक्ष्म कलात्मकता का विशेष परिचय दिया, तो छन्द-योजना के क्षेत्र में निराला ने सर्वाधिक नवीन रूपों की सृष्टि की। नवीन छन्द-योजना के प्रसंग में पंत ने 'पल्लव' की भूमिका में कहा—"छन्द का राग भाषा के राग पर निर्भर करता है, दोनों में स्वरैक्य रहना चाहिए। जिस प्रकार गवैया तानपूरा के स्वरों से कण्ठ-

स्वर मिलाकर गाता और स्वतंत्रतापूर्वक तान तथा आलाप लेने पर भी उसके कण्ठ-स्वर का तम्बूरे के स्वर के साथ सामंजस्य बना ही रहता तथा ऐक्य-भंग होते ही बेसुरा हो जाता, उसी प्रकार छन्द का राग भाषा के तारों पर झूलता और जहाँ दोनों में मैत्री नहीं रहती, वहाँ छन्द अपना स्वर खो बैठता है।" पन्त की रचनाओं में भाषा और छन्द की यही मैत्री सर्वत्र दिखलाई देती है। किन्तु, पन्त की छन्द-योजना गीति काव्य की सुकुमारता से ओत-प्रोत है, उसमें उस ओज-स्विता और पौरुष का अभाव है जिसके दर्शन हमें निराला की छन्द-योजना—विशेषतः उनके 'मुक्त-छन्द' में—होते हैं। संगीत की शास्त्रीय रीति में बँधी हुई गीत-काव्यात्मक छन्दयोजना और स्वच्छन्द भावातिरेक के उपयुक्त 'मुक्तवृत्त' योजना, इन दोनों दृष्टियों से 'निराला' अग्रगण्य है। 'प्रसाद' की छन्द-योजना में न प्रयोग की विचित्रता है और न सजावट की चिन्ता। और, महादेवी वर्मा की छन्द-योजना, तो स्वभावतः रागिनी-प्रधान है—जिस प्रकार उनके जीवन-दर्शन में नारी-सुलभ समर्पण और विसर्जन की भावना है, उसी प्रकार उनकी छन्द-योजना में भी Female graces की प्रधानता है। इस प्रकार, छायावाद-युग में जो नवीन छन्द-योजना प्रस्तुत की गई, वह एक साथ ही अपनी गति के कारण पूर्णतः प्रभविष्णु और ध्वन्यात्मक लय के कारण सांगीतिक बन गई। छायावाद के उन्नायकों ने छन्द और भाषा के लयात्मक ऐक्य के उत्कृष्ट परिज्ञान का परिचय दिया था; और इसी लयात्मक ऐक्य के आधार पर ही 'मुक्त छन्द' की उद्भावना हो सकी। छायावाद-युग में मात्रिक और वर्णिक, तुकान्त और अतुकान्त वृत्तों के जो विविध प्रयोग हुए, उनमें, छायावाद की सबसे महत्त्वपूर्ण सफलता 'मुक्त-वृत्त' की उद्भावना है।

बहिरंग परीक्षा के प्रसंग में, छन्दयोजना के बाद स्वरूप-विधान की चर्चा आवश्यक है। इस दृष्टि से, चूंकि छायावाद-युग मुख्यतः तीव्र संवेदना-प्रधान युग रहा है, उसके काव्य का स्वरूप भी प्रधानतः गीतात्मक रहा। इस अवसर पर हमें अपनी काव्य-परम्परा पर एक दृष्टि

डाल लेनी होगी। मध्ययुग से ही गीति-काव्य हमारे काव्य-साहित्य की एक विशिष्ट परिपाटी रहा है। विद्यापति, कबीर, सूर, मीरा और तुलसी की वाणी में संगीत की जो झंकार हमें सुनाई दी थी, वह रीतिकालीन नूपुरों की झंकार में लुप्त हो ही चली थी कि भारतेन्दु ने भक्ति-युग के उन साधकों की वीणा को पुनः झंकृत कर दिया। और, आज तो सम्पूर्ण छायावाद-युग सांगीतिक स्वर-झंकार से मुखरित है। किन्तु, विद्यापति से भारतेन्दु तक गीति-काव्य की जो परम्परा हमें मिली थी, उससे छायावादी गीति-काव्य में मौलिक अन्तर है। किसी भी भाषा के गीतिकाव्य का मूलाधार वहाँ का लोक-गीत हुआ करता है। विद्यापति के गीत मिथिला की अमराइयों में झंकृत होनेवाले लोकगीतों के ही विकसित रूप थे, कबीर के एकतारे की तान में गूँजनेवाले गीत भी जन-समुदाय में प्रचलित लोकगीतों के रूपान्तर थे; सूर और मीरा के पदों में भी लोक-जीवन की हृदय-तंत्री झंकृत होती रहती थी। किन्तु छायावाद का गीति-काव्य लोक-जीवन से विच्छिन्न हो गया है, मध्यकालीन पदावलियों में बँधा हुआ गीति-काव्य लोक-जीवन के हृदय के जितना अधिक समीप था, छायावादी गीति-काव्य उससे उतना ही अधिक दूर पड़ गया है। यही कारण है कि "निसि दिन बरसत नैन हमारे" आज भी हमारी आँखों में सावन-भादों उमड़ा देता है; किन्तु "मैं नीर भरी दुख की बदली" हमारी संवेदना को केवल उकसाकर ही रह जाती है।

किन्तु, स्वरूप-विधान की दृष्टि से इस गीति-काव्य-प्रधान युग ने दो ऐसी वस्तुएँ दी हैं, जो आधुनिक हिन्दी काव्य-साहित्य के लिए सर्वथा अभिनंदनीय हैं—और वे हैं, गीति-प्रबन्ध और मुक्तवृत्त-प्रबन्ध। ये दोनों हिन्दी काव्य-साहित्य में सर्वथा नूतन प्रयोग हैं। गीति-प्रबन्ध के क्षेत्र में, छायावादी चिन्ता-धारा से अनुप्राणित और उसकी भावभूमि पर उपस्थित की गई 'कामायनी' सर्वश्रेष्ठ रचना है। स्वरूप-विधान के इस नये रूप में कुछ इतना अधिक आकर्षण है [illegible] भाव-भूमि पर चिन्त्य सतर्कता के साथ पाँव रखनेवाले मैथिलीशरण गुप्त

भी 'साकेत' और 'यशोधरा' की रचना में इस स्वरूप को अपनाने का लोभ संवरण न कर सके। ८ Dec.

इस प्रकार आपने छायावाद की बहिरंग-परीक्षा कर ली। यद्यपि यह परीक्षा रूप-रेखा-मात्र थी (क्योंकि आपकी सुविधा के लिए मैंने जान-बूझकर इन बहिरंग विशेषताओं के सूक्ष्म विश्लेषण की चर्चा नहीं की है।) फिर भी आपने देखा है कि शब्द-चयन, छंद-योजना, स्वरूप-विधान आदि सभी दृष्टियों से छायावाद युग एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग-काल रहा है। प्रयोग-काल में अस्त-व्यस्तताएँ नितान्त स्वाभाविक हैं, नये प्रयोगों के प्रति हमारा संशयालु होना भी स्वाभाविक ही है। किन्तु, अब तो छायावाद ने अपने प्रयोगों की सार्थकता अधिकांशतः सिद्ध कर दी। इतनी छोटी अवधि में अपने बहिरंग को सुसज्जित करने में छायावाद ने जिस प्रचण्ड कर्त्तृत्व-शक्ति (Creative Potentiality) का परिचय दिया है वह हिन्दी काव्य-साहित्य में अभूतपूर्व है।

अब मैं उसकी अन्तरंग परीक्षा की ओर अग्रसर होना चाहता हूँ।

छायावाद के अन्तरंग में प्रवेश करते ही हमें तीव्र अतृप्ति और असन्तोष की भावनाएँ दीख पड़ती हैं। मैंने प्रारम्भ में ही निवेदन किया है कि युद्धोत्तरकालीन भारतीय जीवन में सर्वतोमुखी चेतना की जो जागृति हुई, वह समसामयिक परिस्थिति में अपनी स्वीकृति न पाकर, बहिर्जगत् से तटस्थ एवं अन्तर्जगत् की ओर आकृष्ट होती गई। ऐसी विषम स्थिति में अन्तर्मुखी कलाकार तीक्ष्ण एकाकीपन से आक्रान्त हो उठता है। जीवन की सभी शक्तियों को अपने प्रतिकूल पाकर, उसकी विद्रोह-वृत्ति एकाकीपन के अवसाद से भर उठती है। स्वभावतः वह स्वयं अपने आप से और अपनी सभी अनुभूतियों के न-कुछ-पन की भावना से निरंतर प्रताड़ित होकर वेदनावादी बन जाया करता है। फलतः बहिर्जगत् से पूर्णतया तटस्थ होकर, वह अपने अंतर्जगत् में ही एक निराले कल्पना-लोक का सर्जन कर लेता है जहाँ वह अपने क्षुब्ध असन्तोष को सहलाकर शान्त करने की चेष्टा किया करता है।

किन्तु, हम अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् को एक सीधी रेखा के दो छोर मान लें, तो हम पायेंगे कि अन्तर्मुखी छायावादी कवि जब बहिर्जगत् से तटस्थ होकर, अन्तर्जगत् की ओर आकृष्ट हुआ, तब वह अपने अन्तर्जगत् के केन्द्र-विन्दु में ही उलझा नहीं रह गया, क्योंकि उसकी भीषण अतृप्ति की पूर्ति के लिए विराट् अन्तर्जगत् की परिधि भी संकुचित-सी थी। अतः उस केन्द्र-विन्दु से एक लम्ब रेखा में वह ऊपर की ओर उठने लगा। अपनी इस ऊर्ध्व गति में उसने 'सान्ध्य-गगन में अपने जीवन का प्रतिबिम्ब पाया, 'हीरक-से तारों' में उसे अपनी ही अतृप्ति का बोध हुआ, और किंचित् ऊपर उठकर, शून्य की निस्पन्दता में, अनन्त सत्ता पर अपनी सान्त विह्वलता को आरोपित कर, वह शेष हो गया। इस प्रकार, मूलतः छायावादी जीवन-दर्शन अन्तर्मुखी है; किन्तु वह अन्तर्मुखी जीवन-दर्शन भी इतना संश्लिष्ट है कि एक साथ ही, हमें उसमें अतृप्ति और अवसाद, करुणा और वेदना, रोमांस और रहस्य-भावना आदि सभी के दर्शन होते हैं। फूलों से रस-संचय करने के लिए तितली किसी निश्चित व्यवस्था के अनुसार भिन्न-भिन्न फूलों पर नहीं मँडराया करती। अन्तर्मुखी छायावादी कवि भी उसी तरह इन भिन्न-भिन्न भावनाओं की अभिव्यक्ति के माध्यम से तृप्तिदायक रस-संचय की ओर प्रवृत्त हुआ। यही कारण है कि अधिकांश छायावादी रचनाओं में अन्विति का अभाव दीख पड़ता है।

ऊपर बहिर्जगत् के प्रति तटस्थता की जो चर्चा की गई है, उसे पलायन-वृत्ति की संज्ञा देकर, कुछ आलोचक उसे छायावाद पर प्रहार करने का एक अस्त्र बना लेते हैं। 'आधुनिक कवि' की भूमिका में महादेवी वर्मा ने छायावाद की पलायन-वृत्ति का जो सहानुभूतिपूर्ण समर्थन किया है, उससे यदि हम सहमत न भी हों, तो भी इसी प्रवृत्ति की प्रेरणा से छायावाद की भावभूमि पर प्राचीन भारतीय गौरव की भावना से अनुप्राणित जो रचनाएँ हमें मिली हैं, उनके लिए, क्या हम ऋणी नहीं होंगे ? स्थूल से सूक्ष्म की ओर पलायन और वर्त्तमान से अतीत का पुनर्दर्शन,

में दोनों को एक ही चित्र के दो पहलू मानता हूँ। छायावाद की इस प्रवृत्ति ने हमें स्वस्थ सर्जनात्मक जीवन-दर्शन भले ही न दिया हो, किन्तु उसने हमारी मौलिक विद्रोह-भावना को उत्तेजना अवश्य ही दी है।

अन्तर्जगत् के वृत्त पर खिलनेवाले छायावादी काव्य-कुसुम की यह पहली झाँकी है। किन्तु, ज्यों-ज्यों हम उसके अन्तःप्रदेश में प्रवेश करते जायँगे, त्यों-त्यों हमें उसके रूप-रस-गन्ध से अधिकाधिक परिचय होता जायगा। छायावाद ने प्रकृति को विराट् सजीव सौन्दर्य-सत्ता के रूप में स्वीकार किया है। महादेवी वर्मा के अनुसार—"छायावाद की प्रकृति घट, कूप आदि से भरे जल की एकरूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महाप्राण शक्ति बन गई; अतः अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जल-कण और पृथ्वी के ओस-बिन्दु का एक ही कारण, एक ही मूल्य है।" छायावाद के अन्तर्गत प्रकृति में जिस समष्टिगत सौन्दर्य-भावना का आरोप किया गया है, वही आगे चलकर रहस्यवाद के उपकरण प्रस्तुत करने में समर्थ हो सकी है।

इस छायावादी रहस्यवाद की हिन्दी काव्य-साहित्य में अपनी एक अलग विशेषता है। इसमें न तंत्र-युग के साधनात्मक रहस्यवाद की कठोरता है और न मध्ययुग के ज्ञानात्मक रहस्यवाद का बोझीलापन। छायावादी रहस्यवाद 'प्रसाद' के शब्दों में—"अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा 'अहं' का 'इदं' से समन्वय कराने का सुन्दर प्रयत्न है।' इस प्रकार छायावादी रहस्यवाद पूर्णतः भावात्मक और प्राकृतिक सौन्दर्य प्रधान है जिसमें अविच्छिन्न आनन्द की धारा प्रवाहित होती रहती है।

छायावादी जीवन-दर्शन की स्वस्थता के उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में यहाँ मैं एक रचना-विशेष का उल्लेख करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता। स्वरूप-विधान के प्रसंग में 'कामायनी' की चर्चा आ चुकी है। यदि जीवन-दर्शन की दृष्टि से उस पर विचार करें, तो हम पायेंगे कि जहाँ अधिकांश छायावादी रचनाएँ या तो बहिर्जगत् की उपेक्षा की भावना से सन्त्रस्त हैं या अन्तर्जगत् की

हैं, वहाँ 'कामायनी' ही एक ऐसी रचना है, जो हमें संतुलित जीवन-दर्शन दे सकी है। यदि आप पाश्चात्य आलोचना के दो पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग की मुझे अनुमति दें तो मेरी यह धारणा है कि यदि हम बहिर्जगत् के समष्टि-प्रधान जीवन-दर्शन को साहित्य-रचना की classical प्रवृत्ति मान लें और अन्तर्जगत् के व्यष्टि-प्रधान जीवन-दर्शन को romantic प्रवृत्ति, तो हम पायेंगे कि छायावाद के अन्तर्गत एक-मात्र 'कामायनी' ही दोनों दृष्टि-विन्दुओं का संतुलन उपस्थित कर सकी है; और उसकी आनन्द-मूलक रहस्यात्मक परिणति तो जैसे छायावाद के कलात्मक उत्कर्ष का शीर्ष-विन्दु है। मनु और कामायनी की कथा के पृष्ठाधार पर मनुष्य के क्रियात्मक, बौद्धिक और भावात्मक विकास में सामंजस्य स्थापित करने का जो काव्यात्मक प्रयास किया गया है, वह तो अपूर्व है ही, आध्यात्मिक और व्यावहारिक तथ्यों के बीच संतुलन स्थापित करने की सर्वप्रथम चेष्टा भी इसी रचना में की गई है। इस प्रकार, आन्तर और बाह्य की संकीर्णता से सर्वथा परे होकर, भावना और बुद्धि के द्वन्द्व से ऊपर उठकर, एवं प्रवृत्ति और निवृत्ति की बँधी हुई लीक को तोड़कर, कामायनी ने मनु को जिस आनन्द-लोक के दर्शन कराये हैं, वह मानवता का चरम साध्य तो है ही, भौतिक और अभौतिक का सम्मिलन-तीर्थ भी है। द्रष्टा और स्रष्टा के दर्शन और सर्जन का स्वस्थ संतुलन ही 'कामायनी' की प्रौढ़ता की परिणति है।

किन्तु, यह तो एक रचना-विशेष का महत्त्व है; साधारणतः अधिकांश छायावादी रचनाएँ इतने ऊँचे धरातल का स्पर्श नहीं कर पातीं। इन अधिकांश रचनाओं में रागात्मकता की अपेक्षा बौद्धिकता की प्रधानता स्पष्टतः दीख पड़ती है। इसका परिणाम यह हुआ कि छायावादी रचनाओं का रस समष्टि-संवेद्य नहीं रह गया है। यह सत्य है कि काव्य व्यक्तिगत सृष्टि है, किन्तु साथ ही यह भी तो सत्य है कि कविता हमारे व्यष्टि-सीमित जीवन को समष्टि-व्यापक जीवन तक फैलाने के लिए ही व्यापक सत्य को अपनी परिधि में बाँधती है। इस दृष्टि से वैयक्तिकता की प्रधानता काव्य के रस-प्रसार को संकुचित कर देती है।

जीवन के प्रति छायावाद का दृष्टिकोण वैज्ञानिक नहीं, वरन् भावात्मक रहा है। अतः कर्म-कोलाहल के प्रति निरपेक्ष वृत्ति धारण करके वह निष्क्रिय बन गया। यही उसकी सबसे बड़ी दुर्बलता है; और उसकी मृत्यु का कारण भी। महादेवी वर्मा के शब्दों में--"इस युग का कवि हृदयवादी हो या बुद्धिवादी, स्वप्न-द्रष्टा हो या यथार्थ का चित्रकार, अध्यात्म से बँधा हो या भौतिकता का अनुगत, उसके निकट यही एक मार्ग शेष है कि वह अध्ययन में मिली जीवन की चित्रशाला से बाहर आकर, जड़ सिद्धान्तों का पाथेय छोड़कर अपनी सम्पूर्ण संवेदन-शक्ति के साथ जीवन में घुल-मिल जाय। उसकी केवल व्यक्तिगत सुविधा-असुविधा आज गौण है, उसकी केवल व्यक्तिगत हार-जीत आज मूल्य नहीं रखती; क्योंकि उसके सारे व्यष्टिगत सत्य की आज समष्टिगत परीक्षा है।"

छायावाद की शव-परीक्षा के उपरान्त हम इसी निष्कर्ष पर आ सके हैं कि "व्यष्टिगत सत्य की समष्टिगत परीक्षा" में वह अनुत्तीर्ण ही रहा है। किन्तु, क्या इसे हम भूल जायेंगे कि अब उसे एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व प्राप्त हो चुका है। काव्य-रचना के विविध क्षेत्रों में उसने लगभग दो दशाब्दियों तक दिशा-नियन्त्रण का कार्य किया है। इतना ही नहीं; भावी काव्य-साधना के लिए उसने मार्ग भी प्रशस्त किया है।

अन्त में इस परीक्षा के सम्बन्ध में मैं एक और निवेदन करना चाहता हूँ। इस विश्लेषण के प्रसंग में, मैंने यथा-संभव अपने को वर्गगत आलोचनात्मक धारणाओं से अभिभूत होने से बचाने की चेष्टा की है। छायावाद के वैज्ञानिक अध्ययन की रूप-रेखा का भी यह संकेत-मात्र है--उसके सूक्ष्म विश्लेषण का यहाँ उपयुक्त अवसर भी न था। मुझे भय है, संभवतः इस सांकेतिक परीक्षा से आपको संतोष नहीं हो; क्योंकि मैंने न तो प्रचलित आलोचना-परिपाटी के अनुसार आपको रचनाओं के उद्धरण का रसास्वादन कराया है और न आपका मनोरंजन ही किया है; इसके लिए मैं क्षमा-प्रार्थना के अतिरिक्त और क्या कहूँ?

--प्रो० नवलकिशोर गौड़

प्रगतिवाद की रूप-रेखा

वादों का विवाद हमें दर्शन-क्षेत्र में विशेष रूप से सुनाई पड़ता है—अद्वैतवाद, विवर्तवाद, विशिष्टाद्वैतवाद और न जाने इसी प्रकार के कितने वाद हुआ करते हैं। दर्शन और साहित्य का पारस्परिक सम्बन्ध होने के कारण इसकी आवाज इन दिनों साहित्य-क्षेत्र में भी काफी गूँजने लगी है। छायावाद, रहस्यवाद, हालावाद के विवादी स्वरों की झंकार गूँज ही रही थी कि एक और नया वाद 'ठन्' 'ठन्-ठन' करता हुआ खड़ा हो गया है। यह नवीन वाद हिन्दी में प्रगतिवाद के नाम से प्रचलित हो गया है।

ऐतिहासिक दृष्टि से सन् १९३५ ई० के नवंबर महीने में लंदन में इस मार्क्सवाद का जन्म हुआ। वहाँ विश्व के क्रांतिकारी लेखकों की एक बैठक हुई और विश्व के 'प्रगतिशील लेखक-संघ' की स्थापना हुई। इसी वर्ष इसका प्रथम अधिवेशन पेरिस में प्रसिद्ध उपन्यासकार ई० फारेस्टर के सभापतित्व में हुआ। भारतवर्ष में इसका सर्वप्रथम सम्मेलन प्रेमचंद के सभापतित्व में सन् १९३६ ई० में हुआ। इस प्रकार, इस प्रगतिशील शिशु को अभी मुश्किल से दस साल हुए हैं। यों विचार किया जाय तो प्रगतिवाद मार्क्सवाद का सहोदर भाई है। संसार में कार्ल मार्क्स ही सर्वप्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने समाज के कोढ़ पूँजीवाद के प्रति, बुद्धि को अपील करनेवाली वैज्ञानिक आवाज उठाई। इँगलैंड की औद्योगिक क्रांति ने सामंतशाही की चमक को क्षीण बना दिया। विज्ञान के आविष्कारों ने यातायात के साधनों को अत्यंत सुगम बना दिया। वाणिज्य-व्यवसाय का चतुर्दिक प्रसार हुआ। 'सोइ सयान जो परधन हारी' गोस्वामीजी की इस परिभाषा को अँगरेजों ने सार्थक बना दिया। पूँजीशाही गरीब जनसमुदाय को जोंक के समान चूसती रहती है ! खून सभी गायब, लेकिन घाव का नाम नहीं। सारी दुनिया की जनता आज पूँजीवाद की ही चक्की में पीसी जा रही

है। कार्ल मार्क्स ने पूंजीवाद के इस वीभत्स रूप की ओर जनसमुदाय का ध्यान आकर्षित किया। लेनिन जैसे निर्भीकहृदय माली ने सोवियट भूमि में लाल खून से मार्क्सवाद के पौधों को भली भाँति सींचा। रूस की लाल क्रांति की लपटें और देशों में भी फैलती जा रही हैं। पूंजीवाद का मल समाजवाद की अग्नि में ही भस्मसात् हो सकता है। प्रत्येक देश की राजनीति में समाजवाद अपना विशिष्ट स्थान बनाता जा रहा है। राजनीति क्षेत्र का समाजवाद साहित्यक्षेत्र में प्रगतिवाद के रूप में अवतरित हुआ है।

प्रगतिवाद के पदार्पण के पूर्व हिन्दी-साहित्य के मालती-कुंज में चंद्रिका-अँधेरी की मिश्रित झिलमिल छाया लिये छायावाद अपने सुख-सपने देख रहा था। जिस प्रकार द्विवेदीजी की इतिवृत्तात्मकता और स्थूलता की प्रतिक्रिया छायावाद के रूप में हुई, उसी प्रकार छायावाद की अत्यधिक कल्पनाशीलता, भावुकता और आदर्शवादिता की प्रतिक्रिया प्रगतिवाद के रूप में हुई। समाज में या समाज को प्रतिबिम्बित करनेवाले साहित्य में जब किसी भाव या विचार-विशेष की प्रधानता हो जाती है और वह प्रधानता अपनी सीमा का अतिक्रमण करना चाहती है तो उसकी रोकथाम के लिए दूसरी भाव-धारा का प्रस्फुटन होता है। छायायुग में भाव और भाषा दोनों के क्षेत्र में अतिशयता का समावेश हो रहा था। कल्पना के सुनील गगन में इतनी ऊँची उड़ानें भरी गईं कि भाव की भूरी धरती का ध्यान ही कवियों को नहीं रहा। पंत की 'छाया', 'नक्षत्र', 'बादल' आदि कविताओं में कल्पना की उन्मुक्त क्रीड़ा प्रदर्शित की गई है। मानव-हृदय में प्रेम एक अत्यन्त सुकुमार और सुकोमल भाव है, और इस भाव की प्रमुखता से भी किसी को इन्कार नहीं, परन्तु केवल इस प्रेम का, चाहे वह भौतिक हो या आध्यात्मिक, एकमात्र चित्रण करना कवियों का अभीष्ट नहीं होना चाहिए था। छायायुग में प्रेम, विरह, करुणा, उल्लास वेदना आदि भावों का विस्तार के साथ चित्रण हुआ है। छायायुग के अधिकांश गीतों में विहंग-बालिका का कंठ-स्वर सुनाई पड़ता है। समाज के प्राणियों का सामूहिक स्वर नहीं। छायायुग की कविता में कवि की वैयक्तिक

भावना विशेष बल पकड़ रही थी, स्वांतःसुखाय की ओर उनका विशेष ध्यान था। पहुँचे हुए कवि का 'स्वांतःसुखाय' भी 'सर्वान्तःसुखाय' के रूप में परिणत हो जाता है। चिरंतन साधना के बल से कवि अपने को इतना महान् और व्यापक बना लेता है कि उसके सुख-दुख में संसार का सुख-दुख समा जाता है। छायायुग का स्वांतःसुखाय सर्वान्तःसुखाय में परिणत न हो सका।

भाषा की दृष्टि से भी छायायुग के छंदों की गूँज हमारी पर्णकुटीर की अपेक्षा व्रजप्रांतर और गिरि-गह्वर में अधिक सुनाई पड़ती थी। द्विवेदी-युग की ठेठ शैली--कानों को फाड़नेवाली खड़ी बोली--का खड़ापन तो दूर हो गया लेकिन पग-पग पर नवनीत को कोमलता की अनुभूति भी अरुचिकर ही प्रतीत होती है। ऐसी पंक्तियों की कमी नहीं कि जिनमें से यदि 'है', 'था', 'रहा' या ऐसे ही क्रियापद हटा दिये जायँ तो वे शुद्ध संस्कृत श्लोकों में परिवर्तित हो जायँ। इसका कारण यह था कि हमारा काव्य लोक-पक्ष से दूर हटता जा रहा था, इसलिए उसमें लोकभाषा का, 'देसिल बअना सब जन मिट्ठा' का समावेश न हो सका। इस कथन की पुष्टि के लिए निराला और महादेवी की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं :—

अमरण भर वरण गान।
वन वन उपवन, उपवन, जागी छवि खुले प्राण।
वसन विमल तनु वल्कल, पृथु उर सुर पल्लव दल,
उज्ज्वल-दृग-कलि कल, पल निश्चल, कर रही ध्यान
अमरण भर वरण गान।
मधुप-निकर, कलरव भर, गीति मुखर, प्रिय-प्रिय स्वर,
स्मर शर, हर केशर झर, मधु पूरित गंध ज्ञान।
अमरण भर वरण गान।
(गीतिका से)

प्रिय गया है लौट रात।
सजल धवल अलस चरण, मूक मदिर मधुर करुण
चाँदनी है अश्रुस्नात....

युग-युग जल मूक विकल, पुलकित अब स्नेह तरल
दीपक है स्वप्नसात्।

(नीरजा से)

भाषा और भाव की इस गगनचारी प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया अवश्यं-भावी थी और प्रगतिवाद की काव्य-धारा में यह प्रतिक्रिया स्पष्टतया परिलक्षित हो रही है।

प्रगतिवाद का दर्शन

प्रत्येक साहित्य-सरिता के अन्तःप्रदेश में दर्शन की सूक्ष्म अन्तर्धारा प्रवाहित होती रहती है। यद्यपि साहित्य दर्शन का मुखापेक्षी नहीं; फिर भी वह अपने विकास की परमावस्था में स्वयं दर्शन हो जाता है और पहुँचे हुए दार्शनिक के हृदय में क्या कविता की गूंज नहीं सुनाई पड़ती? जिस साहित्य का दार्शनिक आधार जितना ही ठोस रहता है उसका भाव-मंदिर उतना ही स्थायी रहता है। हिन्दी-साहित्य के स्वर्णयुग का दार्शनिक आधार रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत और वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैत है। कबीर और जायसी भी 'सोऽहं' और 'अनहमहक' का सूत्र पकड़े हुए थे। प्रगतिशील साहित्य का दार्शनिक आधार मार्क्सवाद है। मार्क्स का दार्शनिक सिद्धांत Dialectical Materialism यानी द्वन्द्वात्मक प्रधानवाद (भौतिकवाद) के नाम से विख्यात है। मार्क्स के इस दर्शन का आधार हीगेल के दार्शनिक सिद्धान्त हैं। हीगेल ने सृष्टि के मूल में तीन अवस्थाओं को माना है—Thesis, Antithesis और Synthesis अर्थात् वाद, प्रतिवाद और युक्तवाद। प्रत्येक वाद में उसका विपरीत धर्म प्रतिवाद साथ ही लगा रहता है। वाद और प्रतिवाद के समन्वय से युक्तवाद की स्थापना होती है। भारतीय दर्शन के अनुसार यदि हम ब्रह्म को वाद मानें तो माया प्रतिवाद होगी और ब्रह्म और मायी के समन्वय से जगत् युक्तवाद होगा। हीगेल ने सृष्टि के मूल में सत् और चित् दोनों की सत्ता मानी है। मार्क्स,

ने चेतन को हटा दिया और सत्, जड़ जगत् या मूल-प्रकृति (Matter) को ही मूल तत्त्व माना है। यह 'मूल-प्रकृति' भारतीय दर्शन' में 'प्रधान' के नाम से पुकारी जाती है। मूल-प्रकृति जब साम्यावस्था में रहती है तो परिस्थिति की अनुकूलता या प्रतिकूलता के कारण इसमें क्षोभ उत्पन्न होता है, और इसके रूप में परिवर्त्तन होता है। जल अपनी साम्यावस्था में है। संयोजक शक्ति की अनुकूलता के कारण इसमें क्षोभ उत्पन्न होता है और यह बर्फ में परिवर्त्तित होने लगता है, उसी प्रकार वियोजक शक्ति के कारण वह भाप में परिणत हो जाता है। परिवर्त्तन की इस क्रिया को The Changing of quantity into quality कहते हैं। प्रत्येक वस्तु में उसके विपरीत विनाशक धर्म के वर्त्तमान रहने के कारण उसके अन्दर एक द्वन्द्व चलता रहता है। मार्क्स के मतानुसार जड़ प्रकृति (Matter) में ही क्षोभ उत्पन्न होता है और फिर उसमें स्वयं चेतना उत्पन्न हो जाती है। इसलिए मार्क्स का दर्शन द्वन्द्वात्मक प्रधानवाद कहा जाता है। भारतीय दर्शनों का उद्देश्य संसार से छुटकारा पाकर निर्वाण या मोक्ष की प्राप्ति है। पाश्चात्य दर्शन सत्य की खोज में परेशान रहता है। जीवन और जगत् की भिन्न-भिन्न व्याख्या करना, उनके आभ्यंतर सूत्र का आविष्कार करना अभी तक दर्शन शास्त्रों का उद्देश्य रहा है। लेकिन मार्क्सवाद के सामने 'दुनिया को जानना' नहीं बल्कि दुनिया को बदल डालने की समस्या है। मार्क्स-दर्शन विश्व का पुनर्निर्माण चाहता है। संसार के विकास में सबसे बड़ा रोड़ा पूँजीवाद है। संसार के आर्थिक वैषम्य को दूर कर साम्यवाद को रूपान्तरित करना इसका उद्देश्य है--

'हो यह समाज, चिथड़े-चिथड़े शोषण पर, जिसकी नींव गड़ी।'

(अंचल)

झोपड़ी में सो रहा कंकाल का लो हास जागा।
लो हृदय से हृदय को भी पीसता सा त्रास जागा।
लाश को गतिमय बनाता प्रलय का विश्वास जागा।
जर्जरों में वज्र को भर शक्ति नव विश्वास जागा।

प्राण लेकर मुट्ठियों में सृष्टि का संहार जागा।
विजय लेकर हार में नव सृष्टि का आकार जागा।
(उदयशंकर भट्ट)

ईश्वर और धर्म की भावना, जो मनुष्य के लिए अफीम है, यदि इस प्रगति में बाधक सिद्ध हुई तो उसका भी मूलोच्छेद करना है। ब्रह्म मात्र ढकोसला है --

मिल जाता है जब कभी लगा सम्मुख पथ पर,
भूखे भिखमंगों नंगों का सूना बजार।
तब मुझको लगता है कि तुम्हारा ब्रह्म स्वयं
है खोज रहा धरती पर मिट्टी का मजार। (नीरज)

उसके सामने केवल एक ही सत्य है--यह मिट्टी और पानी का संसार। और संसार से सर्वहारा वर्ग के शोषण को विदूरित कर वर्गहीन समाज का संस्थापन मार्क्सवाद का चरम उद्देश्य है।

प्रगतिवाद की विशेषताएँ

प्रगतिवाद के अनुसार समाज की तरह साहित्य का कोई शाश्वत, चिरंतन, एकरस स्वरूप नहीं है। "भाव या विचार-जगत् के पहले जड़-जगत् (Matter) वर्त्तमान था। निर्जीव पदार्थों में गतिशीलता उत्पन्न हुई और सजीव प्राणी उत्पन्न हुए। मानव क्रमिक विकास की परंपरा में इस रूप को प्राप्त कर सका है? सामाजिक आवश्यकताओं की सहूलियत के लिए शब्द या भाषा की रचना हुई और धीरे-धीरे ये ही शब्द भिन्न-भिन्न भावनाओं से परिपूर्ण हो गये। भाषा, भाव, भावाभिव्यक्ति की कला सभी परिवर्त्तनशील हैं। आधुनिक हिन्दी भाषा भी तो वैदिक, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को पार करती हुई यहाँ तक पहुँच सकी है। फिर इस रूप में भी परिवर्त्तन अवश्यंभावी है। जन्मभूमि के प्रति भाव में भी क्रमिक विकास हुआ है। ग्राम से प्रान्त, प्रान्त से देश और आज अखिल विश्व को ही अपनी मातृभूमि मानने में मानवता का कल्याण है। साहित्यसमाज का प्रतिबिम्ब है--

समाज की भावनाओं का, क्रिया-प्रतिक्रिया का चित्रण इसमें पाया जाता है। गरीब समाज के लिए सत्य, सौन्दर्य, प्रेम, आनन्द का नये सिरे से मूल्यांकन होना चाहिए। "नरों में नराधिप मैं हूँ" श्रीकृष्ण के इस कथन की सत्यता की जाँच होनी चाहिए। विज्ञान के कारण स्वर्ग, नरक, देवता आदि की सत्ता के प्रति हमारे विचार बदल रहे हैं। एक ओर किसानों, मजदूरों को चूसना और दूसरी ओर धर्मशाला बनवाने में, सदावर्त्त देने में अब पुण्य नहीं माना जाना चाहिए।

सभ्य-शिष्ट औ' संस्कृत लगते, मन को केवल कुत्सित।
धर्मनीति औ' सदाचार का मूल्यांकन है जनहित।

प्रगतिवाद की दृष्टि में काव्य नन्दन-कानन का कल्पित कल्पतरु नहीं है, बल्कि वह हमारी ही दुनिया का आम्रवृक्ष है जो शिशिर और वसंत के स्पर्श से विषादित और आह्लादित हुआ करता है। साहित्य अमरावती में प्रवाहित होनेवाली कोई पीयूष-धारा नहीं, बल्कि वह हमारे ही हिमालय से कल-कल स्वर करती हुई, हमारी ही धरती पर बहनेवाली मंदाकिनी की शीतल-उष्ण धारा है, जिसमें हमारे हृदय की आशाएँ-अभिलाषाएँ तरंगित होती रहती हैं। साहित्य स्वर्ग की सुर-सभा में निनादित होनेवाली उर्वशी के तरल नूपुरों की मादक झंकार नहीं है, बल्कि वह हमारे ही प्राणों के पुलकित-वन में बजनेवाली व्याकुल विपंची है, जो सुख-दुख के तारों से झंकृत हुआ करती है। साहित्य इसी ठोस धरती की चीज है। साहित्य की यथार्थवादी, व्यावहारिक व्याख्या होनी चाहिए, आदर्शवादी, अलौकिक परिभाषा नहीं।

साहित्य का आदर्शवादी दृष्टिकोण, धरती के क्रन्दन को अनसुनी करके विहग-बालिका के साथ गीत गाता हुआ गगनचारी हो जाता है। दिन के संघर्ष से जी चुराकर रात में विचरनेवाले कवि 'निशिचर' नहीं तो क्या हैं? हमें ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो हमें अपने वास्तविक रूप से, सच्ची परिस्थिति से, परिचित कराये। अपनी दुर्दशा, गरीबी, दुःख यानी समाज के वीभत्स रूप को उघारकर हमारे सामने रखे।

दुर्गंध, सड़ापन, बदबू जो कुछ हो, समाज की आँखों के सामने स्पष्ट होना चाहिए। कोटि-कोटि नर-नारी जहाँ कीड़े की तरह जिंदगी बिता रहे हैं, वहाँ स्वर्ग के गान गाना अपने सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति उदासीन रहना है। जब हमारा घर-बाहर सभी जल रहा हो, उस अवसर पर नीरो के समान बीन बजाना हमारी पशुता का ही द्योतक है। प्रगतिवाद सामाजिक कुरूपता को बुर्के से ढँकने के पक्ष में नहीं है—समाज का जैसा भी रूप क्यों न हो, उसे खोलकर दिखाना साहित्यिकों का कर्त्तव्य है। भगवतीचरण वर्मा की 'भैंसा गाड़ी' में समाज के पददलित, तिरस्कृत प्राणी का कैसा चित्र है :—

> "चाँदी के टुकड़ों को लेने, प्रतिदिन पिसकर भूखों मरकर,
> भैंसा गाड़ी पर लदा हुआ जा रहा चला मानव जर्जर।"

इसी प्रकार एक भिखमंगे का चित्र देखिए—

> चीथड़ों में ले दुर्गन्ध कड़ी
> रोगों से उसकी देह सड़ी
> उसके मुख से है छूट रही
> कलुषित वचनों की एक झड़ी

इस प्रकार यथार्थवाद हमारी आँखों की खुमारी दूर कर सोचने के लिए बाध्य करता है जिससे समाज का कायाकल्प हो सकता है। आदर्शवाद हमारी आँखें आकाश की ओर लगा देता है जिससे खाई में गिरने का डर बराबर बना रहता है। स्वर्ग की ओर निहारनेवाले कवियों से पंत का यह कथन है—

> ताक रहे हो गगन!
> देखो भू को, जीव-प्रसू को
> हरित भरित पल्लवित मर्मरित
> कुंजित गुंजित कुसुमित भू को।

प्रगतिवाद अपने अतीत की व्याख्या दूसरे ही प्रकार से करना चाहता है। हमारा वर्त्तमान तो अतीत का ही प्रतिफलन है। हमारे वर्त्तमान जीवन में अतीत की नीलिमा, भविष्य की लालिमा की झाँकी मिलती रहती है। इसलिए अतीत के एकांत निष्कासन से वर्त्तमान की व्याख्या

नहीं हो सकती। भविष्य का मार्ग प्रशस्त करने के लिए हमें गत जीवन के ऐतिहासिक तथ्यों का सिंहावलोकन करना ही पड़ेगा। लेकिन अपने पूर्व गौरव, प्राचीन वैभव और वीरता पर गर्व करना अपना वक्त बर्बाद करना है। हमारा इतिहास सामंतशाही और पूँजीवादी सभ्यता का इतिहास है। एक सम्राट् ही अपने देश की सारी प्रजा पर निष्कंटक राज्य करता था। राजा के निर्वाचन में प्रजा का कोई हाथ नहीं। सारा इतिहास ही अर्थलोलुपता और साम्राज्य-लिप्सा की कहानी से भरा पड़ा है। अब नवीन इतिहास की रचना हमें करनी है। प्रगतिवादी संपूर्ण इतिहास की व्याख्या आर्थिक दृष्टिकोण से हमारे सामने प्रस्तुत करता है। धर्म, सभ्यता, संस्कृति, साहित्य के मूल में इसी अर्थ का बड़ा भारी हाथ है। प्रगतिवाद प्रत्येक घटना के मूल में भौतिक-संघर्ष के पाने की चेष्टा करता है।

(iv) प्रगतिवाद का सुधारवाद में, हृदय-परिवर्त्तन में विश्वास नहीं। वह क्रांति का पुजारी है। समाज के आमूल परिवर्त्तन के लिए क्रांति की आवश्यकता है। सुधारवाद की कच्छप-चालवाली गाड़ी से हमारा समाज आगे नहीं बढ़ सकता। सुधारक कुछ काल के लिए रोग को, घाव के मुँह को, बंद कर सकता है, लेकिन इससे भीतर ही भीतर सड़न पैदा होती है और सारा शरीर विषाक्त हो जाता है। क्रांति वह तेज नश्तर है, जो आपरेशन द्वारा समाज के शरीर में नया प्राण फूंकना चाहती है। रूढ़ियाँ, अंधविश्वास, पुरानी परंपराएँ सभी को भस्मसात् करना प्रगतिवादी साहित्य का उद्देश्य है। इसीलिए आधुनिक रचनाओं में महाप्रलय, विनाश, विस्फोट, तांडव, अग्निकांड की लपटें विशेष दिखाई दे रही हैं। गांधीवाद हृदय-परिवर्त्तन, सुधारवाद पर विश्वास करता है, इसलिए प्रगतिवाद का गांधीवाद से विरोध है। पंत 'युगांत' में जगत् के जीर्ण पत्रों को द्रुत झर जाने के लिए कहता है और क्रांति के अग्रदूत कोकिल के पावक-कण की प्रतीक्षा करता है:—

गा कोकिल, बरसा पावक कण।
नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन।

पावक पग धर आवे नूतन।
हो पल्लवित नवल मानवपन।

अँगरेजी की रोमांटिक कविता की तरह छायावादी कविता में कवि के व्यक्तिगत सुख-दुख, आशा-निराशा, विषाद-उल्लास का चित्रण है। छायायुग में जिस वेदना का प्रकांड प्रदर्शन होता रहा, उसमें समाज के आँसू नहीं थे, समाज की आह नहीं थी। पंत की 'भावी पत्नी' के दृगों में सायं-प्रात भले ही झूल रहे हों, उसकी करुण भौंहों में भले ही आकाश समा गया हो, लेकिन जैनेन्द्र की 'पत्नी' कहानी-सी उसमें करुणा कहाँ है ! सोमरस या आसव से कविजी की प्यास भले ही बुझ सकती है; किंतु समाज के शिशु को तो गोरस की आवश्यकता है। कवि अपनी वैयक्तिक भावना को समाज के राग-विराग के साथ तदाकार कर दे—इसी में साहित्य का कल्याण है। समाज से भिन्न व्यक्ति की कोई खास सत्ता नहीं रह जाती। समाज-शरीर का व्यक्ति एक अंगमात्र है। इसलिए। संपूर्ण समाज के संरक्षण में अहर्निश चिंतित होना कवि का कर्तव्य है। सामाजिक संघर्ष में हँसते हुए बलि हो जाना कवियों का कर्तव्य है। अपने नैराश्य से समाज में अवसाद का प्रसार करना कवि को उचित नहीं। पत्नी की मृत्यु पर निशा को निमंत्रण दे आना ठीक नहीं। समाज के अंधकार को दूर करने के लिए कवि दीपक के समान जलता रहे—यही उसकी सार्थकता है। इस प्रकार प्रगतिवाद को जीवन के समष्टिवाद में विश्वास है, व्यष्टिवाद में नहीं।

(V)

(VI)

प्रगतिवाद जब काव्यगत भावनाओं का नये सिरे से मूल्यांकन करना चाहता है, सत्य, सौन्दर्य और प्रेम के नये मापदंड प्रस्तुत करना चाहता है, आदर्श राज की नई रूप-रेखा खींचना चाहता है, तो वह इन नूतन भावनाओं को अभिव्यंजित करने के लिए नूतन भाषा-शैली की भी अपेक्षा करता है। भाव और भाषा में अभिन्न संबंध है। भाव के अनुकूल ही भाषा गंभीर, हल्की, व्यंग्यात्मक, विनोदशील और ओजस्विनी हुआ करती है। स्पष्ट, यथार्थ एवं वास्तविक विचारों की अभिव्यक्ति के

लिए भाषा भी सरल और व्यावहारिक होनी चाहिए। उसमें हृदय-ग्राहिता, मर्मस्पर्शिता रहनी चाहिए। वह विचारोत्तेजक हो जो औरों को भी उसी प्रकार सोचने के लिए नहीं, बल्कि करने के लिए भी बाध्य करे। तुलसी की चौपाइयों में भक्ति की शीतल मंदाकिनी बहती रहती है। भूषण के कवित्त में वह ओज है जो तलवार को म्यान से खींच लेता है, हाथ आप ही आप मूँछों पर ताव देने लगते हैं। छायायुग की भाषा में भी वह शक्ति है जो हमारे सूक्ष्म-सुकुमार एवं रंगीन भावों को कोमलता के साथ अभिव्यक्त करती है। प्रगतिवाद के लिए तितली के समान रंगीन और कोमल भाषा-शैली की आवश्यकता नहीं। हमारी गरीबी और परवशता का चित्रण खरी-खोटी भाषा में ही हो। पंत ने 'परिवर्त्तन' में समाज की दयनीय दशा का यह चित्र खींचा है :--

आज शैशव का कोमल गात
जरा का पीला पात......
शिशर-सा झर नयनों का नीर
झुलस देता गालों के फूल
प्रणय का चुंबन छोड़ अधीर
अधर जाता अधरों को भूल।

लेकिन शैली की अतिशय सुकुमारता के कारण हमारे हृदय में तदनुकूल प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं होती। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में भाषा सीधी और तगड़ी दीख पड़ती है। 'ग्राम्या' में एक बूढ़े का चित्र रुखड़ी-शैली में खींचा गया है :—

खड़ा द्वार पर लाठी टेके वह जीवन का बूढ़ा पंजर
चिमटी उसकी सिकुड़ी चमड़ी, हिलते हड्डी के ढाँचे पर,
...उसका लंबा डील-डौल है हट्टी कट्टी काठी चौड़ी
इस खँडहर में बिजली सी, उन्मत्त जवानी दौड़ी होगी।

यही है भाव के अनुकूल भाषा-शैली, शब्द-छटा और पद-विन्यास की योजना। निराला ने भी ठेठ भाषा की अकृत्रिम शैली में एक भिक्षुक

का मार्मिक चित्र खींचा है—"वह आता। दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।"

सामाजिक बंधनों को छिन्न-भिन्न करने के लिए छंद के बंधन भी खुल जाने चाहिए। यों तो छायायुग में ही पिंगल का पराक्रम बहुत घट गया था, परन्तु इस युग में तो छंद अत्यंत स्वच्छंद हो गये।

खुल गए छंद के बंध, प्रास के रजत पाश।
अब गीत मुक्त औ' युगवाणी बहती अयास।

(VI) भाषा-शैली और छंदों में तो परिवर्त्तन चाहिए ही। साथ ही नवीन प्रतीकों की स्थापना और प्रचलन होना चाहिए। जिस प्रकार एक चित्र बहुतेरी भावनाओं को अपने अंदर समेटे रहता है, उसी प्रकार काव्य में प्रतीक भी एकाधिक भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता है। 'झीनी चदरिया', 'चरखवा', 'नैहर', 'हंसा', 'पिंजड़े' आदि प्रतीकों द्वारा कबीर ने गंभीर से गंभीर भावों का सरलता और मार्मिकता के साथ वर्णन किया है। कमल, दीपक, चन्द्रमा, भ्रमर, क्रमशः सौन्दर्य, साधना, उल्लास, प्रेम और मादकता के भावों को व्यक्त करते हैं। महादेवी ने 'दीपशिखा' में अपने जीवन की संपूर्ण साधना को एकाकार कर दिया है। प्रगतिवाद का, क्रांति के अग्रदूत साहित्य का इन प्रेमात्मक प्रतीकों से काम नहीं चल सकता। आजकल प्रगतिशील साहित्य में कुछ नवीन प्रतीकों के दर्शन हो रहे हैं। जैसे :—

मसाल—क्रांति की ज्योति-शिखा।
प्रलय—पुरानी रूढ़ियों के महानाश की कल्पना।
तांडव—क्रांति का खुलकर खेलना।
रक्त—त्याग, बलिदान, प्राण।
जोंक—शोषक महाजन।

संक्षेपतः प्रगतिवाद के तत्त्व ये हैं :—

(१) प्रगतिवादी उस परोक्ष सत्ता में अविश्वास व्यक्त करता है—जो सांसारिक क्षुधा मिटाती है।

(२) प्रगतिवादी प्रत्येक धनिक को शोषक समझता है जब कि ऐसे व्यक्ति भी पाये जाते हैं जो अपने धन का सदुपयोग राष्ट्र के कल्याणार्थ करते हैं।

(३) प्रगतिवाद प्रधानवाद (Materialism) से संबंधित होने के कारण बहिर्मुखी प्रवृत्तियों को ही उत्तेजित करता है।

(४) प्रगतिवादी श्रद्धा का तिरस्कार करता है, नास्तिकता का पुजारी है।

(५) प्रगतिवादी मार्क्सवाद का समर्थक है, किन्तु मार्क्सवाद को कार्यरूप में परिणत करने की युक्ति परापहरण के अतिरिक्त उसके पास दूसरी नहीं है।

(६) प्रगतिवाद में स्वानुभूति का प्रायः नितान्त अभाव है। वर्ण्य-विषय अनुमान के आधार पर चलने के कारण उसमें अनुकरण-प्रियता ही अधिक है।

(७) प्रगतिवाद वर्ग-विरोध का विधायक है।

(८) प्रगतिवाद समाज के यथार्थ स्वरूप का चित्रण करके जन-जन की सहानुभूति जगाने की चेष्टा करता है।

प्रगतिवाद पर कुछ आक्षेप

प्रगतिवाद की नई किरण से बहुतों की आँखें चौंधिया गई हैं। इसके प्रखर प्रकाश में पोषकता की अपेक्षा दाहकता का अत्यधिक गुण देखकर इसकी काफी टीका-टिप्पणी हुई है।

(१) प्रगतिवाद का दार्शनिक आधार ही चैतन्य से शून्य जड़तावाद है। इसलिए इस साहित्य में धर्म, ईश्वर, आस्तिकता के प्रति कोई श्रद्धा नहीं। भारतीय संस्कृति की विशिष्टताओं से इसका कोई सरोकार नहीं। यह साहित्य हमारी भारतीय संस्कृति, भारतीय गौरव को समझाने में साधक क्या बाधक ही सिद्ध हो रहा है। [illegible]

भौतिकता से ही संबंध है। मानव-जीवन में आध्यात्मिक, स्वर्गीय स्नेह

नाम की कोई भावना नहीं। इसकी दृष्टि में रवीन्द्र का रहस्यवाद, गांधी की रामधुन और हृदय की आवाज, महादेवी की प्रेमसाधना सभी निरर्थक एवं हास्यास्पद हैं। इसलिए अध्यात्म, संस्कृति और चेतनता से शून्य यह विदेशी प्रगतिवाद हमारे साहित्य का अभिन्न अंग नहीं बन सकता।

(२) साहित्य की चिरंतनता पर इसका विश्वास नहीं। सत्य, सौन्दर्य और आनन्द की अनुभूति हमारी ज्यों की त्यों है—पर प्रगतिवाद को उस पर विश्वास नहीं। आज भी वाल्मीकि की रामायण और कालिदास की शकुन्तला हमें उसी प्रकार आनन्दामृत का पान करा रही है, परन्तु प्रगतिवाद की दृष्टि में दुष्यंत का प्रेम सामन्तशाही और विलासिता से परिपूर्ण था, इसलिए इस तरह के काव्य निन्द्य हैं।

(३) प्रगतिवाद समाज के यथार्थ और वास्तविक चित्रण पर जोर देता है। वह प्रणाली की गन्दगी की ओर हमारी नजर मोड़ना चाहता है, तितली और तारे की रंगीन दुनिया से वह हमें हटाना चाहता है। यथार्थवाद पैर है और आदर्शवाद आँख। आँख का अन्धा आदमी चल तो सकता है, लेकिन अन्धे कुएँ में गिरने का उसे पूरा डर है। मनोविज्ञान के नाम पर प्रगतिवाद मानव के देवत्व को ठुकराकर उसके पशुत्व को, छिपी कामवासना को उभारता है। 'सेक्स' के अश्लील चित्रण का मानो इसे लाइसेंस मिल गया है। भाई-बहन में भी वासनात्मक प्रेम की झाँकी दिखाने में इसे कोई संकोच नहीं। 'शेखर' उपन्यास में शेखर अपने माता-पिता के आलिंगन-चुंबन का भी खुलकर वर्णन करता है, अपनी बहन सरस्वती को प्रेयसी के रूप में देखता है। मार्क्स और फ्रायड दोनों के सिद्धान्तों का नग्न, साहित्यिक रूप प्रगतिवाद है। यह साहित्य समाज के सम्मुख कोई आदर्श प्रस्तुत नहीं कर सकता।

(४) प्रगतिवादी साहित्य एकांगी है। समाज में पंडित-मूर्ख, सती-कुलटा, राजा-रंक, मालिक-मजदूर, सभी हैं; लेकिन यह केवल मूर्ख, कुलटा, रंक और मजदूरों के ही गीत गाकर वाह-वाही लूटता है। मजदूरों में अपने प्रभुओं के प्रति घृणा भाव उत्पन्न करना, खून-खराबी के

लिए उन्हें प्रस्तुत करना—यही इसका कर्त्तव्य है। शांति की अपेक्षा संघर्ष में इसका विश्वास है। इसके मूल में प्रचार की ऊपरी चहल-पहल है, सृजन की भीतरी साधना नहीं।

(५) अधिकांश प्रगतिशील लेखकों में शोषित वर्ग के प्रति मौखिक सहानुभूति ही रहती है। गरीबी का बिना अनुभव किये ही ये 'बुर्जुआ' लेखक गरीबी का चित्रण कर बैठते हैं। इसलिए उनकी रचनाएँ कृत्रिम और भड़कदार होती हैं।

इन आक्षेपों के अलग-अलग उत्तर देने की आवश्यकता नहीं। प्रचार की दृष्टि से कट्टर प्रगतिवादी रचनाओं में ये दोष साधारणतः पाये भी जाते हैं। इन आक्षेपों के उत्तर में संक्षेप में यहाँ यही कहा जा सकता है कि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' के प्रति किसी भी सहृदय को आपत्ति या विरक्ति नहीं होनी चाहिए। हमारे यहाँ वीभत्स भी, जिसमें मज्जा, चर्बी, हाड़-मांस आदि का वर्णन किया जाता है, नव रस में परिगणित किया जाता है। वीभत्स रस में भी और रसों की तरह समान रूप से आनंदानुभूति मानी गई है। इस प्रकार यदि प्रगतिवाद में नग्न यथार्थवाद का रसात्मक वर्णन हो तो वह काव्य की श्रेणी में ही आयगा। क्षुद्र से क्षुद्र और महान् से महान् वस्तु काव्य का विषय हो सकती है। जिस कवि या लेखक के हृदय में अपने विषय के प्रति सच्ची अनुभूति है वह हथौड़े या हिमालय पर, ताड़ीखाना या अलकापुरी पर, प्रणाली या आकाशगंगा पर समान सफलता के साथ काव्य-सृजन कर सकता है। कवि की सफल लेखनी श्मशान और नंदन-कानन का वर्णन कर समान रूप से रसास्वादन करा सकती है और सच पूछिए तो हमारी जिन्दगी के लिए धरती और आसमान दोनों चाहिए। पैर के लिए धरती और माथे के लिए आसमान। गीता के समदर्शी पंडित की तरह कवि, ब्राह्मण और चाण्डाल में, गौ और कुत्ते में, कुंजर और कीट में एक ही धड़कते हुए प्रेमपूर्ण हृदय को पाकर आनंद-विभोर हो जाता है। संसार के सभी प्राणी उसकी श्रद्धा और सहानुभूति की अपेक्षा कर रहे हैं। तो आलोचकों का आक्षेप प्रगतिवाद

के सच्चे काव्य के प्रति नहीं, बल्कि उसके साम्प्रदायिक रूप के प्रति है। कोई भी साहित्य साम्प्रदायिक रंग में रंगकर किसी दल-विशेष के गले की आवाज बनकर कुछ काल के लि उसका प्रचार (propaganda) तो अवश्य कर सकता है, परन्तु वह सहृदय के गले का हार नहीं हो सकता। युग-युग क्या, वह दो दिन भी नहीं जी सकेगा। काव्य का आधार दर्शन भले ही हो, परंतु वह किसी खास दर्शन का प्रचार कर अपना उपहास नहीं करता है। सूर और तुलसी ने, मीरा और महादेवी ने किसी 'इज्म' का प्रचार नहीं किया है, बल्कि अपने हृदय की वेदना और उल्लास को अपने इष्टदेव के सम्मुख सच्चाई के साथ निवेदित किया है। सच्चाई काव्य का कारण है।

यमुना-धार पर रोती हुई विधवा दिल्ली के दुख-दर्द की अवहेलना कर मास्को के गीत गानेवाले कवि 'गानेवाले' हो सकते हैं, कवि नहीं। मजहब के नाम पर पश्चिम के मुल्कों में तबाही और बरबादी हुई। इसलिए देवता की भूमि भारतवर्ष में भी, धर्म के अभ्युत्थान के लिए शरीर धारण करनेवाले भगवान् की हँसी उडानेवाले कवि, काँके में भर्त्ती न किये जायँ तो आश्चर्य ही है। जमींदारों और पूँजीपतियों के खून से मजदूरों की फुलवारी सींचना वीभत्स कर्म है। जमींदार और किसान, मिल-मालिक और मजदूर, दोनों परिस्थितियों के शिकार हैं। सच्चा प्रगतिवादी लेखक प्रेमचंद की तरह 'गोदान' में दोनों का कल्याण चाहता है। राय-साहब और होरी दोनों का उद्धार होना चाहिए। मार्क्स और लेनिन के सिद्धान्तों को तोते की तरह रटकर काव्य में उन्हें दुहराते रहना कोई बहादुरी नहीं बल्कि बेवकूफी है। भारत की अपनी सामाजिक समस्या है। और इसे भारतीय ढंग से सुलझाना है। 'कामरेड' से नाता जोड़ने के पहले हमें अपने 'भाई' से गले मिलना है। अपने उजड़े चमन को छोड़कर औरों के महल में चहकना फूहड़पन है। बिना जाने-बूझे ही गांधीवाद की शव-परीक्षा करना, राम-राज्य की खिल्ली उड़ाना, अपने अनसयाने-पन का परिचय देना है। इसलिए मार्क्सवाद का दीक्षित शिष्य कम्युनिस्ट

का कंठस्वर, यह साम्प्रदायिक प्रगतिवाद अंधानुकरण की चीज नहीं है। साहित्य में पददलित या सर्वहारा वर्ग के जीवन का चित्रण हो, समाज में समान रूप से सुख-शान्ति का संचार हो, प्रत्येक बिरवे को विकसित होने का मौका मिले, "वसुधैव कुटुम्बकम्" जीवन का मूल मंत्र है—प्रगतिवाद की ये बातें किसे मान्य नहीं होंगी? और देखा जाय तो प्रगतिवाद की इन विशेषताओं से हमारा प्राचीन हिन्दी-साहित्य अछूता नहीं बचा है।

वीरगाथाकाल की कविता राजा के मनोरंजन के साथ प्रजा में भी वीरता का संचार करती थी। वीर-काव्य में नूपुर और तलवार की मीलित झंकार सुनाई पड़ती है। भूषण की कविता ने विधर्मी और ज़ुल्मी शासन के प्रति खुलकर बगावत की है। कबीर ने धार्मिक भेद-भाव, अंध-विश्वास, छुआछूत के विरुद्ध आग उगली है। पंडितों और मुल्लाओं की 'सधुक्कड़ी भाषा' में ही सही, खूब खबर ली है।

अरे इन दोउन राह न पाई।
हिन्दू अपनी करे बड़ाई, गागर छुवन न देई।
वेश्या के पायन तर सोवै, यह देखो हिंदुआई।
मुसलमान के पीर औलिया, मुरगी मुरगा खाई।
खाला केरी बेटी ब्याहैं, घरहिं में करैं सगाई।

इससे और भी कबीर को आगे बढ़ना पड़ता है:—

जो तू बाभन बाभिनि जाये—और राहि तुम क्यों नहिं आये।
तो तू तुरुक तुरुकिनी जाया,—पेटै काहे न सुनति कराया।

वेश्या के शरीर पर खासा मलमल देखकर और सतवन्ती नारी को गज भर कपड़े के लिए भी आतुर देखकर कबीर की आँखें भर आई हैं। समाज के आर्थिक और धार्मिक वैषम्य को समाज की ही व्यंग्यपूर्ण भाषा में निर्भीकता के साथ कह देनेवाला कवि एक कबीर ही है। इतिहासकारों और दरबारियों ने सम्राट् अकबर के राज्य-शासन की प्रशंसा भले ही की हो, लेकिन महाकवि तुलसीदास की दृष्टि में वह विशाल साम्राज्य

दुख-दारिद्रच और बेकारी से परिपूर्ण है। ब्रिटिश-राज्य की-सी दशा अकबर के समय में भी वर्त्तमान थी :--

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
बनिक को बनिज न, चाकर को चाकरी
जीविका-विहीन लोग, सीधमान सोचवश,
कहैं, एक एकन सों 'कहाँ जाइ' "का करी"।

दीनता-दशानन ने दुनिया को दबा रखा है अपने जबड़े के नीचे। तुलसीदासजी ने दरिद्रता का, पेट की ज्वाला का स्वयं अनुभव किया था। इसीलिए सैकड़ों वर्ष बाद भी इनकी भाषा में वही कसक और पीड़ा है।

हमारे गौरांग महाप्रभु के पदार्पण से भारतेन्दु-युग में दरिद्रता, बेकारी, अकाल, महँगी, टैक्स बेतरह बढ़ गई थी। यूनिवर्सिटी के ग्रैजुएटों की बेकारी की कल्पना तो वह पहले ही कर चुके थे---ब्रिटिश-राज के देवता पुलिसजी से वह भली भाँति परिचित हो चुके थे।

रूप दिखावत सर्वस लूटै, फंदे में जो पड़ै न छूटे।
कपट-कटारी हिय में हूलिस, कहु सखि साजन नहीं सखि पूलिस ।।

नीलदेवी, भारत-दुर्दशा आदि रचनाओं में भारतेन्दु ने भारत की दशा का अच्छी तरह चित्र खींच दिया है। भारतेन्दु के समकालीन पं० प्रतापनारायण मिश्र की 'तृप्यंताम्' कविता में भारत की गरीबी, महामारी और मरी का बड़ा ही करुण चित्र उतरा है।

महँगी और टिकस के मारे, हमहिं छुधा पीड़ित तन छाम।
साग पात लौं मिले न जिय भरी, लेवो वृथा दूध को नाम।
तुमहि कहा प्यावै जब हमरो कटत रहत गोवंश तमाम।
केवल सुमुखि अतल उपमा लहि, नाग देवता तृप्यंताम्।
लैसन, इनकम, चुंगी, चंदा, पुलिस अदालत बरसा घाम।
सबके हाथन असन बसन; जीवन संसयमय रहत मुदाम।
जो इन हूँ तै प्राण बचै, तो गोली बोलति आप धड़ाम।
मृत्यु देवता नमस्कार तुम, सब प्रकार बस तृप्यंताम्।

'प्रगतिवाद' की मुहर के बिना ही ये कविताएँ कितनी प्रगतिशील हैं।

इस प्रकार संपूर्ण प्रगतिशील साहित्य के तीन रूप हमारे सामने दीख पड़ते हैं :—

(१) मार्क्सवाद पर आधारित साम्प्रदायिक रूप।

(२) राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं को चित्रित करनेवाला सामयिक रूप एवं

(३) विश्व के सभी साहित्य में सामाजिक वैषम्य के प्रति विद्रोह का स्वर उठानेवाला सनातन रूप।

खुशी की बात है कि दिनानुदिन प्रगतिवाद का कट्टर साम्प्रदायिक स्वर मंद पड़ रहा है और इसका विशुद्ध भारतीय रूप निखर रहा है। प्रगतिवाद के हिमायती समझौते के लिए भारतीय काव्य-परंपरा से हाथ मिला रहे हैं। प्रगतिशील साहित्य के लब्धप्रतिष्ठ समालोचकों की दृष्टि में कबीर और तुलसी के काव्य 'बहता पानी निर्मला' हैं। इसकी प्रमुख और प्रगतिशील धारा में समाज का मैल धुल जाता है। गोस्वामीजी ने भक्ति के प्रताप से तुच्छ, नीच पुरुष को भी महानता का अनुभव करा दिया। एक भक्त के सामने सम्राट् अकबर की सत्ता भी नगण्य है। रीतिकाल के कटघरे से कविता-कामिनी को मुक्त करनेवाले, साहित्य में स्वतंत्रता, उन्मुक्त प्रकृति-सौन्दर्य और प्रेम का प्रचार करनेवाले, हिन्दी के आधुनिक छायावादी कवि भी अब श्रद्धा की निगाह से देखे जा रहे हैं। संस्कृति का नाम सुनते ही, लाल कपड़े देखकर साँड़ की तरह चौंकनेवाले विचित्र जीवों का अब अभाव हो रहा है। प्रगतिवाद में सुरसता और कलात्मकता का संचार हो रहा है। भाषा का अहंकार, शब्दों का आडंबर प्रलय और अग्निकांड की आवश्यक माँगें धीरे-धीरे टलती जा रही हैं—

प्रगति हमारे जीवन की हो। प्रगति हमारे साहित्य की हो। हमारी सर्वतोमुखी प्रगति हो। कोल्हू के बैल की तरह एक ही वृत्त में घूमते रहना हमारी प्रगति नहीं हो सकती। हिमालय के समान धरती में चरण

रखते हुए ऊपर उठते जाना, उज्ज्वलतर रूप धारण करते जाना, हमारी सच्ची प्रगति है।

प्रगतिवादी काव्य का साम्प्रदायिक रूप, प्रचारक-रूप तो अपनी अंतिम घड़ियाँ गिन रहा है, लेकिन इसकी जिन कविताओं में मानव-हृदय की वेदना, जलन, आह और उल्लास का चित्रण ह, वे कविताएँ अमर रहेंगी। प्रगतिवाद की अधिकांश रचनाएँ इस युग की माँग हैं; समय में परिवर्त्तन होते ही, समाज में सुख-शान्ति का संचार होते ही, ये सामयिक रचनाएँ अपना महत्त्व खो देंगी—तब इनका ऐतिहासिक महत्त्व रहेगा।

प्रगतिवाद का भविष्य भविष्य के गर्भ में छिपा है। आधुनिक साहित्यकारों से प्रगतिवाद की यह अपील कितनी मार्मिक है।

यह, देख पेट की आग देख।
इन डसे मुखों की झाग देख।
अपनी माँ के रज से पैदा,
अपनी बेशर्मी से नंगे,
तू ये डाँगर दो टाँग देख।
फिर अपनी चिकनी माँग देख।

ओ कलम-कुशल! ओ व्यंग्य प्राण!
जिसने देखा हिन्दोस्तान,
हरियाली में देखे हैं
जिसने भूखे-सूखे किसान,
वह गावे कैसे प्रणय गान?
मारो ठोकर निःश्वासों में,
अब आग लगा दो बाँसों में,
बेशर्म बाँसुरी बहुत बज चुकी,
बहुत बज चुकी,
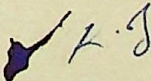
भारत की आरत पुकारती लाशों में,
विगलित कल्पना विलासों में।
ओ धनी कलम के आँख खोल,
अब वर्तमान बन, सत्य बोल।

इस दुनिया की भाषा में कुछ
घर की कह,
समझें घरवाले।
उनके जीवन की गाँठ खोल!
उनकी सूखी रोटियाँ तोल।
मत बन तू परदेशी घर में,
लेखनी-दधीची ले कर में,

लिख चुका बहुत तू काम-शास्त्र,
काले, अब काल-शास्त्र कुछ लिख,
हाँ जिला, और तू भी जी ले।
प्यारे, लेखनी सफल कर ले।

—प्रो० शिवबालक राय